विहार विश्वविद्यालय ने हिन्दी को पहले से ही अनिवार्य रचनापत्र और वैकल्पिक मुख्य विपय के रूप में स्थान देकर उसके सम्यक अध्ययन का पथ प्रशस्त कर रखा है। यह सुविधा केवल हिन्दी को ही नही, राज्य के निवासियो की अन्य मातृभाषाओ को भी—मैथिली, उर्दू, बँगला, उडिया आदि को भी—प्राप्त है। हिन्दी के राष्ट्रभाषा और विहार की राज्यभाषा घोषित हो जाने पर यह अपरिहार्य हो जाता है कि प्रत्येक नागरिक इससे परिचित हो और इससे अपना काम चलाने की योग्यता रखे। इसी आधार को लेकर प्रवेशिका परीक्षा मे राष्ट्रभाषा का एक पत्र अनिवार्य कर दिया गया। विश्वविद्यालय मे भी तदनुसार इसका अनिवार्य होना स्वाभाविक परिणाम था। विहार विश्वविद्यालय ने सन् १९५७ से राष्ट्रभाषा विषय की परीक्षा माध्यमिक (इण्टरमीडिएट) कक्षा में अनिवार्य विपय के रूप मे नियोजित कर अन्य विश्वविद्यालयो का पथप्रदर्शन किया है। प्रवेशिका परीक्षा के अहिन्दीभाषी और हिन्दी-भाषी छात्रो के दो पृथक् स्तरो को ध्यान मे रखकर माध्यमिक परीक्षा मे भी दो पाठ्य-क्रम व्यवस्थित किये गये है। हिन्दीभाषा छात्रो के उच्चस्तर के अनुरूप राष्ट्रभाषा पत्र के लिए एक संग्रह-निर्माण की आवश्यकता अनुभव की गई और यह कार्य विश्वविद्यालय ने अपने हाथ मे लिया और एक संपादक-मंडल नियुक्त किया।

इस संग्रह के संकलन करने मे संपादको के सामने एक कठिनता थी। विश्वविद्यालय इसके पूर्व ही माध्यमिक कक्षा मे वैकल्पिक हिन्दी पढ़ाने के लिए गद्य और पद्य के दो संग्रह-ग्रंथ प्रस्तुत कर चुका था। अहिन्दी-भाषी छात्रो के लिए राष्ट्रभाषा-पत्र मे एक अन्य संग्रह को पाठ्य पुस्तक बनाया जा चुका था। लेखको और कवियो की यथासंभव अच्छी रचनाओ को उन संग्रहो मे स्थान देने का प्रयत्न किया गया है। इन तीनो संग्रहों में जो रचनाएँ समाविष्ट नही हुई है उन्ही को इस 'राष्ट्रभाषा गद्य-पद्य-संग्रह' में स्थान देना था। लेखको और नवीन कवियो के विषय मे तो बहुत कठिनता न थी पर प्राचीन कवियो के प्रसिद्ध पदो के पद्य-संग्रह में संगृहीत

हो जाने के कारण इस संकलन मे कठिनता अवश्य हुई। संपादकों ने यथासंभव उसे दूर करने की कोशिश की है। इस संग्रह में पूर्व संग्रहो से भिन्न परन्तु राष्ट्रभाषा और विद्यार्थियों की योग्यता के अनुरूप पाठो को संकलित किया गया है।

गद्य-भाग मे निबन्ध, कहानी, एकाकी, आत्मचरित और आत्म-परिचय आदि विभिन्न काव्य-रूपो में प्रामाणिक लेखकों की कृतियो को चुना गया है जिससे विद्यार्थियो की रुचि, बौद्धिक क्षमता, भावगरिमा और ज्ञान-वृद्धि को पूरा प्रश्रय मिल सके। पद्य-भाग मे विशेष रूप से खड़ी बोली की कविता को, जिसे राष्ट्रभाषा हिन्दी की कविता कहना चाहिए, स्थान दिया गया है। परन्तु हिन्दी की विभाषाओ में, ब्रज और अवधी मे, जो सास्कृतिक महाप्राणता महाकवियों की वाणी में अनुस्यूत है उससे विद्यानुरागी छात्रों को वंचित करना उनसे भी अन्याय करना है और हिन्दी से भी। विशाल भारतीय राष्ट्र के विस्तृत भूखण्ड में सस्कृति के गायक कबीर, जायसी, सूर और तुलसी को कैसे भुलाया जा सकता है? उनके बिना हिन्दी के स्वरूप का परिचय अधूरा हैं। इसलिए प्राचीन तथा आधुनिक हिन्दी के यथासंभव सभी प्रख्यात कवियो को इसमे निविष्ट किया गया है। हिन्दी-भाषी छात्र ब्रज, अवधी और खड़ी बोली तीनो हिन्दी के रूपों से अच्छी तरह काव्य-क्षेत्र में अवगत है। उन्हे केवल यही समझ लेना होगा कि राष्ट्रभाषा हिन्दी मे रचना के लिए वे आधुनिक खडी बोली का ही आश्रय लें।

यह भी निर्देश करना अप्रासंगिक न होगा कि राष्ट्रभाषा के प्रयोग मे बहुत उदार और उन्मुक्त होने की आवश्यकता है। राष्ट्रभाषा केवल संस्कृत तत्सम और कुछ तद्भव शब्दो से ही नही बनी है; उसमे देशी और विदेशी शब्द भी घुल-मिल गये हैं और चारो प्रकार के शब्द एकाकार हो गये है। फारसी और अँगरेजी के प्रचलित शब्दो का बहिष्कार भाषा को सकुचित करना है। यदि भूषण और तुलसीदास जैसे कवि खुलकर फारसी शब्दो का प्रयोग कर सकते है तो राष्ट्रभाषा के हिमायतियो को

उनसे नाक भी नही सिकोड़ना चाहिए। इसी प्रकार] प्रचलित अन्य प्रान्तीय शव्दो को भी ग्रहण करने में हमें आनाकानी नही करनी चाहिए। इसका तात्पर्य यह नही कि राष्ट्रभापा हिन्दी को जैसा चाहे वैसा वना ले। उसका निखरा रूप तो हमे उपलव्व है ही। उसकी प्रकृति और क्षमता के अनुरूप उसे उदार वनाये रखना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए जिससे किसी भी राज्य के निवासी को कोई भी आपत्ति न हो। रचनाओ के चयन मे भापा के इस दृष्टिविन्दु को ध्यान मे रखा गया है।

अन्त मे सपादक उन सव लेखको और कवियों के आभारी है जिनकी रचनाये इस सग्रह में संकलित है। सपादको ने सपादन-कार्य मे कही-कही अपनी मति-स्वतंत्रता का उपयोग किया है। आशा है उसे कृती कृतिकार क्षमा करेंगे। ग्रथ की उपादेयता तो विज्ञो के अधीन है।

१०–१०–५५

वीरेन्द्र श्रीवास्तव,
सयोजक,
सपादक मण्डल।

विज्ञप्ति

इस संग्रह की विषय-सूची मे जिन पाठों के सामने स्टार चिह्न (*) लगे हुए है, उन पर बिहार विश्वविद्यालय का सर्वाधिकार है। इसके अतिरिक्त पुस्तक के प्रारम्भ मे जो भूमिका दी गई है, उस पर भी विश्व-विद्यालय का सर्वाधिकार है। अत. विश्वविद्यालय की अनुमति के बिना उन्हे किसी सग्रह-ग्रथ मे छापने का अधिकार किसी को नही है।

(क) बिहार विश्वविद्यालय निम्नलिखित लेखकों तथा प्रकाशकों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है जिन्होंने अपनी रचनाओं को प्रस्तुत संग्रह मे समावेश करने की अनुमति दी है :—इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, भारती भण्डार, इलाहाबाद, श्री अमृतराय, राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह, श्री गुलाबराय, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री शिवपूजन सहाय, श्री राहुल सांकृत्यायन, डा० रामकुमार वर्मा, श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, श्री हरि-शकर शर्मा, श्री सियारामशरण गुप्त, श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, श्री श्रीराम शर्मा, श्री कपिलदेव नारायण सिंह, श्री विश्वमोहनकुमार सिंह, श्री वीरेन्द्र श्रीवास्तव, पं० जगन्नाथप्रसाद मिश्र, श्री केसरीकुमार, श्री महेश्वरीप्रसाद, साहित्य-सदन, चिरगाँव, झाँसी, प० रामनरेश त्रिपाठी, श्री माखनलाल चतुर्वेदी, श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, श्री सुमित्रानन्दन पंत, ग्रथमाला कार्यालय, पटना, श्री मोहन-लाल महतो 'वियोगी', श्री जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज', श्री हरिवंशराय 'बच्चन', श्रीमती सुधा चौहान, श्री भगवतीचरण वर्मा, श्री रामधारी-सिंह 'दिनकर', श्री जानकी वल्लभ शास्त्री, श्री रामदयाल पाण्डेय, श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', श्री कलक्टरसिंह 'केसरी', श्री मनोरंजन प्रसाद सिंह, पुस्तक भडार, पटना, श्री आरसीप्रसाद सिंह, श्री श्यामनन्दन प्रसाद 'किशोर'।

(ख) बिहार विश्वविद्यालय उन सज्जनों को भी अनेकानेक धन्यवाद देता है, जिन्होंने प्रस्तुत संग्रह के संकलन में सहयोग देने की कृपा की है।

विषय-सूची

गद्य-भाग

पद्य-भाग

गद्य-भाग

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

सूर्योदय

देखो भाई, सूर्य का उदय हो गया। अहा! इसकी शोभा इस समय ऐसी दिखाई पड़ती है मानो अन्धकार को जीतने को दिन ने यह गोला मारा है, अथवा प्रकाश का यह पिड है, वा आकाश का यह कोई बडा लाल कमल खिला है, वा लोगो के शुभाशुभ कर्म की खराद का यह चक्र है, अथवा चन्द्रमा के रथ का पहिया है—घिसने से लाल हो गया है, अथवा काल के निर्लेप होने की सौगध खाने का यह तपाया हुआ लोहे का गोला है, अथवा उस बडे आतिशबाज का—जिसने रात को अद्भुत गजसितारा छोड़ा था—यह दिन का गुब्बारा है, वा यह एक लाल व्योमयान (बैलून) है जो समय को लिये इधर-उधर फिरा करता है, वा संसारियों का दिन के काम पर जो अनुराग है—यह उसका समूह है, वा पूर्व दिशा का माणिक्य का सीसफूल है, वा काल-खिलाड़ी का यह लाल पतंग है, वा समय-रेल का आगमन-सूचक वह आगे की लाल लालटेन है, वा उस बाजीगर का यह भी एक खेल है कि अधर मे एक लाल झाड़ रौशन कर दिया है, वा कालरूपी यह कोई बड़ा गृद्ध है, जो जगत् को खाता चला आता है, वा उस बड़े टकसाल की यह एक अशरफी है जो चद्रमा-ऐसे रुपये से भी दाम मे सोलहगुनी है, वा समयरूपी चालान की पेटी पर यह लाह की मोहर है, वा आकाशरूपी दिगम्बर का भीख माँगने का यह ताँबे का कटोरा है, वा अँधेरे से लड़नेवाले चन्द्रमा-वीर की यह खून-भरी ढाल है, वा

ज्योतिषियो की बुद्धि की घोटदौड़ का सीमा-चिह्न है, वा वे कितना भी गिना किये—हाथ कुछ न लगा उसी का यह बिन्दु है, वा रात-दिन के तौलने का यह तराजू का पलडा है, वा मजीठ का कुण्ड है, वा लाल पत्थर का गुम्बज है, वा काल का चक्र है, वा वेला लता का यह पक्की मिट्टी का थावला है, वा जगत् के सिर का छत्र है, वा काल-महाराज की सूरजमुखी है, वा ससार के सिर की यह लट्टूदार पगडी है, वा हठीले वालक के खेल की यह चकई है जो इसकी आज्ञारूपी डोर पर ऊँची-नीची हुआ करती है, वा जगत् को जगाने का नगाडा है, वा सबको उठते ही शकुन होने को यह सामने दिशा की यह लाल हथेली है, वा उस कर्मकाडी का यह अग्निकुण्ड है जिसमे नित्य वह जगत् की आयु होम करता है, वा उस मगल-मूर्त्ति की यह मगला आरती है, वा उस दरवार के गजर देने का यह घडियाल है, वा कोई लाल आरसी सामने खडी है, वा उस परम प्रकाशित भवन का एक मोखा है, वा आकाश-सरोवर का यह लाल कछुआ है, वा किरणो का जाल फैलानेवाला कोई मछुआ है, वा जगत् को मृग-तृष्णा-भ्रम के जादू में फँसाने को छूमन्तर का पिटारा है, वा उस कबूतरवाज का सुरखा लक्का कबूतर है, वा सवत् जलाने-वाली होली है, वा ससार का सिरमौर है, वा जगत् पर दयालु के अपार अनुराग का यह एक किनका है, या लोगो के वुरे-भले कामो के लाल वही पर लेखा लगाने की यह दावात है, वा उसके दरवार के शिखर का कलस है, वा वह उस भार का मुँह है, जिसका ससार लावा है, या होनहार की सवारी का वनाती चक्रडोल है, या दिक्कुजर का रंगीन हौदा है, वा उस व्यापारी का यह भी एक वटखरा है जिसका संसार सौदा है, या भाग्यरूपी स्टाम्प की यह लाल मुहर है, वा काल की इस ससाररूपी रणभूमि की नदी का फेन है, वा काल-सर्प का फन है, वा समयरूपी मतवाले हाथी का घटा है, वा जगत् जालसाज का मन है—इसी से सारा टंटा है, वा लोगो की वुद्धिरूपी सरस्वती का कुड है, या काल-कवन्ध का मुड है, वा आकाश-दर्पण मे यह भूगोल का प्रतिविम्ब

है, वा चन्द्रमा का बड़ा भाई है, वा केशर के रंग का फुहारा है, वा भूगोल में जहाँ लाखो ग्रह पड़े हैं वहाँ यह भी एक छोटा-मोटा लाल मंडल है, वा पूर्व दिशा-सोहागिन का सिंधोरा है, वा शकुन का नारियल का गोला है जो रोली मे बोरा है, वा लोक का दीप है, या सर्वदा फैशन बदलनेवाले काल की चक्करदार टोपी है, या सच पूछो तो उसकी जेबी घड़ी वरच घर्म-घड़ी है, वा आलोक की खान है, वा जगत् पीसने की चक्की है, वा कपट-नाटक-सूत्रधार का यह भी कोई गोल-मटोल लाल चेहरा है, या उस खिलाडी की शतरज का कोई सुर्ख़ मुहरा है।

―――

बालकृष्ण भट्ट

आत्मनिर्भरता

आत्मनिर्भरता (अपने भरोसे पर रहना) ऐसा श्रेष्ठ गुण है कि जिसके न होने से पुरुप मे पौरुषेयत्व का अभाव कहना अनुचित नही मालूम होता। जिनको अपने भरोसे का वल है, वे जहाँ होगे, जल मे तूँवी के समान सवके ऊपर रहेगे। ऐसो ही के चरित्र पर लक्ष्य कर महाकवि भारवि ने कहा है कि तेज और प्रताप से ससार-भर को अपने नीचे करते हुए ऊँची उमगवाले दूसरे के द्वारा अपना वैभव नही वढाना चाहते। शारीरिक वल, चतुरगिणी सेना का वल, प्रभुता का वल, ऊँचे कुल मे पैदा होने का वल, मित्रता का वल, मत्र-तत्र का बल इत्यादि जितने वल है, निज वाहु-वल के आगे सव क्षीणवल है, वरन् आत्म-निर्भरता की बुनिवाद यानी यह वाहु-वल सव तरह के वल को सहारा देनेवाला और उभारनेवाला है।

योरप के देशो की जो इतनी उन्नति है, तथा अमेरिका, जापान आदि जो इस समय मनुष्य जाति के सिरताज हो रहे है, इसका यही कारण है कि उन देशो मे लोग अपने भरोसे पर रहना या कोई काम करना अच्छी तरह जानते है। हिन्दुस्तान का जो सत्यानाश है, इसका यही कारण है कि यहाँ के लोग अपने भरोसे पर रहना भूल ही गये। इसी से सेवकाई करना यहाँ के लोगो से जैसी खूवसूरती के साथ वन पडता है, वैसा स्वामित्व नही। अपने भरोसे पर रहना जव हमारा गुण नही, तव क्योकर सम्भव है कि हमारे मे प्रभुत्व-शक्ति को अवकाश मिले।

निरी किस्मत और भाग्य पर वे ही लोग रहते है, जो आलसी है। किसी ने अच्छा कहा हैं—

"दैव-दैव आलसी पुकारा।"

ईश्वर भी सानुकूल और सहायक उन्ही का होता है, जो अपनी सहायता अपने आप कर सकते है। अपने आप अपनी सहायता करने की वासना आदमी मे सच्ची तरक्की की बुनियाद है। अनेक सुप्रसिद्ध सत्पुरुषो की जीवनियाँ इसके उदाहरण तो है ही, वरन् प्रत्येक देश या जाति के लोगो मे वल और ओज तथा गौरव और महत्त्व के आने का आत्मनिर्भरता सच्चा द्वार है। बहुधा देखने मे आता है कि किसी काम के करने मे बाहरी सहायता इतना लाभ नही पहुँचा सकती, जितनी आत्मनिर्भरता।

समाज के वधन मे भी देखिए, तो बहुत तरह के सशोधन सरकारी कानूनो के द्वारा वैसे नही हो सकते, जैसे समाज के एक-एक मनुष्य के अलग-अलग अपने सशोधन अपने आप करने से हो सकते है।

कडे-से-कडे कानून आलसी समाज को परिश्रमी, अपव्ययी या फिजूलखर्च को किफायतशार या परिमित व्ययशील, शराबी को परहेज-गार, क्रोधी को शात या सहनशील, सूम को उदार, लोभी को सतोषी, मूर्ख को विद्वान्, दर्पांध को नम्र, दुराचारी को सदाचारी, कदर्य को उन्नत-मना, दरिद्र भिखारी को आढच, भीरु-डरपोक को वीर-धुरीण, झूठे गपो-डिये को सच्चा, चोर को सहनशील, व्यभिचारी को एक-पत्नी-व्रतधारी इत्यादि नही बना सकते; किंतु ये सब बाते हम अपने ही प्रयत्न और चेष्टा से अपने मे ला सकते है।

सच पूछो, तो जाति या कौम भी सुधरे हुए ऐसे ही एक-एक व्यक्ति की समष्टि है। समाज या जाति का एक-एक आदमी यदि अलग-अलग अपने को सुधारे, तो जाति-की-जाति या समाज-का-समाज सुधर जाय।

सभ्यता और है क्या? यही कि सभ्य जाति के एक-एक मनुष्य आबाल, वृद्ध, वनिता सबों मे सभ्यता के सब लक्षण पाये जायँ। जिसमे

आधे या तिहाई सभ्य है, वही जाति अर्द्ध-शिक्षित कहलाती है। कौमी तरक्की भी अलग-अलग एक-एक आदमी के परिश्रम, योग्यता, सुचाल और सौजन्य का मानो टोटल है। उसी तरह कौम की तनज्जुली कौम के एक-एक आदमी की सुस्ती, कमीनापन, नीची प्रकृति, 'स्वार्थपरता और भाँति-भाँति की वुराइयो का ग्रैंड टोटल है। इन्ही गुणों और अवगुणों को जाति-धर्म के नाम से भी पुकारते है, जैसे सिक्खो मे वीरता और जगली असभ्य जातियो मे लटेरापन।

जातीय गुणो या अवगुणो को गवर्नमेंट कानून के द्वारा रोक या जड-पेड़ मे नेस्तनावूद नही कर सकती, वे किसी दूसरी शक्ल मे न सिर्फ फिर से उभड आवेगे वरन् पहले से ज्यादा तरोताजगी और सरसब्जी की हालत मे हो जायँगे। जव तक किसी जाति के हर एक व्यक्ति के चरित्र मे आदि से मौलिक सुधार न किया जाय, तव तक अव्वल दर्जे का देशानुराग और सर्व-साधारण के हित की वाछा सिर्फ कानून के अदलने-वदलने से या नये कानून के जारी करने से नही पैदा हो सकती।

जालिम-से-जालिम वादशाह की हुकूमत मे रहकर कोई कौम गुलाम नही कही जा सकती, वरन् गुलाम वही कौम है, जिसमे एक-एक व्यक्ति सव भाँति कदर्य, स्वार्थ-परायण और जातीयता के भाव से रहित है। ऐसी कौम, जिसकी नस नस में दास्य-भाव समाया हुआ है, कभी तरक्की नही करेगी, चाहे कैसे ही उदार शासन से वह शासित क्यों न की जाय। तो निश्चय हुआ कि देश की स्वतंत्रता की गहरी और मजवूत नीव उस देश के एक-एक आदमी के आत्मनिर्भरता आदि गुणों पर स्थित है।

ऊँचे-से-ऊँचे दर्जे की तालीम विलकुल वेफायदा है, यदि हम अपने ही सहारे अपनी वेहतरी न कर सके। जॉन स्टुअर्ट मिल का सिद्धात है कि—"राजा का भयानक-से-भयानक अत्याचार देश पर कभी कोई वुरा असर नही पैदा कर सकता, जव तक उस देश के एक एक व्यक्ति मे अपने सुधार की अटल वासना दृढता के साथ वद्धमूल है।"

पुराने लोगो से जो चूक और गलती बन पडी है, उसी का नतीजा वर्तमान समय मे हम लोग भुगत रहे है। उसी को चाहे जिस नाम से पुकारिए यथा जातीयता का भाव जाता रहा, एका नहीं है, आपस की हमदर्दी नही है इत्यादि। तब पुराने क्रम को अच्छा मानना और उस पर श्रद्धा जमाये रखना हम क्योकर अपने लिए उपकारी और उत्तम माने। हम तो इसे निरी चंडूखाने की गप समझते है कि हमारा धर्म हमे आगे नही बढने देता अथवा विदेशी राज से शासित है इसी से हम तरक्की नही कर सकते।

वास्तव मे सच पूछो तो आत्मनिर्भरता अर्थात् अपनी सहायता अपने आप करने का भाव हमारे बीच है ही नही। यह सब हमारी वर्तमान दुर्गति उसी का परिणाम है; बुद्धिमानो का अनुभव हमे यही कहता है कि मनुष्य मे पूर्णता विद्या से नही वरन् काम से होती है। प्रसिद्ध पुरुषों की जीवनियो के पढने ही से नही, वरन् उन प्रसिद्ध पुरुषार्थी पुरुषों के चरित्रो का अनुकरण करने से मनुष्य मे पूर्णता आती है।

योरप की सभ्यता, जो आज-कल हमारे लिए प्रत्येक उन्नति की बातो मे उदाहरणस्वरूप मानी जाती है, एक दिन या एक आदमी के काम का परिणाम नही है। जब कई पुश्त तक देश-का-देश ऊँचे काम, ऊँचे ख्याल और ऊँची वासनाओ की ओर प्रबल-चित्त रहा, तब वे इस अवस्था को पहुँचे है। वहाँ के हर एक फिरके, जाति या वर्ण के लोग धैर्य के साथ धुन बाँध के बराबर अपनी-अपनी तरक्की मे लगे है। नीचे-से-नीचे दर्ज के मनुष्य—किसान, कुली, कारीगर आदि—और ऊँचे-से-ऊँचे दर्जेवाले—कवि, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ सबों ने मिलकर कौमी तरक्की को इस दर्जे तक पहुँचाया है। एक ने एक बात को आरम्भ कर उसका ढाँचा खड़ा कर दिया, दूसरे ने उसी ढाँचे पर साबित-कदम रहकर एक दर्जा और बढ़ाया; इसी तरह क्रम-क्रम से कई पीढी के उपरांत वह बात जिसका केवल ढाँचा मात्र पडा था, पूर्णता और सिद्धि की अवस्था तक पहुँच गई।

ये अनेक शिल्प और विज्ञान, जिनकी दुनिया-भर में धूम मची है, इसी तरह शुरू किये गये थे और ढाँचा छोडनेवाले पूर्व पुरुष अपनी भाग्यवान् भावी सतान को उस शिल्प-कौशल और विज्ञान की बडी भारी मीरास या बपौती का उत्तराधिकारी बना गये थे।

आत्मनिर्भरता के संबध मे जो शिक्षा हमें खेतिहर, दूकानदार, बढई, लोहार आदि कारीगरो से मिलती है, उसके मुकाबिले में स्कूल और कालेजो की शिक्षा कुछ नही है, और यह शिक्षा हमे पुस्तको या किताबो मे नही मिलती, वरन् एक एक मनुष्य के चरित्र, आत्म-दमन, दृढता, धैर्य, परिश्रम, स्थिर अध्यवसाय पर दृष्टि रखने मे मिलती है। इन सब गुणो मे हमारे जीवन की सफलता है। ये गुण मनुष्य-जाति की उन्नति का छोर है और हमे जन्म मे क्या करना चाहिए, उसका साराश है।

बहुतेरे सत्पुरुषों के जीवन-चरित्र धर्म-ग्रथो के समान है, जिनके पढाने से हमे कुछ-न-कुछ उपदेश जरूर मिलता है। बडप्पन किसी जाति-विशेष या खास दर्जे के आदमियो के हिस्से मे नही पडा। जो कोई बडा काम करे या जिससे सर्वसाधारण का उपकार हो, वही बडे लोगो की कोटि मे आ सकता है। वह चाहे गरीब-से-गरीब या छोटे-से-छोटे दर्जे का क्यो न हो, बडे-से-बडा है। वह मनुष्य के तन मे साक्षात् देवता है।

हमारे यहाँ अवतार ऐसे ही लोग हो गये है। सबेरे उठ जिनका नाम ले लेने से दिन भर के लिए मगल की गारटी समझी जाती है, ऐसे महामहिमाशाली जिस कुल मे जन्मते है, वह कुल उजागर और पुनीत हो जाता है। ऐसो ही की जननी वीरप्रसू कही जाती है। पुरुष-सिह ऐसा एक पुत्र अच्छा, गीदडो की खासियतवाले सौ पुत्र भी किस काम के!

पंडित प्रतापनारायण मिश्र

आप

भला बताइये तो आप क्या है? आप कहते होंगे, वाह! आप तो आप ही है। यह कहाँ की आपदा आई? यह भी कोई पूछने का ढंग है। पूछा होता कि आप कौन है तो बतला देते कि हम आपके पत्र के पाठक है और आप 'ब्राह्मण' के सम्पादक है। अथवा आप पंडितजी है, आप राजा है, आप सेठजी है, आप लालाजी है, आप बाबू साहब है, आप मियॉं साहब है, आप निरे साहब है। आप क्या है? यह तो कोई प्रश्न की रीति ही नही है। वाचक महाशय! यह हम भी जानते है कि आप आप ही है और हम भी वही है तथा इन साहबो की भी लम्बी धोती, चमकीली पोशाक, खुँटी हुई अँगरखी (मिरजई), सीधी माँग, विलायती चाल, लम्बी दाढी और साहबानी हवस कह देती है—

"किस रोग की है आप दवा कुछ न पूछिए।"

अच्छा साहब, फिर हमने पूछा तो क्यो पूछा? इसीलिए कि देखे आप 'आप' का ज्ञान रखते है या नही? जिस 'आप' को आप अपने लिए तथा औरो के प्रति दिन-रात मुँह पर धरे रहते है—वह 'आप' क्या है? इसके उत्तर मे आप कहिएगा कि एक सर्वनाम है। जैसे—मै, तू, हम, तुम, यह, वह आदि है वैसे ही 'आप' भी है, और क्या है। पर इतना कह देने से न हमी सन्तुष्ट होगे न आप ही को शब्द-शास्त्र-ज्ञान का परिचय होगा। इससे अच्छी प्रकार कहिए कि जैसे 'मै' का शब्द अपनी नम्रता दिखलाने के लिए बिल्ली की बोली का अनुकरण है, 'तू' का शब्द मध्यम पुरुष को तुच्छता या प्रीति सूचित करने के अर्थ कुत्ते के सबोधन की नकल है। हम, तुम, सस्कृत के 'अह' 'त्व' के अपभ्रश है; यह, वह निकट

की वस्तु या व्यक्ति के द्योतनार्थ स्वाभाविक उच्चारण है; वैसे 'आप' क्या है? किस भापा के किस शव्द का शुद्ध या अशुद्ध रूप है और आदर ही मे वहुधा क्यो प्रयुक्त होता है?

हुजूर की मुलाजमत से अक्ल ने इस्तीफा दे दिया हो तो दूसरी वात है, नही तो आप यह कभी न कह सकेंगे कि 'आप' लफ्जेफारसी या अरवीस्त' अथवा 'ओः! इटिज ऐन इँगलिश वर्ड (Oh! it is an English word)' जव यह नही है तव खाहमखाह यह हिन्दी शव्द है, पर कुछ सिर-पैर, मूँड-गोड भी है कि यो ही? आप छूटते ही सोच सकते है कि संस्कृत मे 'आप' कहते है जल को, और शास्त्रो मे लिखा है कि विधाता ने सृष्टि के आदि में उसी को वनाया था, यथा—"आप एव ससर्जादौ तासु वीजमवासृजत्" तथा हिन्दी मे पानी और फारसी 'आव' का अर्थ शोभा अथच प्रतिष्ठा आदि हुआ करता है, जैसे—"पानी उतरिगा तरवारिन का उइ करछुलि के मोल विकायँ" तथा "पानी उतरिगा रजपूती का उइ फिर विसऔ ते (वेश्या से भी) वहि जायँ" और फारसी मे "आवरू खाक मे मिला वैठे" इत्यादि।

इस प्रकार पानी की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता का विचार करके लोग पुरुपो को भी उसी के नाम से 'आप' पुकारने लगे होगे। यह आपका समझना निरर्थक तो न होगा, वड़प्पन और आदर का अर्थ अवश्य निकल आवेगा; पर खीच-खाँचकर और साथ ही शका भी कोई कर वैठे तो अयोग्य न होगा कि पानी के जल, वारि, अम्वु, नीर, तोय इत्यादि और भी तो कई नाम है। उनका प्रयोग क्यो नही करते, 'आप' ही के सुर्खाव का पर कहाँ लगा है। अथवा पानी की सृष्टि सवसे आदि मे होने के कारण वृद्ध ही लोगो को उसके नाम से पुकारिए तो युक्तियुक्त हो सकता है; पर आप तो अवस्था मे छोटो को भी 'आप-आप' कहा करते है; यह आपकी कौन-सी विज्ञता है? या हम यो भी कह सकते है कि पानी मे गुण चाहे

जितने हों; पर गति उसकी नीच ही होती है। तो क्या आप, हमको मुँह से 'आप-आप' करके अधोगामी बनाना चाहते है ? हमे निश्चय है कि आप 'पानीदार' होंगे तो इस बात के उठते ही पानी-पानी हो जायँगे और फिर कभी यह शब्द मुँह पर भी न लायँगे।

सुहृदय सुहृद्‌गण आपस मे आप-आप की बोली बोलते भी नही है। एक हमारे उर्दूदाँ मुलाकाती मौखिक मित्र बनने की अभिलाषा से आते-जाते थे; पर जब ऊपरी व्यवहार मित्रता का-सा देखा तब हमने उनसे कहा कि बाहरी लोगो के सामने की बात न्यारी है, अकेले मे अथवा अपनायतवालो के आगे 'आप आप' न किया करो। इसमे भिन्नता की भिनभिनाहट पाई जाती है। पर वे इस बात को न माने। हमने दो-चार बार समझाया, पर वह 'आप' क्यो मानने लगे ! इस पर हमे झुंझलाहट छूटी तो एक दिन उनके आते ही और 'आप' का शब्द मुँह पर लाते ही हमने कह दिया कि आपकी ऐसी-तैसी !! यह क्या बात है कि तुम मित्र बनकर हमारा कहना नही मानते ? प्यार के साथ 'तू' कहने मे जितना स्वाद आता है। उतना बनावट से आप-साँप कहो तो कभी सपने मे नही आने का। इस उपदेश को वे मान गये। सच तो यह है कि प्रेम-शास्त्र मे कोई बन्धन न होने पर भी इस शब्द का प्रयोग बहुत ही कम, वरन्च नहीं के बराबर होता है।

हिन्दी की कविता मे हमने दो ही कवित्त इससे युक्त पाये है—एक तो "आपके न चाहे ताके बाप को न चाहिए"। पर यह न तो किसी प्रतिष्ठित ग्रन्थ का है और न इसका आशय स्नेह-सम्बद्ध है। किसी जले-भुने कवि ने कह मारा हो तो यह कोई नही कह सकता कि कविता मे भी 'आप' की पूछ है। दूसरी घनानन्दजी की यह सवैया है—"आपहि तो मन हेरि हरो तिरछे करि नैनन नेह के चाव मे" इत्यादि। पर यह भी निराशापूर्ण उपालम्भ है। इससे हमारा यह कथन कोई खंडन नही कर सकता कि प्रेम-समाज मे 'आप' का आदर नही है, 'तू' ही प्यारा है।

संस्कृत और फारसी के कवि भी 'त्व' और 'तू' के आगे 'भगवान्' और 'शुमा' (तू का बहुवचन) का बहुत आदर नहीं करते। पर, इससे आपको क्या मतलब ? आप अपनी हिन्दी के 'आप' का पता लगाइए और न लगे तो हम बतला देंगे।

संस्कृत में एक 'आप्त' शब्द है जो सर्वथा माननीय अर्थ में ही आता है। यहाँ तक कि न्याय-शास्त्र में प्रमाण-चतुष्टय (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द) के अन्तर्गत शब्दप्रमाण का लक्षण यह लिखा है कि "आप्तोपदेशः शब्दः।" अर्थात् आप्तपुरुष का वचन प्रत्यक्षादि प्रमाणों के समान ही प्रामाणिक होता है। वा यों समझ लो कि आप्त-जन प्रत्यक्ष अनुमान और उपमान प्रमाण से सर्वथा प्रमाणित ही विषय को शब्द-बद्ध करते हैं। इससे जान पड़ता है कि जो सब प्रकार की विद्या, बुद्धि, सत्य-भाषणादि सद्गुणों से संयुक्त हो वह आप्त है। और देवनागरी (हिन्दी) भाषा में 'आप्त' शब्द सबके उच्चारण में सहजतया नहीं आ सकता! इससे उसे सरल करके 'आप' बना लिया है और मध्यम पुरुष तथा अन्य पुरुष के अत्यन्त आदर-द्योतन करने में काम आता है। "तुम बहुत अच्छे मनुष्य हो" और "यह बड़े सज्जन हैं"—ऐसा कहने से सच्चे मित्र, बनावट के शत्रु चाहे जैसे "पुलक प्रफुल्लित-पूरित गाता" हो जायँ; पर व्यवहारकुशल लोकाचारी पुरुष तभी अपना उचित सम्मान समझेंगे, जब कहा जाय कि "आपका क्या कहना है, आप तो बस सभी बातों में एक ही हैं।" इत्यादि।

अब तो आप समझ गये होंगे कि आप कहाँ के हैं, कौन हैं, कैसे हैं। यदि इतने बड़े बात के बतगड़ से भी न समझे हों तो इस छोटे-से कथन में हम क्या समझा सकेंगे कि 'आप' संस्कृत के 'आप्त' शब्द का हिन्दी रूपान्तर है, और माननीय अर्थ के सूचनार्थ उन लोगों (अथवा एक ही व्यक्ति) के प्रति प्रयोग में लाया जाता है जो सामने विद्यमान हों, चाहे बातें करते हों, चाहे बातें करनेवालों के द्वारा पूछे-बताये जा रहे हों अथवा दो या अधिक जनों में जिनकी चर्चा हो रही हो। कभी-कभी

उत्तम पुरुष के द्वारा भी इसका प्रयोग होता है। वहा भी शब्द और अर्थ वही रहता है, पर विशेषता यह रहती है कि एक तो तब कोई अपने मन से आपको (अपने तई) आप ही (आप्त ही) समझता है और विचार कर देखिए तो आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता या तद्रूपता कही लेने भी नही जाना पडता, पर बाह्य व्यवहार मे अपने को आप कहने से यदि अहंकार की गध समझिए तो यो समझ लीजिए कि जो काम अपने हाथ से किया जाता है और जो बात अपनी समझ स्वीकार करा लेती है उसमे पूर्ण निश्चय अवश्य ही हो जाता है। और, उसी के विदित करने को हम और आप तथा वह एव वे कहते है कि 'हम आप कर लेगे'—अर्थात् कोई सदेह नही है कि हमसे यह कार्य सम्पादित हो जायगा। 'हम आप जानते है', अर्थात् दूसरे के बतलाने की आवश्यकता नही है, इत्यादि।

महाराष्ट्रीय भाषा के 'आपाजी' भी उन्नीस बिस्वा आप्त और आर्य के मिलने से इस रूप मे हो गये है तथा कोई माने या न माने, पर हम मना सकने का साहस रखते है कि अरबी के 'अब्ब' (पिता, बोलने मे अब्बा) और यूरोपीय भाषाओ के 'पापा' (पिता), 'पोप' (धर्म-पिता) आदि भी इसी आप्त से निकले है। हॉ, इसके समझने-समझाने मे भी जी ऊबे तो अँगरेजी एबॉट (Abbot=महत) तो इसके हई है; क्योकि उस बोली मे ह्रस्व और दीर्घ दोनो आकार का स्थानापन्न A है और 'पकार' को 'बकार' से बदल लेना कई भाषाओ की चाल है। रही टी (t) सो वह तो तकार हई है। फिर क्या न मान लीजिएगा कि 'एबॉट' साहब हमारे आप वरंच शुद्ध 'आप्त' से बने है।

हमारे प्रान्त मे बहुत-से उच्च वश के बालक भी अपने पिता को अप्पा कहते है, उसे कोई-कोई लोग समझते है कि मुसलमानो के सहवास का फल है; पर यह उनकी समझ ठीक नही है। मुसलमान भाइयो के लड़के कहते है अब्बा और हिन्दू सन्तान के पक्ष मे 'बकार' का उच्चारण तनिक भी कठिन नही होता, यह अग्रेजो की 'तकार' और फारसवालो

की 'टकार' नही है कि मुँह ही से न निकले और सदा 'मोती' का 'मोटी' —अर्थात् स्थूलाग स्त्री और खस की टट्टी का 'तत्ती'—अर्थात् गरम ही हो जाय! फिर अव्वा को अप्पा कहना किस नियम से होगा! हाँ, आप्त से आप और 'अप्पा' तथा 'आपा' की सृष्टि हुई है, उसी को अरववालो ने 'अव्बा' मे रूपान्तरित कर लिया होगा; क्योकि उनकी वर्णमाला मे 'पकार' (पे) नही होता। सौ विस्वा बप्पा, वाप, वापू; वव्वा, वावा, वावू आदि भी इसी से निकले है; क्योकि जैसे एशिया की कई वोलियो मे 'पकार' को 'बकार' या 'फकार' से वदल लेते है, जैसे—पादशाह—वादशाह और पारसी—फारसी आदि वैसे ही कई भाषाओ मे शब्द के आदि मे वकार भी मिला देते है, जैसे—वक्ते-शव—ववक्ते-शव तथा तंग आमद—बतग आमद इत्यादि। और, शब्द के आदि ह्रस्व अकार का लोप भी होता है; जैसे—अमावस का मावस (सतसई आदि ग्रन्थो मे देखो)। ह्रस्व अकारान्त शब्दो मे अकार के वदले ह्रस्व या दीर्घ उकार भी हो जाता है, जैसे—एक—एकु, स्वाद—स्वादु आदि; अथच ह्रस्व को दीर्घ, दीर्घ को ह्रस्व अ, इ, उ आदि वृद्धि या लोप भी हुआ ही करता है। फिर हम क्यो न कहे कि जिन शब्दो मे अकार और पकार का सपर्क हो एव अर्थ से श्रेष्ठता की ध्वनि निकलती हो वह प्राय. समस्त ससार के शब्द 'आप्त' महाशय वा 'आप' ही के उलट-फेर से वने है।

अब तो आप समझ गये न कि आप क्या है? अब भी न समझो तो हम नही कह सकते कि आप समझदारी के कौन है। हाँ, आप ही को उचित होगा कि दमडी-छदाम की समझ किसी पसारी के यहाँ से मोल ले आइये, फिर आप ही समझने लगिएगा कि "आप कौन है? कहाँ के है? कौन के है?" यदि यह भी न हो सके और लेख पढ के आपे से वाहर हो जाइए तो हमारा क्या अपराध है? हम केवल जी मे कह लेंगे 'शाब! आप न समझो तो आपाँ की के पडीछे।' ऐ! अब भी नही समझे? वाह रे आप?

———

महावीरप्रसाद द्विवेदी

आत्म-कथा

मुझे आचार्य की पदवी मिली है। क्यों मिली है, मालूम नही। कब किसने दी है, यह भी मुझे मालूम नही। मालूम सिर्फ इतना ही है कि मैं बहुधा इस पदवी से विभूषित किया जाता हूँ।

उपनीय तु य. शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विज ।
सकल्प सरहस्यञ्च तमाचार्य प्रचक्षते ॥

यह लक्षण मुझ पर तो घटित होता है नही, क्योकि मैने कभी किसी को 'इक्का एक' भी नही पढाया। शकराचार्य, मध्वाचार्य, सायणाचार्य आदि के सदृश किसी आचार्य के चरण-रज कण की बराबरी मैं नही कर सकता। बनारस के संस्कृत कालेज या किसी विश्वविद्यालय मे भी मैने कभी कदम नही रक्खा। फिर इस पदवी का मुस्तहक मैं कैसे होगया ? विचार करने पर मेरी समझ मे इसका एकमात्र कारण मुझ पर कृपा करनेवाले सज्जनो का अनुग्रह ही जान पडता है। जो जिसका प्रेम-पात्र होता है उसे उसके दोष नही दिखाई देते। जहाँ दोष देख पड़ते है, वहाँ तो प्रेम का प्रवेश ही नही हो सकता। नगरो की बात जाने दीजिए, देहात तक मे माता-पिता और गुरुजन अपने लूले, लँगडे, काने, अन्धे, जन्मरोगी और महाकुरूप लडको का नाम श्यामसुन्दर, मनमोहन, चारुचन्द्र, नयनसुख रखते है। जिनके कब्जे मे अगुल भर जमीन नही वे पृथ्वीपति और पृथ्वीपाल कहाते है। जिनके घर मे टका नही वे करोडीमल कहे जाते है। मेरी आचार्य-पदवी भी कुछ-कुछ इसी तरह की है, पर इससे पदवी-दाताजनो का जो भाव प्रकट होता है, उसका अभिनन्दन मै हृदय से करता हूँ। यह पदवी उनके प्रेम, उनके औदार्य, उनके वात्सल्य-भाव

की सूचक है। अतएव प्रेम-पात्र मैं अपने इन सभी उदाराशय प्रेमियो का ऋणी हूँ। वात यह है कि—

वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि

अर्थात् गुणो का सबसे बडा आधार प्रेम होता है, वस्तु-विशेष नही। जो जिस पर कृपा करता है—जिसका प्रेम जिस पर होता ह—वह उसे आचार्य क्या यदि जगद्गुरु समझ ले तो आश्चर्य की वात नही।

तथापि मेरी धृष्टता क्षमा की जाय, मुझे ऐसी वातो से—स्तुति और प्रशसा से—वहुत डर लगता है, क्योकि वे अहकार को जन्म देनेवाली ही नही, उसे वढानेवाली भी है, और इस अहकार-नामक शत्रु का शिकार मै चिरकाल तक हो चुका हूँ। यह उसी की कृपा का फल था जो कभी मैंने किसी सभा की खवर ली, कभी लाला या वावू पर वचनरूपी शर-सन्धान किया, कभी किसी ग्रन्थकार या ग्रन्थ-प्रकाशक पर अपना रोव जमाया। उस जमाने मे मेरी हालत क्या थी और अव क्या है, इसका निदर्शन भर्तृहरि ने वहुत पहले ही कर रक्खा है—

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽह द्विप इव मदान्ध. समभव
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्त मम मन.।
यदा किञ्चित्किञ्चिद् वुधजनसकाशादवगत
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगत.॥

[जव मुझमे ज्ञान की कुछ यो ही जरा-सी झलक थी, तव मै मदान्ध हाथी-सा हो रहा था—तव मुझमे अहकार की मात्रा इतनी अधिक थी कि मै अपने को सर्वज्ञ समझता था परन्तु किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से जव मुझे कुछ विज्ञ विद्वानो की सगति नसीव हुई और जव मैंने प्रकृत पण्डितो की कुछ पुस्तको का मनन किया, तव मेरी आँखे खुल गईं, तव मेरा सारा अहकार चूर्ण हो गया। उस समय मुझे ज्ञात हुआ कि मैं तो महामूर्ख हूँ। नतीजा यह हुआ कि मेरी झूठी सर्वज्ञता का वह नशा उसी तरह उतर गया जिस तरह कि १०४ डिग्री तक चढा हुआ ज्वर उतर आता है।]

मेरी झूठी विज्ञता के आवेश ने, मुझसे पूर्वावस्था मे, अनेक अनुचित काम करा डाले। उस दशा मे मुझसे जो दुष्कृत्य हो गये, उन्होंने मेरी आत्मा को कलुषित कर दिया। उन्होंने उस पर काला पर्दा सा डाल रक्खा है। इस कारण मै थोड़ा सा प्रायश्चित्त करके उस पर्दे के बहुत न सही, थोडे ही अंश को हटा ही देना चाहता हूँ।

शठ सेवक मै, चर अचर आप सभी भगवान।
दीन हीन मुझको अधम समझो दयानिधान॥

अब मेरी आत्म-शुद्धि के लिए आप भी मुझे आज्ञा दीजिए :—

अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु हित्वा,
सेवासुधारसमहो नितरा पिब त्वम्।

अहंकार की व्याप्ति से बचने ही के लिए मैने आज तक, आमन्त्रित होने पर भी, साहित्य-सम्मेलन के सभापति-पद को स्वीकार नही किया।

मै क्या हूँ, यह तो प्रत्यक्ष ही है। परन्तु मै क्या था, इस विषय का ज्ञान मेरे मित्रों और कृपालु हितैषियो को बहुत ही कम है। उन्होने मुझे अनेक पत्र लिखे है, अनेक उलाहने दिये है, अनेक प्रणयानुरोध किये है। वे चाहते है कि मै अपनी जीवन-कथा अपने ही मुँह से कह डालूँ। पर पूर्ण रूप से उनकी आज्ञा का पालन करने की शक्ति मुझमे नही। अपनी कथा कहते मुझे संकोच भी बहुत होता है। उसमे कुछ तत्त्व भी तो नही। उससे कोई कुछ सीख भी तो नही सकता। तथापि जिन सज्जनों ने मुझे अपना कृपापात्र बना लिया है उनकी आज्ञा का उल्लघन भी धृष्टता होगी। अतएव मै अपने जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली कुछ बाते, सूत्र-रूप मे, सुना देना चाहता हूँ। बड़े-बडे लोगो ने, इस विषय में मेरे लिए मैदान पहले ही से साफ भी कर रक्खा है।

मै एक ऐसे देहाती का एकमात्र आत्मज हूँ, जिसका मासिक वेतन सिर्फ १०) था। अपने गाँव के देहाती मदरसे मे थोडी सी उर्दू और घर पर थोड़ी सी सस्कृत पढ़कर १३ वर्ष की उम्र मे, मै ३६ मील दूर, रायबरेली के जिलास्कूल मे अँगरेजी पढ़ने गया। आटा, दाल घर से

पीठ पर लादकर ले जाता था। दो आने महीने फीस देता था। दाल ही में आटे के पेड़े या टिकियाएँ पका करके पेट-पूजा करता था। रोटी बनाना तब मुझे आता ही न था [संस्कृत भाषा उस समय उस स्कूल में वैसे ही अछूत समझी गई थी जैसी मद्रास के नम्बूदरी ब्राह्मणों में वहाँ की शूद्र जाति समझी जाती है।] विवश होकर अँगरेजी के साथ फारसी पढ़ता था। एक वर्ष किसी तरह वहाँ काटा। फिर पुरवा, फतेहपुर और उन्नाव के स्कूलों में चार वर्ष काटे। मेरी स्कूली शिक्षा की वहीं समाप्ति हो गई।

एक साल अजमेर में १५) महीने पर नौकरी करके, पिता के पास, बम्बई पहुँचा और तार का काम सीखकर जी० आई० पी० रेलवे में ५०) महीने पर तार बाबू बना। बचपन ही से मेरी प्रवृत्ति सुशिक्षित जनों की संगति करने की ओर थी। दैवयोग से हरदा और हुशंगाबाद में मुझे ऐसी संगति सुलभ रही। फल यह हुआ कि मैंने अपने लिए चार सिद्धान्त या आदर्श निश्चित किये। यथा—(१) वक्त की पाबन्दी करना, (२) रिश्वत न लेना, (३) अपना काम ईमानदारी से करना और (४) ज्ञान-वृद्धि के लिए सतत प्रयत्न करते रहना। पहले तीन सिद्धान्तों के अनुकूल आचरण करना तो सहज था। पर चौथे के अनुकूल सचेष्ट रहना कठिन था। तथापि सतत अभ्यास से उसमें भी सफलता होती गई। तार बाबू होकर भी, टिकट बाबू, माल बाबू, स्टेशन मास्टर, यहाँ तक कि रेल की पटरियाँ बिछाने और उसकी सड़क की निगरानी करनेवाले प्लेटियर (Permanent Way Inspector) तक का भी काम मैंने सीख लिया। फल अच्छा ही हुआ। अफसरों की नजर मुझ पर पड़ी। मेरी तरक्की होती गई। वह इस तरह कि एक दफे छोड़कर मुझे कभी तरक्की के लिए दरख्वास्त नहीं देनी पड़ी। जब इंडियन मिडलैंड रेलवे बनी और उसके दफ्तर झाँसी में खुले तब जी० आई० पी० रेलवे के मुलाजिम जो साहब वहाँ के जनरल ट्राफिक मैनेजर मुकर्रर हुए वे मुझे भी अपने साथ झाँसी लाये और नये-नये काम मुझसे लेकर मेरी

पदोन्नति करते गये। इन उन्नति का प्रधान कारण मेरी ज्ञान-लिप्सा और गौण कारण उन साहब बहादुर की कृपा या गुण-ग्राहकता थी।' दस-बारह वर्ष के बाद मेरी मासिक आय मेरी योग्यता से कई गुनी अधिक हो गई।

जब इडियन मिडलैड रेलवे जी० आई० पी० रेलवे से मिला दी गई, तब कुछ दिन बम्बई मे रहकर मैने अपना तबादिला झाँसी को करा लिया। वही रहना मुझे अधिक पसन्द था। पाँच वर्ष मै वहाँ डिस्ट्रिक्ट सुपरिण्टेण्डेण्ट के दफ्तर मे रहा। वे दिन मेरे अच्छे नही कटे। लार्ड कर्जन का देहली-दरबार उसी जमाने मे हुआ था। मेरे गौराग प्रभु अपनी राते अपने बँगले या क्लब मे बिताते थे। मै दिन भर दफ्तर का काम करके रात भर, अपनी कुटिया मे पडा हुआ, उनके नाम आये हुए तार लेता और उनके जवाब देता था। ये तार उन स्पेशल रेलगाड़ियो के सम्बन्ध मे होते थे जो दक्षिण से देहली की ओर दौड़ा करती थी। [उन चाँदी के टुकडो की बदौलत जो मुझे हर महीने मिलते थे, मैने अपने ऊपर किये गये इस अत्याचार को महीनो बर्दाश्त किया।]

[मै यदि किसी के अत्याचार को सह लूंगा तो उससे मेरी सहन-शीलता तो अवश्य सूचित होती है, पर उससे मुझे औरो पर अत्याचार करने का अधिकार नही प्राप्त हो जाता]। परन्तु कुछ समयोत्तर बानक ऐसा बना कि मेरे प्रभु ने मेरे द्वारा औरो पर भी अत्याचार करना चाहा। हुक्म हुआ कि इतने कर्मचारियो को लेकर रोज सुबह ८ बजे दफ्तर मे आया करो और ठीक दस बजे मेरे कागज मेरे मेज पर मुझे रक्खे मिले। मैने कहा, मै आऊँगा पर औरो को आने के लिए लाचार न करूँगा। उन्हे हुक्म देना हुजूर का काम है। बस, बात बढी और बिना किसी सोच-विचार के मैने इस्तीफा दे दिया। बाद को उसे वापस लेने के लिए इशारे ही नही, सिफारिशे तक की गई। पर सब व्यर्थ हुआ। क्या इस्तीफा वापस लेना चाहिए, यह पूछने पर मेरी पत्नी ने विषण्ण होकर कहा, "क्या थूक कर भी उसे कोई चाटता है ?" मै बोला, नही ऐसा कभी न

होगा, तुम धन्य हो। तब उसने तो ।।) रोज तक की आमदनी से भी मुझे खिलाने-पिलाने और गृह-कार्य चलाने का दृढ संकल्प किया और मैंने 'सरस्वती' की सेवा से मुझे हर महीने जो २०) उजरत और ३) डाक-खर्च की आमदनी होती थी, उसी से सन्तुष्ट रहने का निश्चय किया। मैंने सोचा, किसी समय तो मुझे महीने में १५) ही मिलते थे; २३) तो उसके ड्योढे से भी अधिक हैं। इतनी आमदनी मुझ देहाती के लिए कम नही।

मेरे पिता ईस्ट इण्डिया कम्पनी की एक पलटन मे सैनिक वा सिपाही थे। मामूली हिन्दी पढे-लिखे थे। बड़े भक्त थे। सिपाहियाने काम से छुट्टी पाने पर राम-लक्ष्मण की पूजा किया करते थे। इसी से साथी सिपाहियो ने उनका नाम रक्खा था—लछिमनजी। गदर मे पिता की पलटन बागी हो गई। जो बच निकले वे बच गये। बाकी जवान तोपो से उड़ा दिये गये। पलटन उस समय होशियारपुर (पजाब) मे थी। पिता ने भाग कर अपना शरीर सतलज की वेगवती धारा को अर्पण कर दिया। एक या दो दिन के बाद बेहोशी की हालत मे, सैकडो कोस दूर, आगे की तरफ, कही वे किनारे लग गये। होश आने पर सँभले और हरी मोटी घास के तिनके चूस-चूस कर कुछ शक्ति सम्पादन की। माँगते-खाते, साधुवेश मे, कई महीने बाद, वे घर आये। घर पर कुछ दिन रहकर इधर-उधर भटकते हुए, वे बम्बई पहुँचे। वहाँ वल्लभ सम्प्रदाय के एक गोस्वामीजी के यहाँ वे नौकर हो गये। इस तरह यहाँ भी उन्हे ठाकुरजी की सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरे समर्थ होने तक वे इसी सम्प्रदाय के गोस्वामी की मुलाजिमत मे रहे। फिर सदा के लिए उसे छोड़कर घर चले आये।

मेरे पितामह अलबत्ते सस्कृतज्ञ थे और अच्छे पण्डित भी थे। बगाल की छावनियो में स्थित पलटनो को वे पुराण सुनाया करते थे। उनकी एकत्र की हुई सैकड़ो हस्तलिखित पुस्तकें बेच-बेच कर मेरी पितामही ने मेरे पिता और पितृव्य आदि का पालन किया। वयस्क होने पर दो-चार पुस्तकें मुझे भी घर मे पड़ी मिली। मेरे पितृव्य दुर्गाप्रसाद नाममात्र

को हिन्दी क्या, कैथी जानते थे। पर उनमे नये-नये किस्से वनाकर कहने की अद्भुत शक्ति थी। रायबरेली जिले मे दीनशाह के गौरा के तत्कालीन ताल्लुकेदार, भूपालसिह के यहाँ किस्से सुनाने के लिए वे नौकर थे। मेरे नाना और मामा भी सस्कृतज्ञ थे। मामा की सस्कृतज्ञता का परिचय स्वय मैने, उनके पास बैठकर, प्राप्त किया था।

नही कह सकता, शिक्षा-प्राप्ति की तरफ प्रवृत्ति होने का सस्कार मुझे किससे हुआ—पिता से या पितामह से वा अपने ही किसी पूर्वजन्म के कृतकर्म से। बचपन ही से मेरा अनुराग तुलसीदास की रामायण और ब्रजवासीदास के ब्रजविलास पर हो गया था। फुटकर कवित्त भी मैने सैकडो कण्ठ कर लिये थे। हुशगाबाद मे रहते समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'कवि-वचन-सुधा' और गोस्वामी राधाचरण के एक मासिक पत्र ने मेरे उस अनुराग की वृद्धि कर दी। वही मैने बाबू हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ नाम के एक सज्जन से, जो वहाँ कचहरी मे मुलाजिम थे, पिगल का पाठ पढा। फिर क्या था, मै अपने को कवि नही, महाकवि समझने लगा। मेरा यह रोग बहुत समय तक ज्यो का त्यो बना रहा। [झाँसी आने पर जब मैने पडितो की कृपा से, प्रकृत कवियो के काव्यो का अनुशीलन किया तब मुझे अपनी भूल मालूम हो गई और छन्दोबद्ध प्रलापो के जाल से मैने सदा के लिए छुट्टी ले ली। पर गद्य मे कुछ न कुछ लिखना जारी रक्खा। सस्कृत और अँगरेजी पुस्तको के कुछ अनुवाद भी मैने किये]।

जब मै झाँसी मे था तब वहाँ के तहसीली स्कूल के एक अध्यापक ने मुझे कोर्स की एक पुस्तक दिखाई। नाम था तृतीय रीडर। उसने उसमे बहुत-से दोष दिखाये। उस समय तक मेरी लिखी हुई कुछ समालोचनाएँ प्रकाशित हो चुकी थी। इससे उस अध्यापक ने मुझसे उस रीडर की भी आलोचना लिखकर प्रकाशित करने का आग्रह किया। मैने रीडर पढ़ी और अध्यापक महाशय की शिकायत को ठीक पाया। नतीजा यह हुआ कि उसकी समालोचना मैने पुस्तकाकार मे प्रकाशित की। इस रीडर का स्वत्वाधिकारी था प्रयाग का इडियन प्रेस। अतएव इस

समालोचना की वदौलत इडियन प्रेस से मेरा परिचय हो गया और कुछ समय वाद उसने 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन-कार्य मुझे दे डालने की इच्छा प्रकट की। मैंने उसे स्वीकार कर लिया। यह घटना रेल की नौकरी छोड़ने के एक साल पहले की है।

नौकरी छोड़ने पर मेरे मित्रो ने कई प्रकार से मेरी सहायता करने की इच्छा प्रकट की। किसी ने कहा—आओ, मैं तुम्हे अपना प्राइवेट सेक्रेटरी वनाऊँगा। किसी ने लिखा—मैं तुम्हारे साथ वैठ कर सस्कृत पढूँगा। किसी ने कहा—मैं तुम्हारे लिए एक छापाखाना खुलवा दूँगा—इत्यादि। पर मैंने सवको अपनी कृतज्ञता की सूचना दे दी और लिख दिया कि अभी मुझे आपके सहायता-दान की विशेष आवश्यकता नही। मैंने सोचा—अव्यवस्थित चित्त मनुष्य की सफलता मे सदा सन्देह रहता है। क्यो न मै अगीकृत कार्य ही में अपनी सारी शक्ति लगा दूं। प्रयत्न और परिश्रम की वडी महिमा है। 'अतएव' सव तज हरि भज की मसल को चरितार्थ करता हुआ, इडियन प्रेस के प्रदत्त काम ही में मैं अपनी शक्ति खर्च करने लगा। हॉ, जो थोडा-वहुत अवकाश कभी मिलता तो मैं उसमे अनुवाद आदि का कुछ काम और भी करता। समय की कमी के कारण मै विशेप अध्ययन न कर सका। इसी से 'सम्पत्तिशास्त्र' नामक पुस्तक को छोडकर और किसी अच्छे विपय पर मैं कोई नई पुस्तक नही लिख सका।

उस समय तक मैंने जो कुछ लिखा था, उससे मुझे टको की प्राप्ति तो कुछ हुई ही न थी। हॉ, ग्रन्थकार, लेखक, समालोचक और कवि की जो पदवियॉ मैंने स्वय अपने ऊपर लाद ली थी, उनसे मेरे गर्व की मात्रा में वहुत कुछ इजाफा जरूर हो गया। मेरे तत्कालीन मित्रो और सलाह-कारो ने उसे पर्याप्त न समझा। उन्होने कहा—अजी कोई ऐसी किताव लिखो जिससे टके सीधे हो। रुपये का लोभ चाहे जो करावे। मै उनके चकमे मे आ गया। योरप और अमेरिका तक मे प्रकाशित पुस्तके मँगाकर पढी। सस्कृत भापा मे प्राप्त सामग्री से भी लाभ उठाया। वहुत परिश्रम

करके कोई दो सौ सफे की एक पुस्तक लिखी। नाम उसका रक्खा तरुणोप-देश। मित्रो ने देखा। कहा, अच्छा तो है। पर इसमे सरसता नही। पुस्तक ऐसी होनी चाहिए जिसका नाम सुनकर और विज्ञापन मात्र ही पढ़कर खरीदार पाठक उस पर इस तरह टूटे जिस तरह गुड़ नही, बहते हुए व्रण या गन्दगी पर मक्खियो के झुण्ड के झुण्ड टूटते है। काम-कला लिखो, काम-किल्लोल लिखो, कन्दर्प-दर्पण लिखो, रति-रहस्य लिखो, मनोज-मञ्जरी लिखो, अनंग-रग लिखो। मै सोच-विचार मे पड गया। वहुत दिनो तक चित्त चलायमान रहा। अन्त मे जीत मेरे मित्रो ही की रही। उनके प्रस्तावित नाम मुझे पसन्द न आये। मै उनसे भी बाँस भर आगे बढ़ गया। कवि तो मै था ही, मैने चार-चार चरणवाले लम्बे-लम्बे छन्दों मे एक पद्यात्मक पुस्तक लिख डाली---ऐसी पुस्तक जिसके प्रत्येक पद्य से रस की नदी नही तो बरसाती नाला जरूर बह रहा था। नाम भी मैने ऐसा चुना जैसा कि उस समय तक उस रस के अधिष्ठाता को भी न सूझा था। मै तीस चालीस साल पहले की बात कह रहा हूँ। आजकल की नही। आजकल तो नाम बाजारू हो रहा है और अपने अलौकिक आकर्षण के कारण निर्धनो को धनी और धनियों को धनाधीश बना रहा है। अपने बूढे मुँह के भीतर धँसी हुई जबान से, आपके सामने, उस नाम का उल्लेख करते हुए मुझे बडी लज्जा मालूम होगी। पर पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए आप, पञ्च समान रूपी परमेश्वर के सामने शुद्ध हृदय से उसका निर्देश करना ही होगा। अच्छा तो उसका नाम था या है---सोहाग रात। उसमे क्या है; यह आप पर प्रकट करने की जरूरत नही, क्योकि---परेंगितज्ञानफला हि बुद्धय।

मेरे मित्रो ने इस पिछली पुस्तक को बहुत पसन्द किया, उसे बहुत सरस पाया अतएव उन्होने मेरी पीठ खूब ठोकी। मैने भी अपना परिश्रम सफल समझा। अब लगा मै हवाई किले बनाने। पुस्तक प्रकाशित होने पर उसे युक्तिपूर्वक बेचूंगा, मेरे घर रुपयो की वृष्टि होने लगेगी। शीघ्र ही मै मोटर नही, तो विक्टोरिया खरीदकर उस पर हवा खाने निकला

करूँगा। देहात छोडकर दशाश्वमेध घाट पर कोई तिमजिला मकान बनवाकर या मोल लेकर वही काशीवास करूँगा। कई कर्मचारी रक्खूँगा। अन्यथा हजारो वेल्यूपेएबिल कौन रवाना करेगा।

[परन्तु अभागियो के सुख-स्वप्न सच्चे नही निकलते। मेरे हवाई महल एक पल मे ढह पडे। मेरी पत्नी कुछ पढी-लिखी थी। उससे छिपाकर ये दोनो पुस्तके मैने लिखी थी। दुर्घटना कुछ ऐसी हुई कि उसने ये पुस्तके देख ली। देखी ही नही, उलट-पलट कर उसने पढा भी। फिर क्या था, उसके शरीर मे कराला काली का आवेश हो आया। उसने मुझ पर वचन-विन्यास रूपी इतने कडे कशाघात किये कि मै तिलमिला उठा। उसने उन दोनो पुस्तको की कापियो को आजन्म कारावास या कालेपानी की सजा दे दी। वे उसके सन्दूक में बन्द हो गई। उसके मरने पर ही उनका छुटकारा उस दायमुल्हब्स से हुआ। छूटने पर मैने उन्हे एकान्त-सेवन की आज्ञा दे दी है। क्योंकि सती की आज्ञा का उल्लघन करने की शक्ति मुझमे नही। इस तरह मेरी पत्नी ने तो मुझे साहित्य के उस पक-पयोधि मे डूबने से बचा लिया। आप भी मेरे उस दुष्कृत्य को क्षमा कर दे तो बडी कृपा हो।] इसी से मैने इस बहुत कुछ अप्रासगिक विषय के उल्लेख की यहाँ जरूरत समझी।

'सरस्वती' के सम्पादन का भार उठाने पर मैने अपने लिए कुछ आदर्श निश्चित किये। मैने सकल्प किया कि (१) वक्त की पाबदी करूँगा, (२) मालिको का विश्वासपात्र बनने की चेष्टा करूँगा, (३) अपने हानि-लाभ की परवा न करके पाठको के हानि-लाभ का सदा ख्याल रक्खूँगा और (४) न्याय-पथ से कभी न विचलित होऊँगा। इसका पालन कहाँ तक मुझसे हो सका, सक्षेप मे सुन लीजिए :—

(१) सम्पादकजी बीमार हो गये। इस कारण 'स्वर्ग-समाचार' दो हफ्ते बन्द रहा। मैनेजर महाशय के मामा परलोक प्रस्थान कर गये, लाचार 'विश्वमोहिनी' पत्रिका देर से निकल रही है। 'प्रलयकरी' पत्रिका

के विधाता का फौटेनपेन टूट गया। उसके मातम मे १३ दिन काम बन्द रहा। इसी से पत्रिका के प्रकटन मे विलम्ब हो गया। प्रेस की मशीन नाराज हो गई। क्या किया जाता। 'त्रिलोकमित्र' का यह अंक, इसी से, समय पर न छप सका। इस तरह की घोषणाएँ मेरी दृष्टि मे बहुत पड़ चुकी थी। मैंने कहा—मै इन बातों का कायल नही। प्रेस की मशीन टूट जाय तो उसका जिम्मेदार मै नही। पर कापी समय पर न पहुँचे तो उसका जिम्मेदार मै हूँ। मैंने अपनी इस जिम्मेदारी का निर्वाह जी-जान होम कर किया। चाहे पूरा का पूरा अक मुझे ही क्यो न लिखना पडा हो, कापी समय पर ही मैंने भेजी। मैंने तो यहॉ तक किया कि कम से कम छ महीने आगे की सामग्री सदा अपने पास प्रस्तुत रक्खी। सोचा कि यदि मै महीनो बीमार पड जाऊँ तो क्या हो? 'सरस्वती' का प्रकाशन तब तक बन्द रखना क्या ग्राहको के साथ अन्याय करना न होगा? अस्तु, मेरे कारण सोलह-सत्रह वर्ष के दीर्घकाल मे, एक बार भी सरस्वती का प्रकाशन नही रुका। जब मैंने अपना काम छोडा तब भी मैंने नये सम्पादक को बहुत बचे हुए लेख अर्पण किये। उस समय के उपार्जित अपने लिखे हुए कुछ लेख अब भी मेरे सग्रह मे सुरक्षित है।

(२) मालिको का विश्वास-भाजन बनने की चेष्टा मे मै यहाँ तक सचेत रहा कि मेरे कारण उन्हे कभी उलझन मे पडने की नौबत नही आई। 'सरस्वती' के जो उद्देश्य थे उनकी रक्षा मैंने दृढता से की। एक दफे अलबत्ते मुझे इलाहाबाद के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के बँगले पर हाजिर होना पडा। पर मै भूल से तलब किया गया था। एक गैरकानूनी लाटरी का विज्ञापन 'सरस्वती' मे निकल गया था। उसी के सम्बन्ध मे मजिस्ट्रेट को चेतावनी देनी थी। वह और किसी को मिली, क्योकि विज्ञापनो की छपाई से मेरा कोई सरोकार न था।

मेरी सेवा से 'सरस्वती' का प्रचार जैसे-जैसे बढता गया और मालिको का मै जैसे-जैसे अधिकाधिक विश्वास-भाजन होता गया वैसे ही वैसे मेरी सेवा का बदला भी मिलता गया। और मेरी आर्थिक स्थिति

प्रायः वैसी ही हो गई जैसी कि रेलवे की नौकरी छोडने के समय थी। इसमे मेरी कारगुजारी कम, दिवगत बाबू चिन्तामणि घोष की उदारता ही अधिक कारणीभूत थी। उन्होने मेरे सम्पादन-स्वातन्त्र्य मे कभी बाधा नही डाली। वे मुझे अपने कुटुम्बी-सा समझते रहे, और उनके उत्तराधिकारी अब तक भी मुझे वैसा ही समझते है।

(३) इस समय तो कितनी ही महारानियाँ तक हिन्दी का गौरव बढा रही है, पर उस समय एकमात्र 'सरस्वती' ही पत्रिकाओ की रानी नही, पाठको की सेविका थी। तब उसमे कुछ छपाना या किसी का जीवन-चरित्र प्रकाशित कराना जरा बड़ी बात समझी जाती थी। दशा ऐसी होने के कारण मुझे कभी-कभी बडे-बडे प्रलोभन दिये जाते थे। कोई कहता—मेरी मौसी का मरसिया छाप दो, मै तुम्हे निहाल कर दूंगा। कोई कहता—अमुक सभा मे दी गई, अमुक सभापति की 'स्पीच' छाप दो, मै तुम्हारे गले मे बनारसी दुपट्टा डाल दूंगा। कोई आज्ञा देता—मेरे प्रभु का सचित्र जीवन-चरित्र निकाल दो तो तुम्हे एक बढिया घडी या पैरगाडी नजर की जायगी। इन प्रलोभनों का विचार करके मै अपने दुर्भाग्य को कोसता और कहता कि जब मेरे आकाश-महलो को खुद मेरी ही पत्नी ने गिराकर चूर कर दिया, तब भला ये घड़ियाँ और गाडियाँ मै कैसे हजम कर सकूँगा। नतीजा यह होता कि मै बहरा और गूँगा बन जाता और 'सरस्वती' मे वही मसाला जाने देता जिससे मै पाठको का लाभ समझता। मै उनकी रुचि का सदैव ख्याल रखता और यह देखता रहता कि मेरे किसी काम से उनको सत्पथ से विचलित होने का साधन न प्राप्त हो। सशोधन-द्वारा लेखो की भाषा अधिक-सख्यक पाठको की समझ मे आने लायक कर देता। यह न देखता कि यह शब्द अरबी का है या फारसी का या तुर्की का। [देखता सिर्फ यह कि इस शब्द, वाक्य या लेख का आशय अधिकाश पाठक समझ लेगे या नही। अल्पज्ञ होकर भी किसी पर अपनी विद्वत्ता की झूठी छाप लगाने की कोशिश मैने कभी नही की।)

(४) 'सरस्वती' मे प्रकाशित मेरे लघु लेखो (नोटो) और आलोचनाओ ही से सर्वसाधारण जन इस बात का पता लगा सकते है कि मैंने कहाँ तक न्याय-मार्ग का अवलम्बन किया है। जान-बूझ कर मैंने कभी अपनी आत्मा का हनन नही किया। न किसी के प्रसाद की प्राप्ति की अकाक्षा की, न किसी के कोप से विचलित ही हुआ। इस प्रान्त के कितने ही न्यायनिष्ठ सामाजिक सत्पुरुषो ने 'सरस्वती' का जो 'बायकाट' कर दिया था वह मेरे किस अपराध का सूचक था, इसका निर्णय सुधीजन ही कर सकते है।

पं० पद्मसिंह शर्मा

प्राचीन काव्य का महत्त्व

आजकल के कुछ वैज्ञानिक विद्वानो का विचार है कि "कविता का समय गया, वर्तमान युग विज्ञान का और सभ्यता का युग है।" सभ्यता कविता की विघातक है, कविता मे और मैजिक लैन्टर्न में बहुत कुछ सादृश्य है। जिस प्रकार मैजिक लैन्टर्न का तमाशा अधिक अँधेरे में अच्छा प्रतीत होता है, इसी प्रकार कविता का चमत्कार भी अविद्या-न्धकार मे ही खूब चमकता है। कविता एक 'जादू' है, जादू का असर अशिक्षितो पर ही होता है। सुशिक्षित और सुसभ्य विद्वच्चक्र-चूड़ामणि महाशयो का कविता के विषय मे ऐसा ही सिद्धान्त सुनने में आता है।

"ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन!"

भगवान् कृष्ण का यह वाक्य कविता की दशा पर इस समय पूरी तरह चरितार्थ हो रहा है। अन्यान्य कर्मकलाप तो ज्ञानाग्नि की लपट भेंट होने से ज्यो-त्यो बचा भी है, पर कविता-कर्म विज्ञानाग्नि की प्रचण्ड ज्वाला-माला मे पड़कर सचमुच ही भस्मसात् हो गया ह। विज्ञान-प्रभाकर के प्रखर प्रकाश-पुंज मे कवितान्धकार एकदम विलीन हो गया है। इसलिए इस समय उल्लिखित कृष्ण-वाक्य इस प्रकार पढा जाय तो समुचित होगा :—

"ज्ञानाग्निः कविकर्माणि भस्मसात् कुरुते ध्रुवम।"

ऐसी दशा मे इस विज्ञान-युग मे कविता की चर्चा चलाना, वैज्ञानिक हृदय पर कविता की छाप बैठाना पत्थर मे जोक लगाने, शिरीष-पुष्प की नोक से वज्रमणि मे छेद करने की चेष्टा करना है। कविता का युग बीत गया, कविता हो चुकी; अब उसकी चर्चा करना गड़े मुर्दे उखाडना,

बीती बात को रोना है। उर्दू के सुप्रसिद्ध कवि हाली ने कविता के हाल पर आँसू बहाते हुए निराशाजनक स्वर मे कहा है:—

"शाइरी मर चुकी अब जिन्दा न होगी यारो।
याद कर करके उसे जी न कुढाना हर्गिज।"

यह एक पक्ष का कथन है। दूसरा पक्ष कहता है कि नही, ऐसा नही है। कविता मर नही सकती, वह अमर है। जब तक मनुष्य के शरीर-यत्र मे हृदय का पुर्जा जुडा है, उसे स्निग्ध करने, कठोरता के मोर्चे से (जग से) बचाने, मृदु मसृण गति से चलाते रहने के लिए कविता-स्नेह नितान्त प्रयोजनीय है, अवश्य अपेक्षित है। जिस दिन मनुष्य-समाज सर्वथा हृदयहीन हो जायगा, उस दिन कविता की जरूरत भी न रहेगी। मनुष्यता के दो प्रधान अग है, एक मस्तिष्क, दूसरा हृदय। विज्ञान मस्तिष्क है तो कविता हृदय। दोनों के कार्यक्षेत्र—अधिकार-सीमा—पृथक्-पृथक् है। मस्तिष्क का पौधा विज्ञान की खाद से बढता और पलता है, हृदय की कली कविता के प्रकाश से खिलती है। मस्तिष्क का ढोल विज्ञान के डके से बोलता है और हृदय की तत्री कविता के तार से गूँजती है। विज्ञान ग्रीष्मकाल का प्रचण्ड बवंडर है और कविता वसन्त का मलय समीरण का ठढा झोका। विज्ञान प्रचण्ड-रश्मि दिवाकर का प्रखर प्रकाश है, कविता सुधाकर की दु ख-सताप-हारिणी शीतल ज्योत्स्ना।

जब विज्ञान का बाजार नही लगा था तब भी कविता की हाट खुली थी। इस विश्वप्रपच का निर्माता स्वय 'महाकवि' है। 'विज्ञान' नाम से एकाध बार उसका परिचय दिया गया है तो 'कवि' कहकर उसे बार-बार पुकारा गया है। किसी ने क्या खूब कहा है:—

"स्तोतु प्रवृत्ता श्रुतिरीश्वर हि
न शाब्दिक प्राह न तार्किक वा॥
ब्रूते तु तावत्कविरित्यभीक्ष्ण
काष्ठा परा सा कविता ततो नः॥"

दुर्विदग्ध वैज्ञानिकमानी के सिवा कोई सच्चा वैज्ञानिक कविता-विरोधी नही हो सकता।

कविता की उपयोगिता का अपलाप किसी प्रकार सम्भव नही है। कविता एक ऐसा चलता जादू है जो सिर पर चढकर बोलता है।

वहुत से महापुरुप कविता की उपयोगिता स्वीकार तो किसी प्रकार करते है, पर शृगार रस उनके निर्मल नेत्रो मे कुछ खार सा या तेजाब सा खटकता है। वह शृगार की रसीली लता को विषैली समझकर कविता-वाटिका मे एकदम जड से उखाड फेकने पर तुले खडे है। उनकी शुभ सम्मति मे शृगार ही सव अनर्थो की जड है।

"कविर्मनीपी परिभू. स्वयम्भू" "कवि पुराणमनुशासितारम्" इत्यादि शतश श्रुतियाँ उच्चै स्वर से ईश्वर को 'कवि' कहकर पुकार रही है। शृगार रस के 'अश्लील' काव्यो ने ही ससार मे अनाचार और दुराचार का प्रचार किया है। शृगार के साहित्य का ससार यदि आज संहार कर दिया जाय तो सदाचार का ससार सर्वत्र अनायास हो जाय, फिर ससार के सदाचारी और ब्रह्मचारी बनने मे कुछ देर न लगे।

कई महानुभाव तो भारतवर्प की इस वर्तमान अधोगति के 'श्रय का सेहरा' भी शृगार के सिर पर ही बाँधते है। उनकी समझ मे शृंगार रस ही की मुसलाधार अतिवृष्टि ने देश को डुबोकर रसातल पहुँचाया है।

ठीक है, अपनी-अपनी समझ होती है। इस विचार के लोग भी तो है जो कहते है कि वेदान्त के विचार—उपनिषदो मे वर्णित अध्यात्म-भावो के प्रचार ने ही देश को अकर्मण्य, पुंस्त्व-विहीन और जाति को हीन-दीन वनाकर वर्तमान दशा मे पहुँचाया है। फिर वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली के विरोधियो की कुछ कमी नही है। वह इस शिक्षा को ही, सव अनर्थो की जननी जानकर धिक्कार रहे है। यदि यह पिछले मत ठीक है, तो पहला भी ठीक हो सकता है। जव अन्तिम रस (शात) ससार की अशाति का कारण हो सकता है तो आदिम (शृगार) भी

अनर्थ का मूल सही। पर तनिक ध्यान देकर देखा जाय तो अपनी-अपनी जगह पर सब ठीक है :—

"गुल हाय रंगा रग से हैं ज़ीनते चमन।
ऐ 'जौक' इस जहाँ को है जेब इख़्तलाफ़ से।"

× × ×

रुचि-भेद और अवस्था-भेद से काव्यो के कुछ वर्णन किन्ही विशेप व्यक्तियों को अनुचित प्रतीत हो, यह और बात है। इससे ऐसे काव्य की अनुपयोगिता सिद्ध नही होती। अधिकार-भेद की व्यवस्था सब जगह समान है। काव्य-शास्त्र भी इसका अपवाद नही है। कौन कहता है कि वृद्ध जिज्ञासु, बाल ब्रह्मचारी, मुमुक्षु यति और जीवनमुक्त सन्यासी भी काव्य के ऐसे प्रसगो को अवश्य पढे। ऐसे पुरुप काव्य के अधिकारी नही है। फिर यह भी कोई बात नही है कि जो चीज इनके लिए अच्छी नही है वह औरो के लिए भी अच्छी न हो। इनकी रुचि को सबकी रुचि का आदर्श मानकर ससार का काम कैसे चल सकता है!

काव्यो के विपय की आप लाख निन्दा कीजिए, अश्लील ओर गन्दे बतलाकर उनके विरुद्ध कितना ही आन्दोलन कीजिए, पर जब तक चटपटी भापा का चटखारा सहृदय समाज से नही छूटता, जिसका छूटना असभव नही तो अत्यन्त कठिन अवश्य है—सहृदयता के साथ इसका बडा गहरा अटूट सम्बन्ध है—तब तक काव्यो का प्रचार रुक नही सकता। बडे-बड़े सुरुचि-सचारक प्रचारको और धार्मिक उपदेशको तक को देखा गया है कि श्रोताओ पर अपनी वक्तृता का रग जमाने के लिए उन्हे भी काव्यों की लच्छेदार भाषा और सुन्दर सूक्तियो, अनोखी अन्योक्तियो का, बीच-बीच मे, सहारा लेना ही पड़ता है। अच्छी भापा पढने-सुनने का लोगो का 'दुर्व्यसन' भी हमारे सुधारको के काव्य-विरोध-विषयक प्रयत्नो को अधिकाश मे निष्फल कर देता है। ईश्वर करे यह 'दुर्व्यसन' बना रहे।

यह समझना एक भारी भ्रम है कि काव्यो के पढनेवाले अवश्य ही कुरुचि-सम्पन्न लोग होते है। शृगार रस की चाशनी चखने की स्वाभाविक रुचि ही काव्यो की ओर पाठको को नही खीचती, भापा के माधुर्य की चाट भी कुछ कम नही होती।

चाहे अपने मत से इसे देश का 'दुर्भाग्य' ही समझिए कि हमारे कवियों ने प्रकाश देवता से अन्धकार का काम क्यो लिया, ऐसी सुन्दर भापा का 'दुरुपयोग' ऐसे भ्रप्ट विपय के वर्णन मे क्यो कर गये ? पर जो कर गये, सो कर गये, जो हो गया, सो हो गया, वह समय ही कुछ ऐसा था, समाज की रुचि ही कुछ वैसी थी, और अव दुवारा ऐसे कवि यहाँ पैदा होने से रहे जो वर्तमान सभ्य समाज की सुरुचि के अनुसार सामयिक विपयो की ऐसी ललित, मधुर, परिप्कृत और भड-कती हुई, जानदार, भावमयी भाषा मे वर्णन करके मुर्दा दिलो मे जान डाल जायँ, सोते हुओ को जगा जायँ और जागतो को किसी काम मे लगा जायँ। हमारी भापा की वहार वीत गई, अव कभी खत्म न होनेवाली 'खिजा' के दिन है, भाषा के रसिक भौंरे कान देकर सुनें और आँख खोलकर देखे; कोई पुकार कर कह रहा है—

"जिन दिन देखे वे कुसुम गयी सु वीत वहार।
अव अलि रही गुलाव मे अपत कटीली डार।"

जिस भाव-हीन निर्जीव भापा मे नीरस कर्ण-कटु काव्यो की आज दिन सृप्टि हो रही है, इससे सुरुचि का संचार हो चुका! यह सहृदय-समाज के हृदयों मे घर कर चुकी! यह सूखी टहनी साहित्य-क्षेत्र में वहुत दिन खड़ी न रह सकेगी। कोरे काम चलाऊपन के साथ-साथ भापा मे सरसता और टिकाऊपन भी अभीप्ट है तो इसके निस्सार शरीर में प्राचीन साहित्य के रस का सचार होना भी अत्यावश्यक है। विषय की दृप्टि से न सही, भापा के महत्त्व की दृप्टि से भी देखिए तो शृंगार रस के प्राचीन काव्यो की उपयोगिता कुछ कम नही ह। यदि अपनी भापा को अलकृत करना है तो इस पुरानी काव्य-वाटिका से, जिसे हजारो

चतुर मालियों ने सकड़ों वर्ष तक दिल के खून से सीचा है, सदा-बहार फूल चुनने ही पड़ेंगे। काँटो के डर से रसिक भौरा पुष्पो का प्रेम नही छोड़ बैठता, मकरंद के लिए मधु-मक्षिकाओ को इस चमन में आना ही होगा, यदि वह इधर से मुँह मोड़कर 'सुरुचि' के ख्याल मे स्वच्छ आकाश-पुष्पो की तलाश मे भटकेगी तो मधु की एक बूंद से भी भेट न हो सकेगी। हमारे सुशिक्षित समाज की 'सुरुचि' जब भाषा-विज्ञान के लिए उसी प्रकार का विदेशी साहित्य पढने की आज्ञा खुशी से देती ह तो मालूम नही अपने ही साहित्य से उसे ऐसा द्वेष क्यो है? परमात्मा इस 'सुरुचि' से साहित्य की रक्षा करे—

"घर से बैर अपर से नाता। ऐसी बहू मत देहु विधाता।"

डा० श्यामसुन्दरदास

समाज और साहित्य

ईश्वर की सृष्टि विचित्रताओ से भरी हुई है। जितना ही इसे देखते जाइए, इसका अन्वेषण करते जाइए, इसकी छान-वीन करते जाइए, उतनी ही नई-नई शृंखलाएँ विचित्रता की मिलती जायँगी। [कहाँ एक छोटा-सा वीज और कहाँ उससे उत्पन्न एक विशाल वृक्ष। दोनो मे कितना अंतर और फिर दोनो का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध]। तनिक सोचिये तो सही, एक छोटे से वीज के गर्भ मे क्या-क्या-भरा हुआ है। उस नाममात्र के पदार्थ मे एक वड़े से वड़े वृक्ष को उत्पन्न करने की शक्ति है जो समय पाकर पत्र, पुष्प से फल-सम्पन्न होकर वैसे ही अगणित बीज उत्पन्न करने मे समर्थ होता है, जैसे वीज से उसकी स्वयं उत्पत्ति हुई थी। [सव वाते विचित्र, आश्चर्यजनक और कौतूहलवर्द्धक होने पर भी किसी शासक द्वारा निर्धारित नियमावली से वद्ध है]। सव अपने-अपने नियमानुसार उत्पन्न होते, वढते, पुष्ट होते और अत मे उस अवस्था को प्राप्त हो जाते है, जिसे हम मृत्यु कहते है पर वही उनकी समाप्ति नही है, वही उनका अन्त नही है। वे सृष्टि के कार्य-साधन मे निरन्तर तत्पर है। मर कर भी वे सृष्टि-निर्माण में योग देते है। यों ही वे जीते मरते चले जाते है। इन्ही सव वातो की जाँच विकासवाद का विषय है। यह शास्त्र हमको इस वात की छान-वीन मे प्रवृत्त करता है और वतलाता है कि कैसे संसार की सव वातो की सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से अभिव्यक्ति हुई, कैसे क्रम-क्रम से उनकी उन्नति हुई और किस प्रकार उनकी सकुलता वढ़ती गई।

जैसे संसार की भूतात्मक अथवा जीवात्मक उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विकासवाद के निश्चित नियम पूर्ण रूप घटते है, वैसे ही वे मनुष्य के सामाजिक जीवन के उन्नति-क्रम आदि को भी अपने अधीन रखते है। यदि हम सामाजिक जीवन के इतिहास पर ध्यान देते है तो हमे विदित होता है कि पहले मनुष्य असभ्य जगली अवस्था मे थे। सृष्टि के आदि मे सब आरंभिक जीव समान ही थे। पर सबने एक-सी उन्नति न की। प्राकृतिक स्थिति के अनुकूल जिसकी जिस विषय की ओर प्रवृत्ति रही उस पर उसी की उत्तेजना का प्रभाव पड़ा। अत मे प्रकृति देवी ने जैसा कार्य देखा वैसा ही फल भी दिया। जिसने जिस अवयव से कार्य लिया उसके उसी अवयव की पुष्टि हुई। साराश यह है कि आवश्यकतानुसार उनके रहन-सहन, भाव-विचार सबमे परिवर्त्तन हो चला। जो सामाजिक जीवन पहले था वह अब न रहा। अब उसका रूप ही बदल गया। अब नये विधान आ उपस्थित हुए। नई आवश्यकताओ ने नई चीजो के बनाने के उपाय निकाले। जब किसी चीज की आवश्यकता आ उपस्थित होती है तब मस्तिष्क को उस कठिनता को हल करने के लिए कष्ट देना पड़ता है। उस प्रकार सामाजिक जीवन मे परिवर्त्तन के साथ ही साथ मस्तिष्क-शक्ति का विकास होने लगा। सामाजिक जीवन के परिवर्त्तन का दूसरा नाम असभ्यावस्था से सभ्यावस्था को प्राप्त होना था। अर्थात् ज्यो-ज्यो सामाजिक जीवन का विकास, विस्तार और उसकी स लता होती गई त्यों-त्यो सभ्यता देवी का साम्राज्य स्थापित होता गया। सभ्यावस्था सामाजिक जीवन मे उस स्थिति का नाम ह, जब मनुष्य को अपने सुख और चैन के साथ-साथ दूसरो के स्वप्नो और अधिकारो का भी ज्ञान हो जाता है। यह भाव जिस जाति मे जितना ही अधिक पाया जाता है उतनी ही अधिक वह जाति सभ्य समझी जाती है। इस अवस्था की प्राप्ति बिना मस्तिष्क के विकास के नही हो सकती। अथवा यह कहना चाहिए कि सभ्यता की उन्नति और मस्तिष्क का विकास साथ ही साथ होते है। एक दूसरे का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक का दूसरे के बिना आगे

बढ़ जाना और पीछे पड़ जाना असभव है। मस्तिष्क के विकास मे साहित्य का स्थान बड़े महत्त्व का है।

जैसे भौतिक शरीर की स्थिति और उन्नति बाह्य पचभूतो; कार्य-रूप प्रकाश, वायु, जलादि की उपयुक्तता पर निर्भर है, वैसे ही समाज के मस्तिष्क का बनना-बिगड़ना साहित्य की अनुकूलता पर अवलबित है, अर्थात् मस्तिष्क के विकास और वृद्धि का मुख्य साधन साहित्य है।

सामाजिक मस्तिष्क अपने पोषण के लिए जो भाव-सामग्री निकाल कर समाज को सौंपता है उसके संचित भडार का नाम साहित्य है। अतः किसी जाति के साहित्य को हम उस जाति की सामाजिक शक्ति या उसका सभ्यता-निर्देशक कह सकते है। वह उसका प्रतिरूप, प्रतिच्छाया या प्रतिबिंब कहला सकता है। जैसी उसकी सामाजिक अवस्था होगी वैसा ही उसका साहित्य होगा। किसी जाति के साहित्य को देखकर हम यह स्पष्ट बता सकते हैं कि उसकी सामाजिक अवस्था कैसी है; वह सभ्यता की सीढी के किस डडे तक चढ़ सकी है। साहित्य का मुख्य उद्देश्य विचारो का विधान तथा घटनाओं की स्मृति को संरक्षित रखना है। पहले पहल अद्‌भुत बातो के देखने से जो मनोविकार उत्पन्न होते हैं उन्हे वाणी द्वारा प्रदर्शित करने की स्फूर्ति होती है। धीरे-धीरे युद्धो के वर्णन, अद्‌भुत घटनाओ के उल्लेख और कर्मकाड के विधानो तथा नियमो के निर्धारण में वाणी का विशेष स्थायी रूप में उपयोग होने लगता है। इस प्रकार वह सामाजिक जीवन का एक प्रधान अंग हो जाता है। एक विचार को सुनकर या पढ़कर दूसरे विचार उत्पन्न होते है। इस प्रकार विचारो की एक शृखला हो जाती है जिससे साहित्य के विशेष अंगो की सृष्टि होती है। मस्तिष्क को क्रियमाण रखने तथा उसके विकास और वृद्धि में सहायता पहुँचाने के लिए साहित्यरूपी भोजन की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार का भोजन होगा वैसी ही मस्तिष्क की स्थिति होगी। जैसे शरीर की स्थिति और वृद्धि के अनुकूल आहार की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार मस्तिष्क के विकास के लिए साहित्य का प्रयोजन होता है। मनुष्य के

विचारों मे प्राकृतिक अवस्था का भारी प्रभाव पड़ता है। शीत-प्रधान देशों मे अपने को जीवित रखने के लिए निरंतर परिश्रम करने की आवश्यकता रहती है। ऐसे देशों मे रहनेवाले मनुष्यों का सारा समय अपनी रक्षा के उपायो के सोचने और उन्ही का अवलम्बन करने मे बीत जाता है। अतएव क्रम से उन्हे सासारिक बातों से अधिक ममता हो जाती है और वे अपने जीवन का उद्देश्य सासारिक वैभव प्राप्त करना ही मानने लगते है। जहाँ इसके प्रतिकूल अवस्था है वहाँ आलस्य का प्राबल्य होता है। जब प्रकृति ने खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने का सब सामान प्रस्तुत कर दिया तव फिर चिन्ता ही कहाँ रह जाती है! भारत-भूमि को प्रकृति देवी का प्रिय और प्रकाड क्रीड़ाक्षेत्र समझना चाहिए। यहाँ सब ऋतुओ का आवागमन होता रहता है। जल की यहाँ प्रचुरता है। भूमि इतनी उर्वरा है कि सब खाद्य पदार्थ यहाँ उत्पन्न होते है। फिर इनकी चिन्ता यहाँ के निवासी कैसे कर सकते है? इस अवस्था मे या तो सासारिक बातो से जीव जीवात्मा और परमात्मा की ओर लग जाता है अथवा विलास-प्रियता में फँस कर इन्द्रियों का शिकार बन बैठता है। यही मुख्य कारण है कि यहाँ का साहित्य धार्मिक विचारों या शृंगार के काव्यों से भरा हुआ है। अस्तु, इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मनुष्य की सामाजिक स्थिति के विकास मे साहित्य का प्रधान योग रहता है।

यदि ससार के इतिहास की ओर हम ध्यान देते है तो हमे भली भाँति विदित होता है कि साहित्य ने मनुष्यों की सामाजिक स्थिति मे कैसा परिवर्त्तन कर दिया है। पाश्चात्य देशों मे एक समय धर्म-सम्बन्धी शक्ति पोप के हाथ में आ गई थी। माध्यमिक काल मे इस शक्ति का बड़ा दुरुपयोग होने लगा। अतएव जब पुनरुत्थान ने वर्त्तमान काल का सूत्रपात किया, यूरोपीय मस्तिष्क स्वतंत्रता देवी की आराधना मे रत हुआ, तब पहला काम जो उसने किया वह धर्म के विरुद्ध विद्रोह खड़ा करना था। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोपीय कार्य-क्षेत्र से धर्म का प्रभाव हटा और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की लालसा बढ़ी। यह कौन नही जानता

कि फ्रास की राज्य-क्रान्ति का सूत्रपात रूसो और वालटेयर के लेखो ने किया और इटली के पुनरुत्थान का वीज मेजिनी के लेखो ने वोया। भारतवर्ष मे भी साहित्य का प्रभाव इसकी अवस्था पर कम नही पड़ा। यहाँ की प्राकृतिक अवस्था के कारण सासारिक चिन्ता ने लोगो को अधिक न ग्रसा। उनका विशेष ध्यान धर्म की ओर रहा। जव-तव उसमे अव्यवस्था और अनीति की वृद्धि हुई, नये विचारो, नई सस्थाओ की सृष्टि हुई। वौद्ध-धर्म और आर्य-समाज का प्रावल्य और प्रचार ऐसी ही स्थिति के वीच हुआ। इस्लाम और हिन्दू-धर्म जव परस्पर पडोसी हुए तव दोनो मे से कूपमडूकता का भाव निकालने के लिए कवीर, नानक आदि का प्रादुर्भाव हुआ। अतः स्पष्ट है कि मानव-जीवन की सामाजिक उन्नति मे साहित्य का स्थान वडे गौरव का है।

अव यह प्रश्न उठता है कि जिस साहित्य के प्रभाव से संसार मे इतने उलट-फेर हुए हैं, जिसने यूरोप के गौरव को वढ़ाया, जो मनुष्य-समाज का हित-विधायक मित्र है वह क्या हमें राष्ट्र-निर्माण में सहायता नही दे सकता? क्या हमारे देश की उन्नति करने में हमारा पथ-प्रदर्शक नही हो सकता? हो अवश्य सकता है यदि हम लोग जीवन के व्यवहार मे उसे अपने साथ-साथ लेते चलें। उसे पीछे न छूटने दे। यदि हमारे जीवन का प्रवाह दूसरी ओर है तव हमारा उसका प्रकृति सयोग ही नही हो सकता।

विश्वम्भरनाथ शर्मा "कौशिक"

विजयानंद दुबेजी की चिट्ठी

अजी संपादकजी महाराज,

जय रामजी की !

क्या कहूँ भाई, हिंदुओं का पाखंड देखकर चित्त को बड़ा ही क्लेश होता है। हिंदुओं ने धर्म तथा आस्तिकता को अपने मनोरंजन का साधन बना रक्खा है। इनकी समझ मे ईश्वर को मानने तथा उसकी उपासना करने मे दो लाभ हैं। एक तो ईश्वर की खोपडी पर एहसान का गट्ठा लादना और दूसरे अपना मनोरंजन करना। आम के आम और गुठलियों के दाम ! धर्म्म का इतना सदुपयोग और कौन कर सकता है ? देवताओं की अधिकता कुछ हिंदुओं के लिए उतनी मनोरजक है, जितनी किसी बालक के लिए खिलौनों की अधिकता होती है। जैसे कोई बालक दिन भर मे अनेक तथा नये-नये खिलौनों से खेलना पसद करता है, वैसे ही कुछ भाई भी दिन भर मे अनेक देवताओं की आकाक्षा रखते है; सवेरे मुकटेश्वर के मंदिर मे विराजमान है तो शाम को महेश्वरी देवी के मदिर मे डटे है। दो घंटे पश्चात् देखिए तो किसी अन्य ईश्वरी अथवा ईश्वर के दरबार में उपस्थित है। क्या ऐसा भक्ति-वश करते है ? अजी नारायण का नाम लीजिए ! भक्ति किस चिड़िया का नाम है, इसका भी पता इनको नही है। करते है केवल 'मजे' के लिए। मजा ढूँढते फिरते है—मजे के दीवाने है। मैने अनेक 'भक्तो' को यह कहते सुना—"आज अमुकीश्वरी के दरबार मे गये थे—कुछ मजा नही आया। आज अमुकेश्वर के दरबार मे कुछ आनंद नही आया।" इन कमवख्तो से कोई पूछे—मजा नही आया तो इसके लिए ईश्वर अथवा ईश्वरी क्या करे ? उन्होने

आपको मजा पहुँचाने का ठेका ले रक्खा है ? और आप उनकी सेवा करने और दर्शन करने जाते हैं या मजे लूटने ? जैसे लोग कबूतरवाजी, पतगवाजी तथा अनेक प्रकार की अन्य वाजियों में मजा ढूंढ़ा करते हैं ऐसे ही कुछ भक्त लोग "देवतावाजी" करते हैं और उसमें मजा ढूंढ़ते रहते है। जिस देवता मे उन्हे कुछ मजा अथवा आनंद मिलता है, वह देवता सिद्ध देवता समझा जाता है। जिसमे आनंद नही आता, वह देवता नापाक़ और देवताओं की विरादरी से खारिज ! ऐसे देवता के मदिर में शाम को कोई चिराग भी नही जलाता। जो देवता 'मजा' देता रहता है, उसकी शान देखिए—क्या ठाट रहते है। आप पूछेंगे कि "देवता-वाजी" में क्या मजा आता है ? मै वहुधा यह सोचा करता हूँ कि लोगो को वटेरवाजी, कवूतरवाजी, पतंगवाजी मे क्या मजा आता है ? मुझे तो वह सोलहो आने हिमाकतवाजी दिखाई पड़ती है। परंतु उन्हे कुछ तो मजा आता ही होगा, तभी तो वे उसमे समय तथा धन नष्ट करते है। उस मजे को हम आप नही समझ सकते। इसी प्रकार "देवतावाजी" के मजे का अनुमान हम आप नही लगा सकते। हाँ, देवतावाजो को किस वात में आनंद मिलता है, इसको मैंने समझने का प्रयत्न किया है।

श्रावण तथा भादों का महीना "देवतावाजो" के लिए वड़े आनंद का महीना है। श्रावण के प्रत्येक सोमवार को ये लोग व्रत रखते है। और उस दिन किसी विशेप ईश्वर के दरवार में जमा होते है। अतएव इन लोगो का आनद इतवार से ही आरंभ हो जाता है। मेरे जान-पहचान के एक कायस्थ सज्जन, जो मास के वड़े ही प्रेमी है, कहा करते है कि एक दिन मास खाने का आनंद तीन दिन तक रहता है। जिस दिन उनके यहाँ मास पकता है, उसके एक दिन पहले इस आशा में आनंद आता है कि कल मास खाने को मिलेगा। जिस दिन खाने को मिलता है उस दिन का तो कहना ही क्या है। खाने के दूसरे दिन इस वात को याद करके मजा आता है कि कल मांस खाया था। यही दशा इन अधिकांश व्रत रखनेवालो की होती है। इतवार ही से स्कीमे वनने लगती हैं कि

कल खाने को क्या-क्या बनना चाहिए। व्रत का उद्देश्य तथा उसके कर्त्तव्य गये चूल्हे में, सबसे पहले खाने की फिक्र होती है। रखते हैं व्रत और खाने की चिंता एक दिन पहले से पड़ जाती है। इस विरोधाभास का भी कुछ ठिकाना है ? इसके पश्चात् यह तय होता है कि कल किस ईश्वर के दरबार में चलना चाहिए। इसके लिए अधिक सोच-विचार करने की आवश्यकता नही पड़ती। हमारे शहर मे चार ईश्वर है। प्रत्येक सोमवार को एक-एक ईश्वर के दरबार मे मेला लगता है, अतएव अधिकाश वही जमा होते हैं। जो लोग धनी है, उनका सब सामान इतवार की शाम को ही ईश्वरजी के कपाउड में पहुँच जाता है। सोमवार के दिन शाम को इस कंपाउंड मे जिधर देखिए सिल-बट्टा खटक रहा है। खूब गहरी छनती है। शिवजी की भक्ति मे एक यही तो सुविधा है कि छानने को खूब मिलती है। सोमवार के दिन दोनों समय छनती है। सबेरे से ही नशे जम जाते हैं। भॉग-वाँग पीकर वही शौच से निवृत्त हुए। इसके पश्चात् स्नान किया तत्पश्चात् ईश्वरजी की खोपड़ी पर एहसान का टोकरा लादा गया अर्थात् थोड़ी देर पूजन किया। इसके पश्चात् आनंद के साथ तर माल पर हाथ साफ किया।

यों चाहे कभी महीनो अजीर्ण न होता हो, परंतु व्रत के दिन निश्चय अजीर्ण हो जायगा। व्रत और उपवास के अर्थ यही है कि अजीर्ण हो जाय। इसके पश्चात् हा-हा, हूहू-हूहू आरंभ हुई और रात के नौ-दस बजे तक आनद लूटकर घर आये। जो अधिक तबीयतदार हुए वे रात मे भी वही डट गये और नौटकी का स्वाँग देखा। जी हॉ, ईश्वर के दरबार मे नौटंकी भी होती है। इसमे भक्त लोगो का क्या दोष ? प्रत्येक ईश्वर को नौटकी की लत पड़ गई है। भक्त लोग उन्हे प्रसन्न करने के लिए यह भी करते है। पूजन करेंगे दस-पंद्रह मिनट और भॉग छानने मे, आँखे मीच-मीचकर भोजन का स्वाद लेने में, नौटंकी देखने मे सारा दिन और रात खर्च कर देंगे। मूर्ख और अशिक्षित उन्हे देखकर कहते है—भई, यह शिवजी के बड़े भक्त है। देखो न शाम से लेकर सबेरे तक बाबा के

दरवार मे पड़े रहे। भाँग छानना, दाल-वाटी का आनंद लूटना, नौटंकी देखना, उछल-कूद करना, इन अकल के दुश्मनो को "दरवार मे पड़े रहना" दिखाई पड़ता है। भक्तराज घर आकर हमारे जैसे लोगो से, जिन्हे उनका-सा सौभाग्य कभी स्वप्न मे भी प्राप्त नही होता, कहते है—"आज वावा के दरवार मे वड़ा आनंद आया। खूव जी भर कर पूजन हुआ। वावा का शृगार भी दिव्य हुआ था। वडी विशाल मूर्ति है।" हालाँ कि वावा के पास दस मिनट नही फटके, परतु वाते वावा ही की करेंगे। और इस ढग से करेगे, मानो वावा के प्राइवेट सेक्रेटरी है। और आनंद यह है कि विशाल और सिद्ध मूर्ति होते हुए भी दूसरे सोमवार को भक्तराज उनकी वात भी न पूछेगे—दूसरे सोमवार को दूसरे वावा का दरवार अपनी चरण-रज से पवित्र करेंगे। इस प्रकार तीसरे सोमवार को किसी तीसरे वावा की खोज होगी। इसे आप देवतावाजी नही तो और क्या कहेगे? इसके साथ एक वात और है—तीन वावा का दरवार तो गगा-तट पर है और एक वावा का दरवार रेलवे लाइन-तट पर। अतएव जिन वावा का दरवार गंगा-तट पर है वहाँ भक्त लोग अधिक जमा होते है। क्यों? इसलिए कि उक्त तीन वावा अधिक पहुँचे हुए है। इसलिए कि गंगा-तट होने से वहाँ आनंद अधिक आता है। रेलवे लाइन-तटवाले वावा के दरवार में उतना आनद नही आता। इसलिए लोग उन्हें जरा कम पतियाते है।

श्रावण मे झूलों तथा झाँकियों का जोर भी रहता है। इस अवसर पर अनेक मंदिरो मे रास, थिएटर तथा नौटकी का आयोजन रहता है, अतएव काफी भक्त-गण जमा होते है। ठाकुरजी के सामने नौटंकी के ऐसे-ऐसे अश्लील स्वाँग होते है कि भगवान् वचावे। रासलीलाएँ तो लोप हो ही गईं। रास-मंडलीवाले दस-पद्रह मिनट "द्वै द्वै गोपी विच विच माधौ" का नाच तथा 'ताथेई' करके झट राजा-रानी वनकर खड़े हो जाते है। और "प्यारी तेरे इश्क मे हुआ हाल वेहाल" के साथ नगाड़ो की "कड़-कड़ धम" का समाँ वाँध देते है। अड़ोस-पड़ोसवालो की नीद हराम हो

जाती है और नगाड़ों की 'कड़-कड़' और 'धम-धम' से सिर में दर्द पैदा हो जाता है। परतु ठाकुरजी के नाम पर यह सब सहन किया जाता है। एक वार नगाडो की धमाधम से एक मकान गिर पड़ा था और बहुत से आदमियो के चोट आ गई थी। जिस मकान मे ठाकुरजी विराजमान थे, वह था पुराना तथा जीर्ण-शीर्ण। नगाड़ों की कडकडाहट जो हुई तो एक दीवार अर्राकर वैठ गई। लोग समझे कि वरसात के कारण दीवार वैठ गई। परंतु असली कारण नगाडो की कड़कडाहट थी। जिन्होंने विज्ञान का अध्ययन किया है, वे भली भाँति जानते है कि वायु के कपन में कितनी शक्ति होती है। जितने जोर का शव्द होगा, उतना ही अधिक वायु मे कंपन उत्पन्न होगा। उसी कपन के धक्के से दीवार वैठ गई।

सपादकजी, यह सव धर्म्म के नाम पर और धर्म्म की ओट मे होता है। यदि इस पर कोई भला आदमी कुछ कहता है, तो भक्त लोग उसे झट नास्तिक, आर्यसमाजी, विधर्म्मी इत्यादि की उपाधियो से विभूषित कर देते है।

इसके पश्चात् जन्माष्टमी आती है। इस अवसर पर भी भक्त लोगो का उत्साह देखने योग्य होता है। इस दिन भी अनेक लोग उपवास करते है। कुछ लोग तो कृष्ण-जन्म होने के पश्चात् भोजन करते है और कुछ फलाहार के नाम से दिनभर दुनिया भर का अल्लम-गल्लम चट करते रहते है। यों रोज दिन भर मे दो बार भोजन करेंगे, परन्तु व्रत के दिन फलाहार के वहाने दिन भर वकरी की तरह मुंह चलता रहेगा। जन्माष्टमी का व्रत लोग कैसे रखते है, इस संवंध की एक घटना देकर यह चिट्ठी समाप्त करता हूँ।

एक हमारे पडोसी महोदय ब्राह्मण है। बड़े धार्म्मिक तथा भक्त है। जन्माष्टमी के दिन रात के वारह वजे तक जागरण करना होता है। सो हमारे पड़ोसी भक्तराज जागने के लिए उस दिन वाइस्कोप देखते है। वाइस्कोप देखकर जब लौटते है, तब कृष्णजी का जन्म करते है। दो-तीन साल पहले की वात है। जन्माष्टमी का दिन था। घटनावश उस दिन

भक्तराज बाइस्कोप नही गये अतएव घर में पड़ के सो गये। जब जन्म का समय आया तो घरवालों ने आपको जगाने की चेष्टा की। परंतु भक्तराज मुर्दों से बाजी लगाकर सोये थे। उनकी माता ने लाख प्रयत्न किया, पर वे नही उठे। इधर उनके न उठने से कृष्णजी का जन्म तमादी मे पड़ा जा रहा था। लोग इस प्रतीक्षा में बैठे थे कि पडितजी उठें तो कृष्ण महाराज तवल्लुद हो, और कृष्णजी तवल्लुद हों तो मीठा-मीठा पंचामृत तथा प्रसाद चखने को मिले। परतु जब पडितजी नही उठे और कृष्णजी असहयोग करके वैकुंठ जाने पर आमादा हो गये तो लोगों ने उनकी माता से कहा—"तो तुम्ही जन्म कर दो।" विवश होकर उनकी माता ने जन्म किया। यह दशा भक्तगणो की है। पंचामृत और प्रसाद बाँटने के समय वे-पैसे-कौड़ी का दंगल देखने को मिलता है। बहुधा प्रसादार्थी भक्तो मे लात-जूता तक चल जाता है। एक-एक भक्त कई-कई बार प्रसाद लेने के लिए पहुँचता है। प्रसाद और पचामृत लेने के लिए भक्त लोग रात के एक बजे तक जागा करते है। टइयाँ से मंदिर के द्वार पर बैठे है। किसी ने कहा भी कि "अभी क्या है? जन्म हो ले तब आना।" तो बोले—"हम बैठे भजन कर रहे है, कुछ प्रसाद के लिए थोड़े ही बैठे है।" यदि पंचामृत की जगह गंगाजल का चरणामृत बँटा करे तो भजन का हाल खुले, तब एक भी न दिखाई पड़ें। प्रसाद बाँटने-वाले ठाकुरजी के एजेंट भी खूब कतर-ब्योंत करते हैं। जान-पहचानवालों को खूब दोने भरकर और गिलास भरकर प्रसाद देते है और अपरिचितों को वही माशे भर की कुल्हिया और तोले भर का दोना। इस पर भी ठाकुरजी का दिवाला निकल जाता है, तब पंचामृत मे गंगाजल की बाढ़ आ जाती है। गंगाजल की बाढ़ आते ही भक्तगणो का रेला भी बन्द! गंगाजल का प्रसाद कौन भकुआ लेता है। उसकी क्या कमी है—गंगा भरी पड़ी है। प्रसाद की भक्ति तो पंचामृत की कुल्हिया और दोने के ही साथ रहती है। जहाँ उनमें फर्क पड़ा, बस भक्ति भी बिदा हो गई।

यह दशा है; और ये ही भक्तगण हमारे जैसे लोगों को, जो इससे

कोसों दूर रहते हैं, नास्तिक कहते हैं। संपादकजी, अपने राम नास्तिक रत्ती भर नही है और न ठेठ आर्यसमाजी ही है कि कृष्ण और शिव को न मानते हों। वात केवल इतनी है कि जब तक हृदय मे सच्ची श्रद्धा तथा भक्ति नही, तब तक केवल लोगों को दिखाने के लिए, अथवा ईश्वर के सिर पर एहसान लादने के लिए कोई काम नही करते। यदि अपने राम के हृदय मे इनकी भाँति श्रद्धा-भक्ति नही है, तो इसमे अपने राम का क्या अपराध ? अपने राम तो बहुत प्रयत्न करते हैं कि कभी-कभी इन लोगो जैसी श्रद्धा-भक्ति उत्पन्न हो जाया करे। परंतु जब कभी प्रस्फुटित भी होती है, तो पाखडी भक्तों की लीला और देवताओं की छीछालेदर देखकर वह अकुर मुरझा कर रह जाता है। उस समय यह सोचकर सतोष होता है कि इन भक्तो से तो हम अभक्त लाख दर्जे अच्छे हैं।

भवदीय
विजयानंद (दुबेजी)

प्रेमचन्द

सोहाग का शव

मध्य-प्रदेश के एक पहाडी गाँव में एक छोटे से घर की छत पर एक युवक मानो सध्या की निस्तब्धता मे लीन हुआ-सा वैठा था। सामने चंद्रमा के मलिन प्रकाश में आर्द्र पर्वत-मालाएँ अनंत के स्वप्न की भाँति गंभीर, रहस्यमयी, सगीतमय, मनोहर मालूम होती थी। उन पहाड़ियों के नीचे जल-धरा की एक रौप्य रेखा ऐसी मालूम होती थी मानो उन पर्वतों का समस्त सगीत, समस्त गाभीर्य, सपूर्ण रहस्य इसी उज्ज्वल प्रवाह में लीन हो गया हो। युवक की वेश-भूषा से प्रकट होता था कि उसकी दशा वहुत सम्पन्न नही है। हाँ, उसके मुख से तेज और मनस्विता झलक रही थी। उसकी आँखों पर ऐनक न थी, न मूँछे मुड़ी हुई थी, न वाल सँवारे हुए थे, कलाई पर घड़ी न थी, यहाँ तक कि कोट के जेव मे फाउंटेनपेन भी न था। या तो वह सिद्धातों का प्रेमी था, या आडंबरो का शत्रु।

युवक विचारों में मौन उसी पर्वत-माला की ओर देख रहा था कि सहसा वादल की गरज से भी भयकर ध्वनि सुनाई पड़ी। नदी का मधुर गान उस भीपण नाद में डूव गया। ऐसा मालूम हुआ मानो उस भयकर नाद ने पर्वतों को भी हिला दिया है, मानो पर्वतो मे कोई घोर सग्राम छिड़ गया है। यह रेलगाड़ी थी जो नदी पर वने हुए पुल से चली आ रही थी।

एक युवती कमरे से निकल कर छत पर आई और वोली—'आज अभी से गाड़ी आ गई! इसे भी आज ही वैर निभाना था।'

युवक ने युवती का हाथ पकडकर कहा—'प्रिये, मेरा जी चाहता है कही न जाऊँ। मैंने निश्चय कर लिया। मैंने तुम्हारी खातिर से हामी भर ली थी, पर अब जाने की इच्छा नही होती। तीन साल कैसे कटेंगे ?'

युवती ने कातर स्वर मे कहा—'तीन साल के वियोग के बाद फिर तो जीवन-पर्यंत कोई बाधा न खडी होगी। एक बार जो निश्चय कर लिया है उसे पूरा ही कर डालो। अनत सुख की आशा मे मैं सारे कष्ट झेल लूंगी।'

यह कहते हुए युवती जलपान लाने के बहाने से फिर भीतर चली गई। आँसुओं का आवेग उसके काबू के बाहर हो गया। इन दोनो प्राणियों के वैवाहिक जीवन की यह पहली ही वर्षगाँठ थी। युवक बबई-विश्वविद्यालय से एम० ए० की उपाधि लेकर नागपुर के एक कालेज मे अध्यापक था। नवीन युग के नये-नये वैवाहिक और सामाजिक क्रातियो ने उसे लेशमात्र भी विचलित न किया था। पुरानी प्रथाओ से ऐसी प्रगाढ ममता कदाचित् वृद्धजनो को भी कम होगी। प्रोफेसर हो जाने के बाद उसके माता-पिता ने इस बालिका से उसका विवाह कर दिया था। प्रथा-नुसार ही उस आँखमिचौनी के खेल मे उन्हे प्रेम का रत्न मिल गया। केशव छुट्टियों मे यहाँ पहली गाडी से आता और आखिरी गाड़ी से जाता। ये दो-चार दिन मीठे स्वप्न के समान कट जाते थे। दोनो, बालकों की भाँति रो-रोकर, बिदा होते। इसी कोठे पर खड़ी होकर वह उसको देखा करती जब तक निर्दय पहाड़ियाँ उसे आड़ मे न कर लेती।

पर अभी साल भी न गुजरने पाया था कि वियोग ने अपना षड्यंत्र रचना शुरू कर दिया। केशव को विदेश जाकर शिक्षा पूरी करने के लिए एक वृत्ति मिल गई। मित्रो ने बधाइयाँ दी। किसके ऐसे भाग्य है जिसे बिना माँगे स्वभाग्य-निर्माण का ऐसा अवसर प्राप्त हो? केशव बहुत प्रसन्न न था। वह इसी दुविधा मे पडा हुआ घर आया। माता-पिता और अन्य सबंधियो ने इस यात्रा का घोर विरोध किया। नगर मे जितनी बधाइयाँ मिली थी, यहाँ कही उससे अधिक बाधाएँ मिली। किंतु सुभद्रा

की उच्चाकाक्षाओं की सीमा न थी। वह कदाचित् केशव को इद्रासन पर वैठा हुआ देखना चाहती थी। उसके सामने तव भी वही पति-सेवा का आदर्श होता था। वह तव भी उसके सिर में तेल डालेगी, उसकी धोती छाँटेगी, उसके पैर दवायेगी और उसके पखा झलेगी। उपासक की महत्त्वाकाक्षा उपास्य के ही प्रति होती है। वह उसको सोने का मदिर वनायेगा, उसके सिंहासन को रत्नो से सजायेगा, स्वर्ग से पुष्प लाकर उसके भेंट करेगा, पर वह स्वय वही उपासक रहेगा। जटा के स्थान पर मुकुट या कौपीन की जगह पीतावर की लालसा उसे कभी नही सताती।

सुभद्रा ने उस वक्त तक दम न लिया, जव तक केशव ने विलायत जाने का वादा न कर दिया। माता-पिता ने उसे कलकिनी, और न-जाने क्या-क्या कहा, पर अत मे सहमत हो गये। सव तैयारियाँ हो गईं। स्टेशन समीप ही था। वहाँ गाड़ी देर तक खडी रहती है। स्टेशनो के समीपस्थ गाँवो के निवासियो के लिए गाड़ी का आना शत्रु का धावा नही, मित्र का पदार्पण है। गाड़ी आ गई। सुभद्रा जलपान वनाकर पति को हाथ धुलाने आई थी। इस समय केशव की प्रेम-कातर आपत्ति ने उसे एक क्षण के लिए विचलित कर दिया। हा! कौन जानता है तीन साल में क्या हो जाय! मन मे एक आवेश उठा—कह दूं प्यारे मत जाओ। थोड़ा ही खायेंगे, मोटा ही पहनेंगे, रो-रोकर दिन तो न कटेंगे। कभी केशव के आने मे एक-आध महीना लग जाता था, तो वह विकल हो जाया करती थी। यही जी चाहता था उड़कर उनके पास पहुँच जाएँ। फिर ये निर्दय तीन वर्ष कैसे कटेंगे? लेकिन उसने वड़ी कठोरता से इन निराशाजनक भावों को ठुकरा दिया और काँपते हुए कठ से वोली—'जी तो मेरा भी यही चाहता है।' जव तीन साल का अनुमान करती हूँ, तो एक कल्प-सा मालूम होता है। लेकिन जव विलायत मे तुम्हारे आदर और सम्मान का ध्यान करती हूँ, तो ये तीन साल दिन तीन से मालूम होते है। तुम तो जहाज पर पहुँचते ही मुझे भूल जाओगे। नए-नए दृश्य तुम्हारे मनोरंजन के लिए आ खड़े होगे। योरप पहुँचकर विद्वानो

के सत्संग में तुम्हें घर की याद भी न आयेगी। मुझे तो रोने के सिवा और कोई धंधा नही है। यही स्मृतियाँ ही मेरे जीवन का आधार होंगी। लेकिन क्या करूँ, जीवन की भोग-लालसा तो नही मानती। फिर जिस वियोग का अत जीवन की सारी विभूतियाँ अपने साथ लायेगा वह वास्तव मे तपस्या है। तपस्या के बिना तो वरदान नही मिलता।

केशव को भी अब ज्ञात हुआ कि क्षणिक मोह के आवेश मे स्वभाग्य-निर्माण का ऐसा अच्छा अवसर त्याग देना मूर्खता है। खड़े होकर बोले—'बहुत रोना-धोना मत, नही तो मेरा जी न लगेगा।' सुभद्रा ने उनका हाथ पकड़कर हृदय से लगाते हुए उनके मुँह की ओर सजल नेत्रों से देखा और बोली—'पत्र बराबर भेजते रहना।' 'अवश्य भेजूंगा। प्रतिसप्ताह लिखूँगा।'

सुभद्रा ने सजल नेत्रों से मुसकराकर कहा—'देखना विलायती मिसों के जाल मे न फँस जाना।' केशव फिर चारपाई पर बैठ गया और बोला—'अगर तुम्हे यह सदेह है तो लो मै जाऊँगा ही नही।'

सुभद्रा ने उसके गले मे बाहे डालकर विश्वासपूर्ण दृष्टि से देखा और बोली—'मै दिल्लगी कर रही थी।'

"अगर इद्रलोक की अप्सरा भी आ जाय तो आँख उठाकर न देखूं। ब्रह्मा ने ऐसी दूसरी सृष्टि की ही नही।"

"बीच में कोई छुट्टी मिले, तो एक बार चले आना।"

"नही प्रिये, बीच मे शायद छुट्टी न मिलेगी। मगर जो मैने सुना कि तुम रो-रोकर घुली जाती हो, दाना-पानी छोड़ दिया है, तो मै अवश्य चला आऊँगा। वे फूल जरा भी कुम्हलाने न पावे।"

दोनों गले मिलकर बिदा हो गये। बाहर संबंधियो और मित्रों का एक समूह खड़ा था। केशव ने बड़ो के चरण छुए, छोटो को गले लगाया और स्टेशन की ओर चले। मित्रगण स्टेशन तक पहुँचाने गये। एक क्षण मे गाड़ी यात्री को लेकर चल दी।

उधर केशव गाडी मे बैठा हुआ पहाडियो की बहार देख रहा था, इधर सुभद्रा भूमि पर पड़ी सिसकियाँ भर रही थी।

(२)

दिन गुजरने लगे, उसी तरह जैसे बीमारी के दिन कटते है, दिन पहाड़, रात काली बला, रात भर मनाते गुजरती थी कि किसी तरह भोर हो, भोर होता तो मनाने लगती जल्दी शाम हो। मैके गई कि वहाँ जी बहलेगा, दस पाँच दिन परिवर्तन का कुछ असर हुआ, फिर उससे भी बुरी दशा हुई, भागकर ससुराल चली आई। रोगी करवट बदलकर आराम का अनुभव करता है।

पहले पाँच-छ महीनो तक तो केशव के पत्र पंद्रहवे दिन बराबर मिलते रहे। उनमे वियोग-दु.ख के नये-नये दृश्यो का वर्णन अधिक होता था। कुशल से है, उसके लिए यही काफी था। इसके प्रतिकूल वह पत्र लिखती, तो विरह-व्यथा के सिवा उसे कुछ सूझता ही न था। कभी-कभी जब जी बेचैन हो जाता, तो पछताती कि व्यर्थ जाने दिया। कही एक दिन मर जाऊँ, तो उनके दर्शन भी न हो।

लेकिन छठे महीने से पत्रो में भी विलब होने लगा। कई महीने तक तो महीने में एक पत्र आता रहा, फिर वह भी बंद हो गया। सुभद्रा के ४, ६ पत्र पहुँच जाते, तो एक पत्र आ जाता, वह भी बे-दिली से लिखा हुआ—काम की अधिकता और समय के अभाव के रोने से भरा हुआ। एक वाक्य भी ऐसा नही, जिससे हृदय को शाति हो, जो टपकते हुए दिल का मरहम रखे। हाय ! आदि से अत तक 'प्रिये' शब्द का नाम नही ! सुभद्रा अधीर हो उठी। उसने योरप-यात्रा का निश्चय कर लिया। वह सारे कष्ट सह लेगी, सिर पर जो कुछ पडेगी झेल लेगी, केशव को आँखो से देखती तो रहेगी। वह इस बात को उनसे गुप्त रक्खेगी, उनकी कठिनाइयों को और न बढ़ावेगी, उनसे बोलेगी भी नही, केवल उन्हे कभी-कभी आँख भरकर देख लेगी। यह उसकी शाँति के लिए

काफी होगा। उसे क्या मालूम था कि उसका केशव अब उसका नही रहा। वह अव एक दूसरी ही कामिनी के प्रेम का भिखारी है।

सुभद्रा कई दिनो तक इस प्रस्ताव को मन में रक्खे हुए सोचती रही। उसे किसी प्रकार की शका न होती थी। समाचार-पत्रों के पढते रहने से उसे समुद्री यात्रा का हाल मालूम होता रहता था। एक दिन उसने अपने सास-ससुर के सामने अपना निश्चय प्रकट किया। उन लोगों ने बहुत समझाया, रोकने की वहुत चेष्टा की, लेकिन उसने अपना हठ न छोड़ा। आखिर जव लोगों ने देखा कि यह किसी तरह नही मानती, तो राजी हो गये। मैकेवाले भी समझाकर हार गए। कुछ रुपये उसने स्वयं जमा कर रक्खे थे, कुछ ससुराल मे मिले, माँ-बाप ने भी मदद की। रास्ते के खर्च की चिता न रही। इंगलैंड पहुँचकर वह क्या करेगी, इसका अभी उसने कुछ निश्चय न किया। इतना जानती थी कि परिश्रम करनेवाले को रोटियों की कमी नही रहती।

विदा होते समय सास और ससुर दोनो स्टेशन तक आये। जव गाड़ी ने सीटी दी, तो सुभद्रा ने हाथ जोडकर कहा—'मेरे जाने का समाचार वहाँ न लिखिएगा। नही उन्हे चिंता होगी और पढने मे उनका जी न लगेगा।'

ससुर ने आश्वासन दिया। गाड़ी चल दी।

(३)

लदन के उस हिस्से मे जहाँ इस समृद्धि के समय मे भी दरिद्रता का राज्य है, ऊपर के एक छोटे-से कमरे में सुभद्रा एक कुर्सी पर बैठी है। उसे यहाँ आय आज एक महीना हो गया है। यात्रा के पहले उसके मन में जितनी शकाएँ थी सभी शात होती जा रही है। वंबई बंदर में जहाज पर जगह पाने का प्रश्न बडी आसानी से हल हो गया। वह अकेली औरत न थी जो योरप जा रही हो। पाँच-छः स्त्रियाँ और भी उसी जहाज से जा रही थी। सुभद्रा को न जगह मिलने में कोई कठिनाई हुई, न मार्ग मे। यहाँ पहुँचकर और स्त्रियों से उसका सग छूट गया। कोई किसी विद्यालय मे चली गई,

दो-तीन अपने पतियो के पास चली गईं, जो यही पहले से आ गये थे। सुभद्रा ने इस महल्ले मे यह कमरा ले लिया। जीविका का प्रश्न भी उसके लिए बहुत कठिन न रहा। जिन महिलाओ के साथ वह आई थी, उनमें से कई उच्च अधिकारियो की पत्नियाँ थी। कई अच्छे-अच्छे अँगरेज घरानो से उनका परिचय था। सुभद्रा को दो महिलाओ को भारतीय संगीत और हिंदी भाषा सिखाने का काम मिल गया। शेष समय में वह कई भारतीय महिलाओ के कपड़े सीने का काम कर लेती है। केशव का निवास-स्थान वहाँ से निकट है, इसी लिए सुभद्रा ने इस महल्ले को पसंद किया है। कल केशव उसे दिखाई दिया था। ओह! उसे उतरते देखकर उसका चित्त कितना आतुर हो उठा था। वस यही मन मे आता था कि दौडकर उनके गले से लिपट जाय और पूछे—'क्यो जी, तुम यहाँ आते ही वदल गये। याद है, तुमने चलते समय क्या-क्या वादे किये थे?' उसने वड़ी मुश्किल से अपने को रोका था। तव से इस वक्त तक उसे मानों नशा-सा छाया हुआ है। वह उनके इतने समीप है! चाहे तो रोज उन्हे देख सकती है, उनकी वातें सुन सकती है, हाँ उन्हे स्पर्श तक कर सकती है। अव वे उससे भागकर कहाँ जायेंगे! उनके पत्रो की अव उसे क्या चिंता है। कुछ दिनो के वाद, सभव है, वह उनके होटल के नौकरों से जो चाहे पूछ सकती है।

सध्या हो गई थी। धुएँ मे विजली की लालटेने चौंधी आँखो की भाँति ज्योतिहीन-सी हो रही थी। गली मे स्त्री-पुरुष सैर करने चले जा रहे थे। सुभद्रा सोचने लगी, इन लोगों को आमोद से कितना प्रेम है, मानो किसी को चिंता ही नही, मानो सभी सपन्न है। जभी ये लोग इतने एकाग्र होकर सव काम कर सकते है। जिस समय जो काम करते है, जी-जान से करते है। खेलने की उमग है, तो काम करने की भी उमंग है। और एक हम है कि न हँसते है न रोते है, मौन वने रहते है, स्फूर्ति का काम नही, काम तो सारे दिन करते है, भोजन करने की फुरसत भी नही मिलती, पर वास्तव मे चौथाई समय भी काम मे नही लगाते।

केवल काम करने का बहाना करते है। मालूम होता है, जाति प्राण-शून्य हो गई है।

सहसा उसने केशव को जाते देखा। हाँ, केशव ही था। वह कुर्सी से उठकर बरामदे में चली आई। प्रबल इच्छा हुई कि जाकर उनके गले से लिपट जाय। उसने अगर अपराध भी किया है, तो उन्ही के कारण तो। यदि वे बराबर पत्र लिखते जाते, तो वह क्यों आती?

लेकिन केशव के साथ यह युवती कौन है? अरे! केशव उसका हाथ पकड़े हुए है। दोनों मुसकरा-मुसकरा कर बाते करते चले जाते है। यह युवती कौन है?

सुभद्रा ने ध्यान से देखा। युवती का रग साँवला था, वह भारतीय बालिका थी। उसका पहनावा भारतीय था। इससे ज्यादा सुभद्रा को और कुछ न दिखाई दिया। उसने तुरत जूते पहने, द्वार बद किया और एक क्षण मे गली मे आ पहुँची। केशव अब दिखाई न देता था, पर वह जिधर गया था उधर ही वह बड़ी तेजी से लपकी चली जाती थी। उसके पाँव इतनी तेजी से उठ रहे थे, मानो दौड़ रही हो। पर इतनी जल्द दोनो कहाँ अदृश्य हो गये। अब तक उसे उन लोगों के समीप पहुँच जाना चाहिए था। शायद दोनों किसी बस पर जा बैठे!

अब वह गली समाप्त करके एक चौडी सडक पर आ पहुँची थी। दोनो तरफ बड़ी-बडी जगमगाती हुई दुकाने थी। कदम-कदम पर होटल और रेस्ट्राँ थे। सुभद्रा दोनो ओर सचेष्ट नेत्रो से ताकती, पग-पग पर भ्राति के कारण मचलती कितनी दूर निकल गई, कुछ खबर नही।

फिर उसने सोचा, यों कहाँ तक चली जाऊँगी, कौन जाने किधर गये। चलकर फिर अपने बरामदे से देखूँ। आखिर इधर से गये है तो इधर ही से लौटेंगे भी। यह खयाल आते ही वह घूम पड़ी और उसी तरह दौड़ती हुई अपने स्थान की ओर चली। जब वहाँ पहुँची, तो बारह बच गए थे, और इतनी देर उसे चलते ही गुजरा! एक क्षण भी उसने कही विश्राम नही किया!

वह ऊपर पहुँची, तो गृह-स्वामिनी ने कहा—'तुम्हारे लिए वड़ी देर से भोजन रक्खा हुआ है।'

सुभद्रा ने भोजन अपने कमरे मे मँगा लिया, पर खाने की सुधि किसे थी। वह उसी बरामदे में, उसी तरफ टकटकी लगाये खडी थी, जिधर से केशव गया था।

एक वज गया, दो वजा, फिर भी केशव नही लौटा। उसने मन में कहा, वे किसी दूसरे मार्ग से चले गये। मेरा यहाँ खड़ा रहना व्यर्थ है। चलूं, सो रहूँ। लेकिन फिर खयाल आ गया कही आ न रहे हो।

मालूम नही उसे कब नीद आ गई।

(४)

दूसरे दिन प्रातःकाल सुभद्रा अपने काम पर जाने को तैयार हो रही थी कि एक युवती रेशमी साड़ी पहने आकर खड़ी हो गई और मुसकराकर वोली—'क्षमा कीजिएगा, मैंने वहुत सवेरे आपको कष्ट दिया। आप तो कही जाने को तैयार मालूम होती है।'

सुभद्रा ने एक कुर्सी वढाते हुए कहा—'हाँ, एक काम से बाहर जा रही थी। मै आपकी क्या सेवा कर सकती हूँ?'

यह कहते हुए सुभद्रा ने युवती को सिर से पाँव तक उस आलोचनात्मक दृष्टि से देखा, जिससे स्त्रियाँ ही देख सकती है। सौंदर्य की किसी परिभाषा से भी उसे सुदरी न कहा जा सकता था। उसका रंग साँवला, मुँह कुछ चौडा, नाक कुछ चिपटी, कद भी छोटा और शरीर भी कुछ स्थूल था। आँखो पर ऐनक लगी हुई थी। लेकिन इन सव कारणो के होते हुए भी उसमे कुछ ऐसी वात थी जो आँखो को अपनी ओर खीच लेती थी। उसकी वाणी इतनी मधुर, इतनी सयमित, इतनी विनम्र थी कि जान पडता था कि किसी देवी के वरदान हो। एक-एक अंग-प्रत्यग से प्रतिभा विकीर्ण हो रही थी। सुभद्रा उसके सामने हलकी, तुच्छ मालूम होती थी। युवती ने कुर्सी पर वैठते हुए कहा—

'अगर मैं भूलती हूँ तो मुझे क्षमा कीजिएगा। मैंने सुना है कि आप कुछ कपड़े भी सीती हैं, जिसका प्रमाण यह है कि यहाँ सींविग मशीन मौजूद है।'

सुभद्रा—मै दो लेडियो को भाषा पढाने जाया करती हूँ। शेष समय मे कुछ सिलाई भी कर लेती हूँ। आप कपडे लाई है ?

'नही, अभी कपडे नही लाई।' यह कहते हुए उस युवती ने लज्जा से सिर झुकाकर मुस्कराते हुए कहा—'बात यह है कि ..... मेरी शादी होने जा रही है। मै अपने वस्त्राभूषण सब हिदुस्तानी रखना चाहती हूँ। विवाह भी वैदिक रीति से ही होगा। ऐसे कपडे यहाँ आप ही तैयार कर सकती है।'

सुभद्रा ने हँसकर कहा—'मै ऐसे अवसर पर आपके जोडे तैयार करके अपने को धन्य समझूँगी। वह शुभ तिथि कब है ?'

युवती ने सकुचाते हुए कहा—'वह तो कहते है इसी सप्ताह मे हो जाय, पर मै उन्हे टालती आती हूँ। मैंने तो चाहा था कि भारत लौटने पर विवाह होता, पर वह इतने उतावले हो रहे है कि कुछ कहते नही बनता। अभी तो मैने यही कहकर टाला कि मेरे क़पडे सिल रहे है।'

सुभद्रा—तो मै आपके जोडे बहुत जल्द दे दूँगी।

युवती ने हँसकर कहा—'मै तो चाहती थी कि आप महीनों लगा देती।'

सुभद्रा—'वाह, मै इस शुभ कार्य मे क्यों विघ्न डालने लगी। मैं इसी सप्ताह मे आपके कपडे देखूँगी, और उनसे इसका पुरस्कार लूँगी।'

युवती खिलखिलाकर हँसी। कमरों मे प्रकाश की लहरे-सी उठ गईं। बोली—'इसके लिए तो पुरस्कार वह देगे। बडी खुशी से देगे और तुम्हारे कृतज्ञ होगे। मैंने तो प्रतिज्ञा की थी कि विवाह के बधन मे पड़ूँगी ही नही, पर उन्होने मेरी प्रतिज्ञा तोड दी। अब मुझे मालूम हो रहा है कि प्रेम की वेड़ियाँ कितनी आनदमयी होती है। तुम तो अभी हाल ही मे यहाँ आई हो। तुम्हारे पति भी साथ होगे ?'

सुभद्रा ने बहाना किया। बोली—वह इस समय जर्मनी में है। संगीत से उन्हे बहुत प्रेम है। संगीत ही का अध्ययन करने के लिए वहाँ गये है। तुम भी कुछ सगीत जानती हो?

'बहुत थोडा।'

"केशव को सगीत से बडा प्रेम है।"

केशव का नाम सुनकर सुभद्रा को ऐसा मालूम हुआ, जैसे बिच्छू ने काट लिया हो। वह चौंक पड़ी।

युवती ने पूछा—आप चौंक कैसे गईं? क्या केशव को जानती हो?

सुभद्रा ने बात बनाकर कहा—'नही, मैंने यह नाम कभी नही सुना। वह यहाँ क्या करते है?'

सुभद्रा को खयाल आया, क्या केशव किसी दूसरे आदमी का नाम नही हो सकता। इसी लिए उसने यह प्रश्न किया था। उसी जवाब पर उसकी जिदगी का फैसला था।

युवती ने कहा—'वह यहाँ विद्यालय मे पढ़ते है। भारत-सरकार ने उन्हे भेजा है। अभी साल-भर भी तो आये नही हुए। तुम देखकर प्रसन्न होगी। तेज और बुद्धि की मूर्ति समझ लो। यहाँ के अच्छे-अच्छे प्रोफेसर उनका आदर करते है। ऐसा सुंदर भाषण तो मैंने और किसी के मुँह से सुना ही नही। उनका जीवन आदर्श है। मुझसे उन्हे क्यो प्रेम हो गया, मुझे इसका आश्चर्य है। मुझमें न रूप है, न लावण्य। यह मेरा सौभाग्य है। तो मै शाम को कपड़े लेकर आऊँगी।'

सुभद्रा ने मन मे उठते आवेश के वेग को सँभालकर कहा—'अच्छी बात है।'

जब युवती चली गई, तो सुभद्रा फूट-फूटकर रोने लगी। ऐसा जान पड़ता था मानों देह मे रक्त ही नही, मानों प्राण निकल गये हैं। वह कितनी नि.सहाय, कितनी दुर्बल है,इसका आज अनुभव हुआ। ऐसा मालूम हुआ मानों संसार में उसका कोई नही-है। अब उसका जीवन व्यर्थ है। उसके लिए अब जीवन में रोने के सिवा और क्या है? उसकी

सारी ज्ञानेन्द्रियाँ शिथिल-सी हो गई थी मानो वह किसी ऊँचे वृक्ष से गिर पड़ी हो। हा! यह उसके प्रेम और भक्ति का पुरस्कार है। उसने कितना आग्रह करके केशव को यहाँ भेजा था। इसी लिए कि यहाँ आते ही वे उसका सर्वनाश कर दे।

पुरानी बाते याद आने लगी। केशव की वह प्रेमातुर आँखे सामने आ गई। वह सरल, सहज मूर्ति आँखो के सामने नाचने लगी। उसका जरा सिर धमकता था, तो केशव कितना व्याकुल हो जाता था। एक बार जब उसे फसली बुखार आ गया था, तो केशव कितना घबराकर, पद्रह दिन की छुट्टी लेकर घर आ गया था और सिरहाने बैठा रात-रात भर पंखा झलता रहता था। वही केशव अब इतनी जल्द उससे ऊब उठा! उसके लिए सुभद्रा ने कौन-सी बात उठा रक्खी। वह तो उसी को अपना प्राणाधार, अपना जीवनधन, अपना सर्वस्व समझती थी। नही-नही, केशव का दोष नही, सारा दोष इसी का है, इसी ने अपनी मधुर बातों से उन्हे वशीभूत कर लिया है। इसकी विद्या, बुद्धि और वाक्पटुता ही ने उनके हृदय पर विजय पाई है। हाय! उसने कितनी बार केशव से कहा था, मुझे भी पढाया करो, लेकिन उन्होने हमेशा यही जवाब दिया तुम जैसी हो मुझे वैसी ही पसद हो। मै तुम्हारी स्वाभाविक सरलता को पढा-पढ़ाकर मिटाना नही चाहता। केशव ने उसके साथ कितना बड़ा अन्याय किया है। लेकिन यह उनका दोष नही, यह इसी यौवन-मतवाली छोकरी की माया है।

सुभद्रा को इस ईर्ष्या और दुःख के आवेश मे अपने काम पर जाने की सुध न रही। वह कमरे मे इस तरह टहलने लगी जैसे किसी ने जबरदस्ती उसे बंद कर दिया हो। कभी दोनों मुट्ठियाँ बँध जाती, कभी दाँत पीसने लगती, कभी ओंठ काटती। उन्माद की-सी दशा हो गई। आँखों में भी एक तीव्र ज्वाला चमक उठी। ज्यों-ज्यों केशव के इस निष्ठुर आघात को सोचती, उन कष्टो को याद करती, जो उसने उसके लिए झेले थे, उसका चित्त प्रतीकार के लिए विकल होता जाता था। अगर कोई बात हुई

होती, आपस मे कुछ मनोमालिन्य का लेश भी होता, तो उसे इतना दु:ख न होता। यह तो उसे ऐसा मालूम होता था कि मानो कोई हँसते-हँसते अचानक गले पर चढ बैठे। अगर वह उनके योग्य नही थी, तो उन्होने उससे विवाह ही क्यो किया था! विवाह करने के वाद भी उसे क्यो न ठुकरा दिया था! क्यो प्रेम का वीज वोया था! और आज जव वह वीज पल्लवो से लहराने लगा, उसकी जड़ें उसके अतस्तल के एक-एक अणु मे प्रविष्ट हो गईं, उसका सारा रक्त, उसका सारा उत्सर्ग उसको सीचने और पालने मे प्रवृत्त हो गया, तो वह आज उसे उखाड़कर फेंक देना चाहते हैं। क्या उसके हृदय के टुकडे-टुकडे हुए विना वृक्ष उखड़ जायेगा?

सहसा उसे एक वात याद आ गई। हिंसात्मक-सतोप से उसका उत्तेजित मुख-मडल और भी कठोर हो गया। केशव ने अपने विवाह की वात इस युवती से गुप्त रक्खी होगी! सुभद्रा इसका भडाफोड करके केशव के सारे मंसूवो को धूल मे मिला देगी। उसे अपने ऊपर क्रोध आया कि युवती का पता क्यो न पूछ लिया। उसे एक पत्र लिखकर केशव की नीचता, स्वार्थपरता और कायरता की कलई खोल देती, उसके पाडित्य, प्रतिभा और प्रतिष्ठा को धूल में मिला देती। खैर, सध्या-समय तो वह कपडे लेकर आवेगी ही। उस समय उससे सारा कच्चा चिट्ठा वयान कर दूँगी।

(५)

सुभद्रा दिन-भर युवती का इतजार करती रही। कभी वरामदे में आकर इधर-उधर निगाह दौड़ाती, कभी सडक पर देखती, पर उसका कही पता न था। मन मे झुँझलाती थी कि उसने क्यो उसी वक्त सारा वृत्तान्त न कह सुनाया।

केशव का पता उसे मालूम था। उस मकान और गली का नवर तक याद था, जहाँ से वह उसे पत्र लिखा करता था। ज्यो-ज्यो दिन ढलने लगा और युवती के आने मे विलव होने लगा, उसके मन मे एक

तरंग-सी उठने लगी कि जाकर केशव को फटकारे, उसका सारा नशा उतार दे, कहे—तुम इतने भयंकर हिंसक हो, इतने महान् धूर्त हो, यह मुझे मालूम न था। तुम यही विद्या सीखने यहाँ आये थे? तुम्हारे सारे पांडित्य का यही फल है। तुम एक अबला को, जिसने तुम्हारे ऊपर अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया, यों छल सकते हो! तुममे क्या मनुष्यता नाम को भी नही रह गई। आखिर तुमने मेरे लिए क्या सोचा है? मै सारी जिन्दगी तुम्हारे नाम को रोती रहूँ! लेकिन अभिमान हर बार उसके पैरो को रोक लेता। नही, जिसने उसके साथ ऐसा कपट किया है, उसका इतना अपमान किया है, उसके पास वह न जायगी। वह उसे देखकर अपने आँसुओं को रोक सकेगी या नही, इसमें उसे संदेह था; और केशव के सामने वह रोना नही चाहती थी। अगर वह उससे घृणा करता है, तो वह भी उससे घृणा करेगी। संध्या भी हो गई, पर युवती न आई, बत्तियाँ भी जली; पर उसका पता नही।

एकाएक उसे अपने कमरे के द्वार पर किसी के आने की आहट मालूम हुई। वह कूदकर बाहर निकल आई। युवती कपडो का एक पुलिंदा लिये सामने खड़ी थी। सुभद्रा को देखते ही बोली—क्षमा करना, मुझे आने मे देर हो गई। बात यह है कि केशव को किसी बड़े जरूरी काम से जर्मनी जाना है। वहाँ उन्हे एक महीने से ज्यादा लग जायगा। वह चाहते है कि मै भी उनके साथ चलूँ। मुझसे उन्हे अपना थीसिस लिखने मे बडी सहायता मिलेगी। बर्लिन के पुस्तकालयो को छानना पडेगा। मैंने भी इसे स्वीकार कर लिया है। केशव की इच्छा है कि जर्मनी जाने के पहले हमारा विवाह हो जाय। कल संध्या-समय संस्कार हो जायगा। अब ये कपडे मुझे आप जर्मनी से लौटने पर दीजिएगा। विवाह के अवसर पर हम मामूली कपड़े पहन लेगे। और करती क्या? इसके सिवा कोई उपाय न था। केशव का जर्मनी जाना अनिवार्य है।

सुभद्रा ने कपडो को मेज पर रखकर कहा—'आपको धोखा दिया गया है।'

युवती ने घबड़ाकर पूछा—'धोखा! कैसा धोखा! मै बिलकुल नही समझी। तुम्हारा मतलब क्या है?'

सुभद्रा ने सकोच के आवरण को हटाने की चेष्टा करते हुए कहा—'केशव तुम्हे धोखा देकर तुमसे विवाह करना चाहता है।'

"केशव ऐसा आदमी नही है जो किसी को धोखा दे। क्या तुम केशव को जानती हो?"

"केशव ने तुमसे अपने विषय में सब कुछ कह दिया है?"

"सब कुछ।"

"कोई बात नही छिपाई।"

"मेरा तो यही विचार है कि उन्होने एक बात भी नही छिपाई।"

"तुम्हे मालूम है कि उसका विवाह हो चुका है?"

युवती की मुख-ज्योति कुछ मलिन पड़ गई, उसकी गरदन लज्जा से झुक गई। अटक-अटककर बोली—हाँ ...... उन्होने मुझसे .... यह बात कही थी।

सुभद्रा परास्त हो गई। घृणा-सूचक नेत्रो से देखती हुई बोली—'यह जानते हुए भी तुम केशव से विवाह करने पर तैयार हो?'

युवती ने अभिमान से देखकर कहा—'तुमने केशव को देखा है?"

"नही, मैंने उन्हे कभी नही देखा।"

"फिर तुम उन्हे कैसे जानती हो?"

"मेरे एक मित्र ने मुझसे यह बात कही है। वह केशव को जानता है।"

"अगर तुम एक बार केशव को देख लेती, तो मुझसे यह प्रश्न न करती। एक नही, अगर उन्होने एक सौ विवाह किये होते, तो भी मैं इनकार न करती। उन्हे देखकर फिर मेरी आँख और किसी पर उठती ही नही। अगर उनसे विवाह न करूँ, तो फिर मुझे जीवन-भर अविवाहित ही रहना पड़ेगा। जिस समय वे मुझसे बाते करने लगते है, मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मेरी आत्मा पुष्प की भाँति खिली जा रही है। मैं उसमें प्रकाश और विकाश का प्रत्यक्ष अनुभव करती हूँ। दुनिया चाहे

जितना हँसे, चाहे जितनी निंदा करे, मैं केशव को अब नही छोड सकती। उनका विवाह हो चुका है, यह सत्य है, पर उस स्त्री से उनका मन कभी नही मिला। यथार्थ मे उनका विवाह अभी नही हुआ। वह कोई साधारण, अर्द्धशिक्षित बालिका है। तुम्ही सोचो, केशव जैसा विद्वान्, उदारचेता, मनस्वी पुरुष ऐसी बालिका के साथ कैसे प्रसन्न रह सकता है? तुम्हें कल मेरे विवाह मे चलना पडेगा।"

सुभद्रा का चेहरा तमतमाया जा रहा था। केशव ने उसे इतने काले रंगो मे रँगा है, यह सोचकर उसका रक्त खौल रहा था। जी मे आता था, इसी क्षण इसको दुत्कार दूं, लेकिन उसके मन मे कुछ और ही मसूबे पैदा होने लगे थे। उसने गभीर, पर उदासीन भाव से पूछा—'केशव ने कुछ उस स्त्री के विषय मे नही कहा? वह अब क्या करेगी, कैसे रहेगी?'

युवती ने तत्परता से कहा—'घर पहुँचने पर वे उससे केवल यही कह देंगे कि हम और तुम अब स्त्री और पुरुष नही रह सकते। उसके भरण-पोषण का वे उसके इच्छानुसार प्रबंध कर देंगे। इसके सिवा वे और क्या कर सकते है? हिंदू-नीति मे पति-पत्नी मे विच्छेद नही हो सकता। पर केवल स्त्री को पूर्ण रीति से स्वाधीन कर देने के विचार से वह ईसाई या मुसलमान होने पर भी तैयार है। वे तो अभी उसे इसी आशय का पत्र लिखने जा रहे थे, पर मैंने ही रोक लिया। मुझे उस अभागिनी पर बडी दया आती है। मैं तो यहाँ तक तैयार हूँ कि अगर उसकी इच्छा हो, तो वह भी हमारे साथ रहे। मै उसे अपनी बड़ी बहन समझूंगी। किंतु केशव इससे सहमत नही होते।'

सुभद्रा ने व्यंग से कहा—'रोटी-कपड़ा देने को तो तैयार ही है, स्त्री को इसके सिवा और क्या चाहिए!'

युवती ने व्यग की कुछ परवा न करके कहा—'तो मुझे लौटने पर कपडे तैयार मिलेगे न?'

सुभद्रा—"हाँ, मिल जायँगे।"

युवती—"कल तुम सध्या-समय आओगी ?"

सुभद्रा—"नही, खेद ह, मुझे अवकाश नही है।"

युवती ने कुछ न कहा। चली गई।

(६)

सुभद्रा कितना ही चाहती थी कि इस समस्या पर शात-चित्त होकर विचार करे, पर हृदय मे मानो ज्वाला-सी दहक रही थी। केशव के लिए वह अपने प्राणो का कोई मूल्य नही समझती थी। वही केशव उसे पैरो से ठुकरा रहा ह। यह आघात इतना आकस्मिक, इतना कठोर था कि उसकी चेतना की सारी कोमलता मूर्च्छित हो गई। उसका एक-एक अणु प्रतीकार के लिए तडपने लगा। अगर यही समस्या इसके विपरीत होती, तो क्या सुभद्रा की गरदन पर छुरी न फिर गई होती। केशव उसके खून का प्यासा न हो जाता। क्या पुरुष हो जाने से ही सभी बातें क्षम्य और स्त्री हो जाने से सभी बाते अक्षम्य हो जाती है ? नही, इस निर्णय को सुभद्रा की विद्रोही आत्मा इस समय स्वीकार नही कर सकती। उसे नारियो के ऊँचे आदर्शो की परवा नही है। उन स्त्रियो मे आत्माभिमान न होगा। वे पुरुषो के पैरो की जूतियाँ बनकर रहने ही मे अपना सौभाग्य समझती होगी। सुभद्रा इतना आत्माभिमान-शून्य नही है। वह अपने जीते-जी यह नही देख सकती कि उसका पति उसके जीवन का सर्वनाश करके चैन की वशी बजाये। दुनिया उसे हत्यारिनी, पिशाचिनी कहेगी; कहे, उसको परवा नही। रह रहकर उसके मन मे भयकर प्रेरणा होती थी कि इसी समय उसके पास चली जाये, और इसके पहले कि वह उस युवती के प्रेम का आनद उठाये, उसके जीवन का अंत कर दे। वह केशव की निष्ठुरता को याद करके अपने मन को उत्तेजित करती थी। अपने को धिक्कार-धिक्कार कर नारी-सुलभ शकाओ को दूर करती थी। क्या वह इतनी दुर्बल है ? क्या उसमे इतना साहस भी नही है ? इसी वक्त और कोई दुष्ट उसके कमरे मे घुस आवे और उसके सतीत्व का अपहरण करना चाहे, तो क्या वह उसका प्रतीकार न करेगी ? आखिर

आत्म-रक्षा के लिए तो उसने यह ही तो किया है। उसका प्रेम-प्रदर्शन केवल प्रवचना थी। वह केवल अपनी वासनाओं की तृप्ति के लिए उसके साथ प्रेम का स्वाँग भरता था। फिर उसका वध करना क्या उसका कर्त्तव्य नही ?

इस अतिम कल्पना से सुभद्रा कों वह उत्तेजना मिल गई, जो उसके भयकर सकल्प को पूरा करने के लिए आवश्यक थी। यही वह अवस्था है, जब स्त्री पुरुष के खून की प्यासी हो जाती है।

उसने खूँटी पर लटकता हुआ पिस्तौल उतार लिया और ध्यान से देखने लगी, मानों उसे कभी देखा न हो। कल सध्या-समय जब आर्य-मंदिर मे केशव और उसकी प्रेमिका एक दूसरे के संमुख बैठे हुए होंगे उसी समय वह इस गोली से केशव की प्रेम-लीलाओ का अत कर देगी। दूसरी गोली अपनी छाती में मार लेगी! क्या वह रो-रोकर अपना अधम जीवन काटेगी?

(७)

संध्या का समय था। आर्य-मंदिर के आँगन मे वर और वधू इष्ट मित्रो के साथ बैठे हुए थे। विवाह का संस्कार हो रहा था। उसी समय सुभद्रा पहुँची और बरामदे मे आकर एक खभे की आड़ मे इस भाँति खड़ी हो गई कि केशव का मुँह उसके सामने था। उसकी आँखों मे वह दृश्य खिच गया, जब आज से तीन साल पहले उसने इसी भाँति केशव को मंडप में बेठे हुए आड़ से देखा था। तब उसका हृदय कितना उच्छ्वसित हो रहा था। अतस्तल मे गुदगुदी-सी हो रही थी। कितना अपार अनुराग था, कितनी असीम अभिलाषाएँ थी, मानों जीवन-प्रभात का उदय हो रहा हो। जीवन मधुर संगीत की भाँति सुखद था, भविष्य उषास्वप्न की भाँति सुंदर। क्या यह वही केशव है? सुभद्रा को ऐसा भ्रम हुआ, मानों यह केशव नही है। हाँ, यह वह केशव नही था। यह उसी रूप और उसी नाम का कोई दूसरा मनुष्य था। अब उसकी मुस्कराहट मे, उसके नेत्रों मे, उसके शब्दो मे उसके हृदय को आकर्षित करनेवाली

कोई वस्तु न थी। उसे देखकर वह उसी भाँति निस्पद, निश्चल खड़ी है, मानो कोई अपरिचित व्यक्ति हो। अव तक केशव का-सा रूपवान्, तेजस्वी, सौम्य, शीलवान् पुरुष ससार मे न था। पर अव सुभद्रा को ऐसा जान पडा कि वहाँ वैठे हुए युवको मे और उसमे कोई अतर नही है। वह ईर्ष्याग्नि, जिसमे वह जली जा रही थी, वह हिंसा-कल्पना जो उसे यहाँ तक लाई थी, मानो एकदम शात हो गई। विरक्ति हिंसा से भी अधिक हिंसात्मक होती है—सुभद्रा की हिंसा-कल्पना मे एक प्रकार का ममत्व था—उसका केशव, उसका प्राणवल्लभ, उसका जीवनसर्वस्व और किसी का नही हो सकता। पर अव वह ममत्व नही है। वह उसका नही है, उसे अव परवा नही, उस पर किसका अधिकार होता है।

विवाह-सस्कार समाप्त हो गया, मित्रो ने वधाइयाँ दी, सहेलियो ने मंगल-गान किया, फिर लोग मेजो पर जा वैठे, दावत होने लगी, रात वारह वज गये; पर सुभद्रा वहीं पाषाण-मूर्ति की भाँति खडी रही, मानो कोई विचित्र स्वप्न देख रही हो। हाँ, अव उसे अपने हृदय मे एक प्रकार के शून्य का अनुभव हो रहा था, जैसे कोई वस्ती उजड़ गई हो, जैसे कोई संगीत वंद हो गया हो, जैसे कोई दीपक वुझ गया हो।

जव लोग मदिर से निकले, तो वह भी निकल आई, पर उसे कोई मार्ग न सूझता था। परिचित सडकें उसे भूली हुई-सी जान पड़ने लगी। सारा ससार ही वदल गया था। वह सारी रात सड़को पर भटकती फिरी, घर का कही पता नही। सारी दूकाने वंद हो गईं, सड़को पर सन्नाटा छा गया, फिर भी वह अपना घर ढूंढती हुई चली जा रही थी। हाय! क्या इस भाँति उसे जीवन-पथ मे भी भटकना पड़ेगा?

सहसा एक पुलिसमैन ने पुकारा—'मैडम, तुम कहाँ जा रही हो?'

सुभद्रा ने ठिठककर कहा—'कही नही।'

"तुम्हारा स्थान कहाँ है?"

"मेरा स्थान!"

"हा, तुम्हारा स्थान कहाँ है? मैं तुम्हे बडी देर से इधर-उधर भटकते देख रहा हूँ। किस स्ट्रीट मे रहती हो?"

सुभद्रा को उस स्ट्रीट का नाम तक न याद था।

"तुम्हे अपनी स्ट्रीट का नाम तक याद नही?"

"भूल गई, याद नही आता।"

सहसा उसकी दृष्टि सामने के एक साइनबोर्ड की तरफ उठी। ओह! यही तो उसकी स्ट्रीट है। उसने सिर उठाकर इधर-उधर देखा। सामने ही उसका डेरा था। और इसी गली मे, अपने ही घर के सामने, न-जाने कितनी देर से चक्कर लगा रही थी।

(८)

अभी प्रातःकाल ही था कि युवती सुभद्रा के कमरे मे पहुँची। वह उसके कपडे सी रही थी। उसका सारा तन-मन कपडों मे लगा हुआ था। कोई युवती इतनी एकाग्र-चित्त होकर अपना शृंगार भी न करती होगी। न-जाने उससे कौन-सा पुरस्कार लेना चाहती थी। उसे युवती के आने की खबर भी न हुई।

युवती ने पूछा—तुम कल मदिर मे नही आईं?

सुभद्रा ने सिर उठाकर देखा, तो ऐसा जान पडा मानो किसी कवि की कोमल कल्पना मूर्तिमयी हो गई है। उसकी रूप-छवि अनिद्य थी। प्रेम की विभूति रोम-रोम से प्रदर्शित हो रही थी। सुभद्रा दौडकर उसके गले से लिपट गई, जैसे उसकी छोटी बहन आ गई हो और बोली—हाँ, गई तो थी।

"मैंने तुम्हे नही देखा।"

"हाँ, मैं अलग थी।"

"केशव को देखा?"

"हाँ, देखा।"

"धीरे से क्यो बोली? मैंने कुछ झूठ कहा था!"

सुभद्रा ने सहृदयता से मुस्कराकर कहा—मैंने तुम्हारी आँखों से नहीं, अपनी आँखो से देखा। मुझे तो वे तुम्हारे योग्य नही जँचे। तुम्हे ठग लिया।

युवती खिलखिलाकर हँसी और बोली—'वाह! मै समझती हूँ, मैंने उन्हे ठगा है।'

सुभद्रा ने गंभीर होकर कहा—'एक बार वस्त्राभूषणों से सजकर अपनी छवि आइने मे देखो, तो मालूम हो।'

"तब क्या मै कुछ और हो जाऊँगी?"

"अपने कमरे से फर्श, परदे, तसवीरे, हँड़ियाँ, गमले आदि निकालकर देख लो, कमरे की शोभा वही रहती है?"

युवती ने सिर हिलाकर कहा—'ठीक कहती हो। लेकिन आभूषण कहाँ से लाऊँ! न-जाने अभी कितने दिनो मे बनने की नौबत आवे।'

"मै तुम्हे अपने गहने पहना दूंगी।"

"तुम्हारे पास गहने है?"

"बहुत। देखो, मै अभी लाकर तुम्हे पहनाती हूँ।"

युवती ने मुँह से तो बहुत नही-नही किया, पर मन मे प्रसन्न हो रही थी। सुभद्रा ने अपने सारे गहने उसे पहना दिये। अपने पास एक छल्ला भी न रक्खा। युवती को यह नया अनुभव था। उसे इस रूप में निकलते शर्म तो आती थी, पर उसका रूप चमक उठा था, इसमें संदेह न था। उसने आइने में अपनी सूरत देखी, तो उसकी आँखे जगमगा उठी, मानो किसी वियोगिनी को अपने प्रियतम का संवाद मिला हो। मन में गुदगुदी होने लगी। वह इतनी रूपवती है, उसे इसकी कल्पना भी न थी।

कही केशव इस रूप में उसे देख लेते, यह आकाक्षा उसके मन मे उदय हुई, पर कहे कैसे। कुछ देर बाद लज्जा से सिर झुकाकर बोली—'केशव मुझे इस रूप मे देखकर बहुत हँसेगे।'

सुभद्रा—'हँसेगे नही, बलैया लेंगे, आँखें खुल जायँगी। तुम आज इसी रूप में उनके पास जाना।'

युवती ने चकित होकर कहा—'सच! आप इसकी अनुमति देती हैं?'

सुभद्रा ने कहा—'बड़े हर्ष से।'

"तुम्हे संदेह न होगा।"

"बिलकुल नहीं।"

"और जो मैं दो-चार दिन पहने रहूँ?"

"तुम दो-चार महीने पहने रहो। आखिर, यहाँ पड़े ही तो है।"

"तुम भी मेरे साथ चलो।"

"नही, मुझे अवकाश नही है।"

"अच्छा, तो मेरे घर का पता नोट कर लो।"

"हाँ, लिख दो, शायद कभी आऊँ।"

एक क्षण मे युवती यहाँ से चली गई। सुभद्रा अपनी खिड़की पर उसे इस भाँति प्रसन्न-मुख खडी देख रही थी, मानो उसकी छोटी बहन हो। ईर्ष्या या द्वेष का लेश भी उसके मन मे न था।

मुश्किल से एक घंटा गुजरा होगा कि युवती लौटकर बोली—'सुभद्रा, क्षमा करना, मै तुम्हारा समय बहुत खराब कर रही हूँ। केशव बाहर खड़े है। बुला लूँ?'

एक क्षण के, केवल एक क्षण के लिए, सुभद्रा कुछ घबड़ा गई। उसने जल्दी से उठकर मेज पर पड़ी हुई चीजें इधर-उधर हटा दी, कपड़े करीने से रख दिये, अपने उलझे हुए बाल सँभाल लिये, फिर उदासीन भाव से मुस्कराकर बोली—'उन्हे तुमने क्यो कष्ट दिया, जाओ, बुला लो।'

एक मिनट मे केशव ने कमरे मे कदम रक्खा और चौककर पीछे हट गये, मानो पाँव जल गया हो। मुँह से एक चीख निकल गई। सुभद्रा गंभीर, शात, निश्चल अपनी जगह पर खड़ी रही। फिर हाथ बढ़ाकर बोली, मानो किसी अपरिचित व्यक्ति से बोल रही हो—'आइए मिस्टर केशव, मैं आपको ऐसी सुशीला, ऐसी सुदरी, ऐसी विदुषी रमणी पाने पर बधाई देती हूँ।'

केशव के मुंह पर हवाइयाँ उड रही थी। वह पथभ्रष्ट-सा बना खडा था। लज्जा और ग्लानि से उसके चेहरे पर एक रग आता था, एक रग जाता था। यह बात एक दिन होनेवाली थी अवश्य, पर इसी तरह अचानक उसकी सुभद्रा से भेट होगी, इसका उसे स्वप्न मे भी गुमान न था। सुभद्रा से वह यह बात कैसे कहेगा, इसको उसने खूब सोच लिया था, उसके आक्षेपो का उत्तर सोच लिया था, पत्र के शब्द तक मन मे अंकित कर लिये थे। यह सारी तैयारियाँ धरी रह गई और सुभद्रा से साक्षात् हो गया। सुभद्रा उसे देखकर जरा भी नही चौंकी, उसके मुख पर आश्चर्य, घबराहट या दुःख का एक चिह्न भी न दिखाई दिया। उसने उसी भाँति उससे बात की, मानो वह कोई अजनबी हो। यह यहाँ कब आई, कैसे आई, क्यो आई, कैसे गुजर करती है, यह और इसी तरह के असंख्य प्रश्न पूछने के लिए केशव का चित्त चंचल हो उठा। उसने सोचा था, सुभद्रा उसे धिक्कारेगी, विष खाने की धमकी देगी—निष्ठुर, निर्दय और न जाने क्या-क्या कहेगी। इन सब आपदाओ के लिए वह तैयार था, पर इस आकस्मिक मिलन, इस गर्वयुक्त उपेक्षा के लिए वह तैयार न था। वह प्रेम-व्रतधारिणी सुभद्रा इतनी कठोर, इतनी हृदय-शून्य हो गई है। अवश्य ही इसे सारी बाते पहले ही मालूम हो चुकी है। सबसे तीव्र आघात यह था कि इसने अपने सारे आभूषण इतनी उदारता से दे डाले और, कौन जाने वापस भी न लेना चाहती हो। वह परास्त और अप्रतिभ होकर एक कुर्सी पर बैठ गया। उत्तर मे एक शब्द भी उसके मुख से न निकला।

युवती ने कृतज्ञता का भाव प्रकट करने के भाव से कहा—"इनके पति इस समय जर्मनी मे है।" केशव ने आँखे फाडकर देखा, पर कुछ बोल न सका।

युवती ने फिर कहा—'बेचारी संगीत के पाठ पढाकर और कुछ कपडे सीकर अपना निर्वाह करती है। वह महाशय यहाँ आ जाते, तो उन्हे उनके सौभाग्य पर बधाई देती।'

केशव इस पर भी कुछ न बोल सका, पर सुभद्रा ने मुस्कराकर कहा—'वह मुझसे रूठे हुए है। बधाई पाकर और भी झल्लाते।'

युवती ने आश्चर्य्य से कहा—'तुम उन्ही के प्रेम से यहाँ आई, अपना घर-बार छोडा, यहाँ मेहनत-मजदूरी करके निर्वाह कर रही हो, फिर भी वह तुमसे रूठे हुए है! आश्चर्य्य !'

सुभद्रा ने उसी भाँति प्रसन्न-मुख से कहा—'पुरुष-प्रकृति ही आश्चर्य्य का विषय है। चाहे मि० केशव इसे स्वीकार न करे!'

युवती ने फिर केशव की ओर प्रेरणा-पूर्ण दृष्टि से देखा, लेकिन केशव उसी भाँति अप्रतिभ बैठा रहा। उसके हृदय पर यह नया आघात था। युवती ने उसे चुप देखकर उसकी तरफ से सफाई दी—'केशव स्त्री और पुरुष दोनो ही को समान अधिकार देना चाहते है।'

केशव डूब रहा था, तिनके का सहारा पाकर उसकी हिम्मत बँध गई। बोला—'विवाह केवल एक प्रकार का समझौता है। दोनो पक्षो को अधिकार है, जब चाहे, उसे तोड दे।' युवती ने हामी भरी—सभ्य समाज मे यह आदोलन बडे जोरो पर है।

सुभद्रा ने शका की—'किसी समझौते को तोडने के लिये कारण भी तो होना चाहिए।'

केशव ने भावो की लाठी का सहारा लेकर कहा—'जब इसका अनुभव हो जाय कि हम इस बधन से मुक्त होकर अधिक सुखी हो सकते है, तो यही कारण काफी है। स्त्री को यदि मालूम हो जाय कि वह दूसरे पुरुष के साथ' ..... .सुभद्रा ने बात काटकर कहा—'क्षमा कीजिए मि० केशव, मुझमे इतनी बुद्धि नही कि इस विषय पर आपसे विवाद कर सकूँ। आदर्श समझौता वही है, जो जीवनपर्यंत रहे। मै भारत की नही कहती। वहाँ तो स्त्री पुरुष की लौडी है। मै इँगलैड की कहती हूँ। यहाँ भी कितनी ही औरतो से मेरी बातचीत हुई है। वे तलाको की बढती हुई सख्या को देखकर खुश नही होती। विवाह का सबसे ऊँचा आदर्श उसकी पवित्रता और स्थिरता पर है। पुरुषों ने सदैव इस आदर्श को तोड़ा है,

स्त्रियो ने निवाहा है। अब पुरुषों का अन्याय स्त्रियों को किस ओर ले जायगा, नही कह सकती।'

इस गभीर और सयत कथन ने विवाद का अत कर दिया। सुभद्रा ने चाय मँगवाई। तीनो आदमियो ने पी। केशव पूछना चाहता था, अभी आप यहाँ कितने दिनो रहेगी, लेकिन न पूछ सका। वह यहाँ पंद्रह मिनट और रहा, लेकिन विचारो में डूबा हुआ। चलते समय उससे न रहा गया। पूछ ही बैठा—'अभी आप यहाँ कितने दिन और रहेगी?'

सुभद्रा ने जमीन की ओर ताकते हुए कहा—'कह नहीं सकती।'

"कोई जरूरत हो, तो मुझे याद कीजियेगा।"

"इस आश्वासन के लिए आपको धन्यवाद।"

केशव सारे दिन बेचैन रहा। सुभद्रा उसकी आँखो मे फिरती रही। सुभद्रा की बाते उसके कानो में गूंजती रही। अब उसे इसमें कोई सदेह न था कि उसी के प्रेम मे सुभद्रा यहाँ आई थी। सारी परिस्थिति उसकी समझ मे आ गई थी। उस भीषण त्याग का अनुमान करके उसके रोएँ खडे हो गये। यहाँ सुभद्रा ने क्या-क्या कष्ट झेले होगे, कैसी-कैसी यातनाएँ सही होगी, सब उसी के कारण। वह उस पर भार न बनना चाहती थी, इसी लिए तो उसने अपने आने की सूचना तक उसे न दी। अगर उसे पहले से मालूम होता कि सुभद्रा यही आ गई है, तो कदाचित् उसे उस युवती की ओर इतना आकर्षण ही न होता। चौकीदार के सामने चोर को घर मे घुसने का साहस नही होता। सुभद्रा को देखकर उसकी कर्तव्य-चेतना जाग्रत हो गई। उसके पैरो पर गिरकर उससे क्षमा माँगने के लिए उसका मन अधीर हो उठा। वह उसके मुँह से सारा वृत्तात सुनेगा। यह मौन उपेक्षा उसके लिए असह्य थी। दिन तो केशव ने किसी तरह काटा, लेकिन ज्यो ही रात को दस बजे, वह सुभद्रा से मिलने चला। युवती ने पूछा, कहाँ जाते हो?

केशव ने बूट का लेस बाँधते हुए कहा—जरा एक प्रोफेसर से मिलना है, इस वक्त आने का वादा कर चुका हूँ।

"जल्द आना।"

"बहुत जल्द आऊँगा।"

केशव घर से निकला, तो उसके मन मे कितनी ही विचार-तरंगें उठने लगी। कहीं सुभद्रा मिलने से इनकार कर दे, तो? नही, ऐसा नही हो सकता। वह इतनी अनुदार नही है। हाँ, यह हो सकता है कि वह अपने विषय मे कुछ न कहे। उसे शात करने के लिए उसने एक कथा की कल्पना कर डाली। मै ऐसा बीमार था कि बचने की आशा न थी। उर्मिला ने ऐसा तन्मय होकर उसकी सेवा-शुश्रूषा की कि उसे उससे प्रेम हो गया। व्यथा का सुभद्रा पर जो असर पड़ेगा, इसके विपय में केशव को कोई संदेह न था। परिस्थिति का बोध होने पर वह उसे क्षमा कर देगी। लेकिन इसका फल क्या होगा? क्या वह दोनों के साथ एक-सा प्रेम कर सकता है? सुभद्रा के देख लेने के बाद उर्मिला को शायद उसके साथ रहने मे आपत्ति न हो। आपत्ति हो ही कैसे सकती है। उससे यह बात छिपी नही है। हाँ, यह देखना है कि सुभद्रा भी इसे स्वीकार करती है, या नही। उसने जिस उपेक्षा का परिचय दिया है, उसे देखते हुए तो उसके मानने मे संदेह ही जान पड़ता है। मगर वह उसे मनावेगा, उसकी विनती करेगा, उसके पैरो पड़ेगा और अंत में उसे मनाकर ही छोड़ेगा। सुभद्रा के प्रेम और अनुराग का नया प्रमाण पाकर वह मानो एक कठोर निद्रा से जाग उठा था। उसे अब अनुभव हो रहा था कि सुभद्रा के लिए उसके हृदय में जो स्थान था, वह खाली पडा हुआ है। उर्मिला उस स्थान पर अपना आधिपत्य नही जमा सकती। अब उसे ज्ञात हुआ कि उर्मिला के प्रति उसका प्रेम केवल वह तृष्णा थी, जो स्वादयुक्त पदार्थों को देखकर ही उत्पन्न होती है। वह सच्ची क्षुधा न थी। अब फिर उसे उसी सरल सामान्य भोजन की इच्छा हो रही थी। विलासिनी उर्मिला कभी इतना त्याग कर सकती थी, इसमें उसे संदेह था।

सुभद्रा के घर के निकट पहुँचकर केशव का मन कुछ कातर होने लगा। लेकिन उसने जी कड़ा करके जीने पर कदम रक्खा और एक

क्षण मे सुभद्रा के द्वार पर पहुँचा, लेकिन कमरे का द्वार बंद था। अंदर भी प्रकाश न था। अवश्य ही वह कही गई है, आती ही होगी। तब तक उसने बरामदे मे टहलने का निश्चय किया।

सहसा मालकिन आती हुई दिखाई दी। केशव ने बढकर पूछा—आप बता सकती है, ये महिला कहाँ गई है?

मालकिन ने, उसे सिर से पाँव तक देखकर, कहा—'वे तो आज यहाँ से चली गईं।'

केशव ने हकबका कर पूछा—'चली गईं! कहाँ चली गईं?'

"यह तो मुझसे कुछ नही बताया।"

"कब गईं?"

"वे तो दोपहर को ही चली गईं।"

"अपना असबाब लेकर गईं?"

असबाब किसके लिए छोड जाती। हाँ, एक छोटा-सा पैकेट अपनी एक सहेली के लिए छोड़ गई है। उस पर 'मिसेज केशव' लिखा हुआ है। मुझसे कहा था कि यदि वे आ जायँ, तो उन्हे दे देना, नही डाक से भेज देना।

केशव को अपना हृदय इस तरह बैठता हुआ मालूम हुआ, जैसे सूर्य का अस्त होता है। एक गहरी साँस लेकर बोला—आप मुझे वह पैकेट दिखा सकती है? केशव मेरा ही नाम है।

मालकिन ने मुस्करा कर कहा—मिसेज केशव को कोई आपत्ति तो न होगी?

"तो फिर मै उन्हे बुला लाऊँ?"

"हाँ, उचित तो यही है।"

"बहुत दूर जाना पड़ेगा।"

केशव कुछ ठिठकता हुआ जीने की ओर चला, तो मालकिन ने फिर कहा—मै समझती हूँ, आप इसे लिये ही जाइए, व्यर्थ आपको क्यो

दौड़ाऊँ। मगर कल मेरे पास एक रसीद भेज दीजिएगा। शायद उसकी जरूरत पड़े।

यह कहते हुए उसने एक छोटा-सा पैकेट लाकर केशव को दे दिया। केशव पैकेट लेकर इस तरह भागा, मानो कोई चोर भागा जा रहा हो। इस पैकेट में क्या है, यह जानने के लिए उसका हृदय व्याकुल हो रहा था। उसे इतना विलंब असह्य था कि अपने स्थान पर जाकर उसे खोले। समीप ही एक पार्क था। वहाँ जाकर उसने बिजली के प्रकाश में उस पैकेट को खोल डाला। उस समय उसके हाथ काँप रहे थे और हृदय इतने वेग से धड़क रहा था, मानो किसी बंधु की बीमारी के समाचार के बाद तार मिला हो।

पैकेट का खुलना था कि केशव की आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। उसमें एक पीले रंग की साड़ी थी, एक छोटी-सी सेंदुर की डिबिया और एक केशव का फोटो-चित्र। साथ ही एक लिफाफा भी था। केशव ने उसे खोलकर पढ़ा। उसमें लिखा था—

"बहन, मैं जाती हूँ। यह मेरे सोहाग का शव है। इसे टेम्स-नदी में विसर्जित कर देना। तुम्हीं लोगों के हाथों यह संस्कार भी हो जाय तो अच्छा।

—तुम्हारी सुभद्रा"

× × × ×

केशव मर्माहत-सा पत्र हाथ में लिये वहीं घास पर लेट गया और फूट-फूट कर रोने लगा।

———

राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह

श्रम का मूल्य

क्या तमाशा है, आदमी सोचता है कुछ और होकर रहता ह कुछ! अपनी जिन्दगी मे यह तकदीर और तदवीर की आँखमिचौनी भी अजीव चीज है। अक्सर देखा है, जो अपनी तकदीर पर ही फूला फिरता है, सीना तान पास-पड़ोस पर छाये चलता है, वह जमाने के हाथो एक दिन ऐसा झिझोरा जाता है कि वही जानता है जो वह जानता है!

हाँ, यह भी साफ है कि हम लाख सर मारे अगर तकदीर साथ नही तो बनी-बनाई बात भी क्या से क्या हो जाती है पल मे!

जाहिर है, वह दिन गये जव तकदीर की ही कमान चढ़ी हुई थी हमारे यहाँ। तदबीर की वैसी पूछ ही नही थी जैसे। आज वह "अपना-अपना भाग, अपना-अपना भोग" के दिन लद चले। आज तो हम पसीने की सिचाई के हाथो अपनी तकदीर की सूखती फसल तक सँवार लेते है—वस, एक फन चाहिए, एक धुन भी।

वह जो किसी ने कहा है न—

"किस्मत को देखिये कि कहाँ टूटी है कमन्द
दो-चार हाथ जव कि लवे-वाम रह गया।"

तो लीजिए, दो चार ही फर्लांग डाक-बँगले की पौर पर पहुँचने को रह गया होगा कि मोटर का चक्का सड़क की पटरी से सरककर आसपास की नई गीली मिट्टी में ऐसा धँस फँस गया कि इजिन सर मारती रह गई। और सर पर बरसाती बूँदो का वह मूसलधार, पुरवैया का वह जोर-शोर कि उठ-उठ कर बैठ गया जी।

यह नही कि बनारस से चलते वक्त हमने अपनी ओर से कुछ उठा रखा। कब क्या हो, कही इंजिन की नाड़ी की गति जवाब दे बैठे, मोटर का चक्का बन्दूक की गोली छूटने की आवाज देकर धडल्ले से फट पड़े, हर ऐसी दुर्घटना की आशंका पर अपनी उँगली थी। वैसी बलानागहानी की दवा भी ले रखी थी अपनी झोली मे। मगर यों फट पड़ेगा आसमान दो घंटे के अन्दर, डूब जायँगी सड़के तक पानी मे, वह अनहोनी तो शायद हमारे फरिश्तो को भी खबर न होगी। वही कहा, तकदीर के आगे तदबीर की कब चली है वैसी? वह कही पजे झाड पीछे पड गई तो फिर सारा किया-कराया किरकिरा हो गया पल मे।

रात का सन्नाटा है। घुप्प अँधेरा। कही कोई चिडिया का पूत नही। और मोटर मे ठहरे हम कुल तीन। अब कथा लगाये कौन, कैसे? ड्राइवर, चपरासी भी आसमान की रगत देख जोर आजमाने से सहम उठे। वैसी गीली मिट्टी में पैर रोप कंधे भिडाना बाये हाथ का खेल नही, घुटनो तक धँस जाने का डर है। एक छाता साथ है जरूर, पर उस पुरवैये के झोके से वह लोहा ले पाये तब न!

अब कैसे क्या हो? हमारे हाथ के तोते उड़ गये।

ड्राइवर ने मुडकर कहा—"हुजूर मोटर ही मे बैठे रहे। जा रहे है हम मजदूरो की तलाश मे। एकाध के किये तो कुछ होने को नही।"

"कहाँ जाओगे तुम? गाँव तो नजदीक नही। और यहाँ तुम्हे जानता ही कौन है?"

"डाक बँगला तो पास ही ठहरा। वही के खानसामे को एकाध रुपये देकर..........।"

"नही-नही, ठहरो, हम भी चल रहे है। यही कही पास ही ठाकुर साहब रहते है, एक अच्छे काश्तकार, जमीदार भी है, उनसे हर तरह की मदद मिलकर रहेगी।"

खैरियत थी, वाटरप्रूफ साथ था। अपना बचाव हो गया। छाता

दे दिया ड्राइवर को। चपरासी वही मोटर मे बैठा रहा, चीजो की निगरानी के लिए।

एक फर्लांग भी न गये होगे कि आँखो पर, कानो पर भी कुछ हलचल-सी उभर आई है। यह तो मोटर की इजिन की गूँज है—हाँ-हाँ, वही जानी पहिचानी आवाज। वही मिट्टी पानी मे दबोचे हुए चक्को की घर्राहट भी। तो क्या यहाँ भी वही किस्सा खडा है—वही दुर्घटना?

अचरज क्या? सडक उभरी हुई है। कही-कही नई गिट्टी भी बिछ चुकी है। बरसाती मरम्मत पेश है। और पटरी के आसपास आसमानी बौछार से नई मिट्टी भीगकर ऐसी गीली हो गई है कि जो भी पडा वह उसी सडाँध का होकर रह गया। इस घुप अँधेरे मे बाल बाल बचकर निकल जाना किसी तकदीर के सिकन्दर को ही मयस्सर है—हर को नही।

लीजिए, पहुँच गये हम आमने-सामने। देखा ड्राइवर स्टियरिंग ह्वील पर है और दो अँगरेज मिट्टी पानी मे लिसे-पुते, भीगते हुए, घुटनो तक उसी सडाँध मे धँसे हुए भी, कधे भिडाये निकाले लिये जा रहे है अपनी कार को। क्या कमाल! निकाल ही तो लिये दो पल मे। हमने ड्राइवर से मुड़कर कहा—"देखा? एक यह गोरे साहब है, एक हम। लो, लौट चलो, अब भी कधे भिडा. . .।"

"भला सरकार, ऐसे कीचड पानी मे समा पायेगे आप? एक चपरासी अकेला क्या कर पायेगा? जैसा मरियल है वह!"

तभी हमारे चेहरे पर टार्च की रोशनी धडल्ले से पडती है। साथ-साथ एक टनक आवाज भी—"हलो! तुम यहाँ?"

अरे। यह तो विलियम साहब है। वही जो कुछ दिन हुए हमारे जिलाधीश थे। आजकल सेक्रेटेरियट मे है, किसी अच्छे ओहदे पर।

हम रुकते हुए बोले—"जी, हमारी भी यही परीशानी है। वह देखिए वह अपनी कार भी बुरी तरह......।"

"कोई बात नही। लो, चलो, उसे भी उठाये लिये देते है।"

हम तो शर्म से झुक गये। "नहीं नही, आप क्यो नाहक...? यह क्या सामने ही ठाकुर साहब की ड्योढी है। मोटर निकलकर रहेगी दस मिनट मे। आपने भी उन्हे खबर कर दी होती तो यों माटी पानी मे..।"

"भई हमे क्या पता? और हम तो कही ठहरने से रहे।"

"तो क्या ऐसे ही लिसे-पुते.....?"

"नही तो, सामने के डाक बँगले मे नहा-धो, कपडे बदलकर मोटर उड़ाये चल देगे।"

"इसी आँधी-पानी मे?"

"तो हुआ क्या? ऐसे डरे तो फिर किसी प्रोग्राम की पाबन्दी तो होने से रही।"

"मगर सड़क की जैसी हालत हो रही है, जो कुछ भी न हो....।"

वह हँस उठे। "अजी, जो बला आये, आये। बस, हिम्मत और हुनर चाहिए, बेडा पार है।"

और लीजिए, गुडनाइट कहते हुए सर्राटे से चल दिये वह।

तभी हमारी निगाह ठाकुर साहब पर गई। देखा, वह छाते के अन्दर सिमटे हुए बायी ओर एक पेड़ की आड मे खडे है। खडे-खडे सब कुछ देख-सुन रहे है जैसे।

"ऐ लो। आप यही खड़े है और इन साहबों के छक्के छूट गये। जानते नही, वह कौन है?"

"जी जभी तो सामने आने से रहे हम। कही कंधे भिडाने पडे तो...?"

"क्यों, आपके यहाँ आदमियो की क्या कमी है? वनिहार-मजदूर ही जाने कितने...।"

"भई, वह होते तो आज यों मुँह चुराना पडता?"

"क्यों, कहाँ मर रहे है वे?"

"कुछ न पूछिए, शैतान सवार है उनके सर पर। उनका दिमाग ही फिर गया है जैसे।"

"सो क्या?"

"सुना नही, नया गुल खिल रहा है यहाँ। भगवान् जाने, इस घर को किसकी नजर लग गई—यह नौकरो की हडताल—कभी देखी न सुनी। हम तो यहाँ थे नही, जाने कौन एक शहरी लीडर यहाँ आ गया। सारे ऐसे-वैसो के कान भर दिये—अपनी माँग दूनी करो। अड़े रहो ताल ठोक! लीजिए, सब तो सब, परसो से रोपनी तक बन्द है। कहाँ मालिक की मर्जी ही वडी चीज थी यहाँ, कहाँ आज हम क्या, हमारी नाराजी क्या।"

"फिर भी दो-चार तो आपके यहाँ जाने कितने पुश्त से.....।"

"हाँ, वह विचारे लुक-छिपकर कभी आ गये तो आ गये। डरते है भाईवन्धु के सामने आने से........।"

"मगर पुलिस को तो खबर कर दी होती आपने?"

"अजी, वही तो उनकी पीठ पर हाथ रखे हुए है। नया आया है एक थानेदार।"

"यह तो वड़ी वैसी-सी वात है।"

"चलिए, देखिए, क्या हाल है अपने यहाँ। चूल्हा तक नही जला। बस, जैसे-तैसे पड़ोस के वाजार से कुछ रूखा-सूखा......।"

"तो आप किसी होशियार कारिन्दे को भेजकर शहर से ही बुलवा लेते चन्द ऐसे......।"

"नही-नही, उनकी माँग तो और भी बढी-चढी हो सकती है। उसका असर तो दिहात मे.......।"

तभी उनका वड़ा लडका, जो कालेज का वी० ए० का छात्र है, हाथ में लालटेन लिये हुए सामने आ गया। चले आये हम वैठके के अन्दर।

देखा, घर मे वह पहले की सफाई नही, सारी चीजे यो ही पड़ी है। वही तख्त पर आपके भाई-भतीजे भी वैठे है। दो-चार अमले-कारिन्दे भी है। वही चर्चा है। यह तो कहिये कि नई वहू के मैके से एक दाई पालकी के साथ आई है कि अन्दर कुएँ से पानी खींचना, चौका-वर्तन

करना निभ जाता है। और पडोस की ठकुराइन आकर हाँड़ी न चढा देती तो बूढ़ी मालकिन बिचारी को तो जीने के लाले पड़ गये होते।

उनका साहेबजादा सूट-बूट का शौकीन है—शहराती चाल-ढाल। तपाक से सामने आकर बोला—"मै तो जाने कब से कहता आ रहा हूँ कि जो कुछ हम उन्हे नक्द या जिंस दिये जा रहे है, वह दर तो जाने किस युग की देन ठहरा—आज की महँगी मे तो वह चलने से रहा—क्या बनिहार-मजदूर और क्या घरेलू नौकर। बस, दर बढा देना ही वक्त का तकाजा है।"

मगर उस नर्मदिल नवयुवक की सुने कौन? बडे सरकार का तो मारे गुस्से के वह हाल है कि कही मिल जाता वह लीडर तो उसे रुई के गाले की तरह धुन डालते। वह कटे-कटे अलग ही सायबान मे घूम रहे है गुमसुम। सामने नौकरों का अड्डा खाली है।

ठाकुर साहब सरक आये नजदीक। एक अजब खीझ की हँसी हँसकर बोले—"उनकी वह अकड और ऐंठ जो बड़ी वैसी है! किसी लठबाज से पाला पड़ता तो सारी चौकडी भूल जाती। हाँ, वह भरी आँख लिये सर के बल आकर हमारी मर्जी पर अपना सब कुछ छोड़ पाते तो हम भी अपनी ओर से—जाने दीजिए—वह नजर ही पलट गई उनकी।"

हमने कहा—"जी।

नजर भर के जो देख सकते है मुझको।
मै उनकी नजर देखना चाहता हूँ।"

"है न? मगर इधर आइए, सुनिए। एक रास्ता है और..... थोड़ा बीहड़ ही सही .....।"

"सो क्या" चौक उठे वह।

"बस, आप ही जरा अपना पहलू बदल दे तो उनकी सारी हेकड़ी दो पल में हवा हो जायगी। दो दिन मे जब लगेगे आँत मे चूहे कूदने तो फिर वे झख मार......।"

"कहिये न, कैसे क्या करना है?"

"भई, आपका भरा घर ठहरा। अपने ही परिवार मे जाने कितने है। और आसपास जात-भाई भी काफी। बस, दो-चार दिन अपने ही हाथो सारा काम उठा ले—क्या घर क्या बाहर। फिर देखिए, उन मजदूरो के चेहरे पर वह हवाइयाँ उड आयेंगी कि...... ।"

ठाकुर साहब झल्ला उठे। खिंच आया उनका चेहरा। "आप भी तो सचमुच अजीब चीज है......कैसी बाते करते है यह? हम अपने कधो पर हल लेगे? हमारे भाई भतीजे उठेगे बैलो का सानी पानी करने? हमारे घर की औरते झाड़ू देगी, बर्तन माँजेगी? जीते जी जायेगी बाहर खेतो में रोपनी-सोहनी करने? फिर मुँह दिखा पायेंगे हम जवार में किसी के सामने? अपना पानी ही न रहा तो फिर रहा क्या?"

अब कोई क्या कहे? ठाकुर साहब बडे ठहरे—उनके संस्कारों को ठेस पहुँचती है। जीते जी वह बत्ती की टेम तक न झाड पायेगे।

आखिर बगैर दाई-नौकर के कब तक यह हाल बेहाल रहेगा? अन्दर-बाहर किसी करवट कल नही। और तो और, खेती की फसल तो किसी समझौते का इतजार देखने से रही।

यह जरूर है कि ठाकुर साहब भी ऊब चले है। चाह रहे है, टटोल रहे है कि कोई हल निकल पाता। हाँ उनके मान पर कोई आँच न आने पाये—यही हर समझौते की पहली शर्त है उनकी। हो सकता है, अब तक यह बेडा पार हो चुका होता, मगर वह जो थाने मे नया आया है, वह जरा छिपा रुस्तम है—सामने न आकर भी इधर से उधर लगाये फिरता है गुपचुप।

आखिर यही राय ठहरी कि कल सुबह ठाकुर साहब मोटर से हमारे साथ चले चलें, बड़े अफसर से मिले, यहाँ की सारी परिस्थिति जता दें। उनकी मदद माँगने मे कोई शर्म नही। है भी वह अपने जाने-माने।

(२)

एतवार का दिन है। आठ का वक्त। आसमान पर बादल छाये हैं। हवा तेज-तुंद। पहुँच गये हम बड़े साहब के बँगले पर। फाटक

ही पर चपरासी मिल गया। लगा सिर हिलाने—"आज तो साहब किसी ऐसे वैसे से मिलते नही। हाँ, कोई ऐसी ही सरकारी बात हुई......।"

हमने कहा—"भई हमारी खबर तो कर दो। जैसी उनकी मर्जी।"

वह चुप खडा रहा। आँखे फाड़ जाने क्या टटोलता रहा हमारे चेहरे पर।

तभी ठाकुर साहब मोटर से उतरकर सामने आये—'ऐलो। भूल गये लाला? पहचानते तक नही?"

"वह चौक उठा। अच्छा ठाकुर साहब?"

उसने जोड़ लिये हाथ। उतर आया आसमान से जमीन पर। पता चला, साहब बँगले की फुलवारी के अन्दर है। नये नये फूल-पौधो की देख-रेख चल रही है।

हमने कहा—"अच्छी बात है, दो चार मिनट हम यही रुके रहते हैं।"

मगर यह क्या, कलाई की घडी रह-रहकर देख रहे है, उनका पता नही।

"हुजूर हो सकता है देर हो। अक्सर वह अपने ही हाथों कुछ न कुछ......अभी दस मिनट पहले कैंची लिए दुरडे की टट्टी छाँट रहे थे।"

"अपने ही हाथो? ऐसा? आखिर वजह?"

"यह तो आप उनसे पूछिये और पूछिये उनकी लगन से। है भी इस फन के शौकीन आप। माली-मजदूरो से तो ऐसी सफाई-सजाई होने से रही।"

"अजीब शौक है यह।"

"जी, हर रोज ही कुछ वक्त देते है—जब जैसी फुरसत रही। आज एतवार है, कही दौरे पर जाना भी नही, क्या जाने-वह देखिये, वह। केना की क्यारी मे खुद कुदाल लिये।"

मुड़कर देखा, वहाँ साहब बहादुर है। जी हाँ, पुलिस के वही बड अफसर—अपने ही हाथो कुदाल लिये, क्या खूब दो कुली भी साथ हैं।

कैसे क्या करना है, ताकीद भी दिये जा रहे है उनको। क्या तमाशा है। ऐसे दिग्गज अफसर और यह निराला अदाज!

हुआ यह, साहब मुडकर सामने आ गये। देख लिया हमको, पहचान भी लिया पल में।

"हलो। गुडमॉर्निग। वस, अभी आया।"

और लीजिए, रूमाल से पेशानी का पसीना पोछते वढ आये आप गुलफुल।

"कैसे आये, कहाँ से? आओ, अन्दर आओ, चाय तो पी लो।"

"नहीं-नही, आप पीजिये। हम बैठे है तब तक ऑफिस के कमरे मे।"

"कहाँ बैठोगे उधर? कमरो की तो सफाई चल रही है आज। लो, इधर बढ़ आओ। वाहर ही वरामदे मे चाय आ रही है। देर नही।"

"आज कोई खास बात है क्या?"

"है नही? लो, इधर आओ, अपनी आँखो देख लो मेम साहबा का क्या कमाल है बेजोड़। छुट्टी का दिन है आज। वह हिन्दुस्तान की न होकर लन्दन की हो रही है सरापा। चाहिए भी।"

मुडकर देखा, देखते रहे, आँखे फाड़ देखते रह गये। लीजिए, आपकी श्रीमती जी कमर से पैर तक, जाने क्या एक सादा घाँघरा नर्सो की तरह वाँधे, हाथ में एक अजीव दोमुँहा झाड़ू लिये, जी हाँ झाड़ू, वह भी आदमकद किस मुस्तैदी, किस तेजी से साफ किये जा रही है घर का कोना कोना! क्या फ्लोर, क्या टेवुल, क्या कुर्सी-कोच!

हमने हँसकर कहा, "आखिर यह क्या धुन है निराली। दाई नौकर की कमी नही, माली मजदूर भी है, फिर भी यो अपने हाथो.....।"

वह दो पल मुस्कराते रहे। बोले, "मै पूछता हूँ, यह दो दिन की चाँदनी लुट जायेगी तो? अगले साल पेंशन लेकर जव हम घर जाते है तो फिर? वहाँ कहाँ है यह काफिला—यह लाम काफ? अपने ही हाथो सव कुछ करते जाइए नही तो चलिए, रहिए किसी होटल मे—जी हाँ, होटल मे सालो साल। वहाँ तो चिराग लेकर भी ढूंढो तो कही

ऐसे नखरे तिल्ले मिलने को नही। तो समझे साहब? हम ऐसे सिरफिरे नही कि यहाँ आकर आरामपसन्दी की लत ले बैठे और फिर लेने के देने पडे घर जाकर।"

तभी चाय का सारा सामान तश्त मे लिये मेम साहबा खुद चली आई सामने सायबान मे। साहब ने उठकर तश्त को थाम लिया। रख दिया सामने की मेज पर।

"आओ बैठो, कोई बात नही। लो एक कप चाय।"

बैठ रहे हम। चाय की चुस्की चली। प्लेटो मे सेडविच भी आये। हम जरा रुकते हुए बोले—"तो क्या आज आपने कुक को छुट्टी दे रखी है ?"

"हाँ। सुबह की चाय और लंच तो आज श्रीमती जी के कर-कमलो से ही......समझे न ?"

बस, उनकी यह लौ लगी रहे कि दो दिन बाद लदन जाकर अपनी गृहस्थी सम्हाल ले लगे हाथो। वहाँ कहाँ बावर्ची.. जी ?..... ?

"और बैंक मे हजारो हजार की रकम रहते भी यह छोटा मोटा काम......... "

"अजी यह छोटा मोटा नही, बड़ा है बड़ा। श्रम ही है अवलम्ब अपना। तुम्हारे यहाँ तो Dignity of labour कोई चीज नही, कोई महत्त्व नही। देखो न, यही जो हमारे बाग का माली है, उसके लड़के को, कई साल हुए, हमने स्कूल मे भर्ती करा दिया। वह पढता रहा। पहुँच गया है मैट्रिक क्लास तक। हाँ अब वह साफ-सुथरा रहता है, बाल झाडता है, आइना-कघी भी साथ रखता है, जूता-मोजा भी पहन लेता है अक्सर। अब उसे किसी छुट्टी के दिन कंधे पर हल या हाथ मे कुदाल लेकर मिट्टी उड़ेलने को कहो तो लो, वह चट मुँह मोड़ लेगा, उसे यह गवारा नही। और हम है कि कॉलेज मे पढते वक्त भी मिहनत मजदूरी से कुछ कमा ही लेते रहे फुरसत के वक्त।"

"मगर क्यो, क्या कमी थी ऐसी ? आपके पिता तो बडे ऊँचे सरकारी अफसर थे?"

"जी, वह गवर्नर भी रहे दो साल,... उससे क्या?"

हम तो दंग है। क्या अजब कि ऐसे बडे अफसर होते हुए मजदूर भी हैं आप। जी हाँ, मजदूर—और लीजिए, तुर्रा यह, नाम के साथ सी० आई० ई० ही नही 'सर' भी है।

अब कोई क्या कहे उनसे—कैसे कहे। लेने के देने पड़े......तो ?

गुलाब राय

राष्ट्रभाषा का स्वरूप

बहुत वाद-विवाद के पश्चात् हिन्दी राजभाषा घोषित हो चुकी है। यद्यपि उसको अपना कार्य-भार पूर्णरूपेण सँभालने मे देर है और उसको पन्द्रह वर्ष पश्चात् तिथि वाली चेक (Post-dated cheque) मिली है तथापि अब उसकी और किसी भाषा से प्रतिद्वंद्विता का प्रश्न नही रहा। उसका अधिकार निर्विवाद है। उसका यह नैतिक अधिकार क्रमशः व्यवहार की वास्तविकता मे परिणत होता जायगा। अँगरेजी हमारी राजभाषा थी, किन्तु राष्ट्र-भाषा न बन सकी। हिन्दी के लिए ऐसी बात नही है। वह देश की ही भाषा है। उसका देश मे ही विकास हुआ है और उसका देश की प्रायः सभी भाषाओ से सबंध है। हिन्दी बहुत अंश मे राजभाषा बनने से पूर्व ही राष्ट्र-भाषा बन चुकी थी। अब उस पर राजकीय मुहर की छाप भी लग गई है।

राष्ट्रभाषा के स्वरूप पर विचार करने से पूर्व हमको राष्ट्रभाषा की आवश्यकताएँ जान लेनी चाहिए। वे इस प्रकार है:—

(१) उस भाषा को देश के अधिकांश निवासी बोलते हो। यदि बोलते न भी हो तो उस भाषा का देश की अन्य भाषाओ से घनिष्ठ पारिवारिक सबंध हो। उसमे भविष्य के लिए अधिक व्यापक होने की सभावना हो।

(२) वह सरल हो।

(३) उस भाषा मे राजनीतिक, शिक्षा-संबंधी, धार्मिक और सामाजिक व्यवहार के सचालन की क्षमता हो।

(४) वह देश की संस्कृति और सभ्यता की परिचायक हो।

हिन्दी इन सभी आवश्यकताओ की पूर्ति करती है और पूरी करने की क्षमता रखती है। और, सब आवश्यकताओ की तो वह अपने स्वभाव और सगठन से पूर्ति करती ही है किन्तु तीसरी आवश्यकता की पूर्ण पूर्ति मे कुछ न्यूनता समझी जा सकती है। तीसरी आवश्यकता की कमी के लिए हिन्दी दोषी नही वरन् वे लोग दोषी है जो देश के भाग्य-विधाता थे और जिन्होने उसे राजनीतिक और शिक्षा-सबधी क्षेत्रो मे पनपने का अवसर नही दिया। बिना पानी मे पैर दिये तैरना नही आता। भाषा की शब्दावली इतनी गढी नही जाती जितनी कि व्यवहार मे विकसित होती है; फिर भी तात्कालिक व्यवहार के लिए भी कुछ प्रारभिक सामग्री होनी चाहिए। उस सामग्री की तैयारी हो रही है और उसका प्रयोग मे आना प्रारम्भ भी हो गया है। प्रयोग ही शब्दावली को परिमार्जित और चलन योग्य बनायेगा।

हमारी राष्ट्रभाषा के दो रूप है; एक जन-साधारण के व्यवहार की भाषा का और दूसरा राजकाज तथा शिक्षा की भाषा का। यद्यपि इन दोनो रूपो मे विशेष अन्तर नही है और न होना चाहिए तथापि इनमे कुछ भिन्नता का होना स्वाभाविक है। जन-साधारण के व्यवहार की भाषा सरल-से-सरल बनाई जा सकती है। यद्यपि प्रान्तो मे पारस्परिक व्यवहार स्थानीय भाषाओ मे ही चलता रहेगा तथापि कुछ ऐसे सार्वजनिक कार्य जैसे कि नेताओ और उच्च पदाधिकारियो के भाषण, महत्त्वपूर्ण निर्माण-कार्य-सबधी सिनेमा-फिल्मे, यात्रियो के पारस्परिक विचार-विनिमय तथा अन्तरप्रान्तीय व्यापार जिनके लिए प्रान्तो मे जन-साधारण के लिए भी राष्ट्रभाषा का चलता ज्ञान वाछनीय होगा। राजकाज, विशेषकर केन्द्रीय राजकार्य से परिचित रहने के लिए और उच्च शिक्षा की पुस्तकों से लाभान्वित होने के अर्थ राष्ट्रभाषा की विशेष आवश्यकता होगी।

पहले हम जन-साधारण के व्यवहार की राष्ट्रभाषा के रूप पर

विचार करेगे। सरलता इसका विशेष गुण होना चाहिए। यद्यपि तद्भव शब्द तत्सम शब्दो से सरल होते है तथापि अन्तरप्रान्तीय व्यवहार के लिए तत्सम शब्दो का या उन तद्भव रूपो का, जो तत्सम के निकटतम हो, व्यवहार वाछनीय होगा। क्योकि तत्सम शब्दो का सब भाषाओ मे प्राय. एक-सा रूप रहता है। तद्भव रूप भिन्न-भिन्न प्रान्तो मे अलग-अलग होता है। तत्सम शब्दो मे कुछ सरल और प्रचलित होते है और कुछ क्लिष्ट और अप्रचलित। हमको सरल और प्रचलित शब्दो को यथासभव बचाना चाहिए। उर्दू के शब्द, जो हिन्दी मे विशेष चलन पा गये है, जैसे, हलवाई, बाजार, पुल, शीशा, शीशी, चमचा, चश्मा, असबाब, सामान, तकल्लुफ, डाकखाना, तमाशा, हाल, मिसिल, अर्जी, पुर्जा, परवाह, गन्दा, गरज, गरीब, जागीर, इमारत, गर्दन, गिरवी, जगह, जमीन आदि सहज मे भाषा से निकाले नही जा सकते। इनमे से कुछ तो दूसरी प्रान्तीय भाषाओं मे भी, जैसे, गुजराती, बँगला, मराठी आदि भाषाओ मे व्यवहृत होते है। ऐसे शब्दो को तो हमे अपनी भाषा मे स्थान देना ही पडेगा। यही हाल अँगरेजी के प्रचलित शब्दो का भी है, किन्तु उनका अनावश्यक प्रयोग वाछनीय नही है। 'मै इवनिग मे डेली वाक करने जाता हूँ' अथवा 'वह स्टडीज मे इतना एबसौर्ब्ड रहता है कि अपनी बॉडी की एबसोल्यूटली कोई केयर ही नही करता'—ऐसी भाषा राष्ट्रभाषा के लिए गौरव का विषय नही हो सकती। जो शब्द चलन मे आ गये है उनमे से भी हमे आवश्यक शब्द लेनें चाहिए और उनको अपनी भाषा के ढॉचे मे ढाल लेना वाछनीय होगा। दूसरी भाषा के शब्दो के अपनाने मे हमको सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि हम अपनी भाषा की प्रकृति के विरुद्ध न चले जायँ। विदेशी शब्दो के अतिरिक्त हमे अन्य प्रान्तीय भाषाओ के शब्दो को भी, जो हमारी भाषा मे घुल-मिल सके और जो किसी विशेष भाव को व्यक्त करने के लिए उपयुक्त हों, अपनाना चाहिए जिससे कि दूसरे प्रान्तवालो को भी यह गौरव का अनुमान हो सके कि उनकी भाषाएँ राष्ट्रभाषा के निर्माण मे कुछ योग दे

रही है। राष्ट्रभाषा केवल हिन्दी-भापियो की ही नही वरन् सारे देश की है। अन्य प्रान्तवालो को अपनाने के लिए हमे अपने व्याकरण के नियमो की कडाई की किसी अश मे उपेक्षा करनी पड़ेगी। हम यह तो नही चाहते कि वह टकसाली भापा से गिर जाय किन्तु उसको सस्कृत की भॉति अगतिशील न वना देना चाहिए। अपनी भाषा के साहित्य मे हमको अन्य प्रान्तो से सम्बन्ध रखनेवाली प्राकृतिक दृश्यावलियो, वीर-गाथाओ और परम्पराओ को भी देना चाहिए जिससे कि अन्य प्रान्तवाले हमारी भाषा के सत्य तथा अपनापन का अनुभव कर सके।

राजकाज और उच्च शिक्षा-सवधी कार्यो की भापा अपेक्षाकृत कुछ कठिन होगी। किन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि वह लोकभाषा से दूर पड जाय और विलकुल दूसरी भाषा-सी जान पडे। पारिभापिक शब्दा-वली का सारे देश के लिए प्रमाणीकरण आवश्यक है क्योकि जव तक हमारी शव्दावली सारे देश मे न समझी जायगी तव तक न तो वैज्ञानिक क्षेत्र मे सहकारिता ही सभव हो सकेगी और न विद्यार्थी ही यथोचित लाभ उठा सकेंगे। पारिभापिक शव्दावली के निर्माण मे हमको नीचे लिखी वातो का ध्यान रखना चाहिए :—

(१) पारिभाषिक शव्दावली का आधार अधिकतर सस्कृत तत्सम शव्द होने चाहिए। सस्कृत शव्दो मे प्रत्यय लगाकर उनको विभिन्न रूप सुविधा के साथ दिये जा सकते है। यह सुविधा साधारण भाषा मे कम रहती है। इसका यह अर्थ नही है कि साधारण भाषा के जो शब्द व्यवहार में आ निकले है, जैसे—विजली से गरम और ठंढे तार, उनका नितान्त वहिष्कार कर दिया जाय। हमको मजदूरो की भापा को भी मान देना आवश्यक होगा क्योकि विज्ञान को व्यावहारिक वनाने के लिए सिद्धान्त और व्यवहार के वीच की खाई को कम करना पडेगा।

(२) पारिभाषिक शव्दो को गढने की अपेक्षा वर्तमान साहित्य में प्रचलित शव्दो का प्रमाणीकरण अधिक श्रेयस्कर होगा। जो वैज्ञानिक साहित्य हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओ मे रचा जा चुका है उसको

हमे एकदम निरर्थक नही बना देना है। जनता उन ग्रन्थो की शब्दावली से किसी अंश मे परिचित भी हो चुकी है। इसके लिए हमे न केवल हिन्दी के ही वैज्ञानिक ग्रन्थो का अवलोकन करना होगा वरन् प्रान्तीय भाषाओं का भी पुस्तक-भडार खोजना पडेगा।

(३) तर्कशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, गणित, ज्योतिष आदि विज्ञानो की शब्दावली हमको यथासभव प्राचीन ग्रथो से लेनी चाहिए क्योकि उनमे इन शास्त्रो से सबधित बहुत-कुछ मूल्यवान ज्ञान वर्तमान है।

(४) वैज्ञानिक शब्दावली को चलन देने से पूर्व प्रयोग मे भी लाकर देख लेना चाहिए कि वह प्रयोग मे कहाँ तक उपयुक्त बैठती है।

(५) हमको नये शब्दो के अनोखेपन से नही घबडाना चाहिए। शब्द प्रचलित हो जाने पर वे अजनबी नही रहते और उनकी विरूपता भी अभ्यास के कारण सुडौल बन जाती है। अँगरेजी शब्दो के भी शाब्दिक अर्थ विचित्र होते है किन्तु चलन उनमे नये रूढिगत अर्थ उत्पन्न कर देता है।

शब्द-निर्माण किसी व्यक्ति के बस का काम नही है। इसके लिए बडी समितियो के बनाने की आवश्यकता है। इन समितियो में विभिन्न प्रान्तीय भाषाओ का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। हमको यह भी देखना चाहिए कि ये शब्द-कोष केवल आलमारी की शोभा ही न रहे। प्रत्येक भाषा मे उनका उपयोग हो और उनके आधार पर वैज्ञानिक साहित्य का निर्माण हो।

सक्षेप मे, हम यह कह सकते है कि हमारी राष्ट्रभाषा को, चाहे वह जन-साधारण के व्यवहार की हो और चाहे वह राजकीय और शिक्षा-संबधी व्यवहार की हो, गतिशील होना चाहिए। उसको विभिन्न प्रान्तीय भाषाओ से सम्पर्क स्थापित करना चाहिए और बिना अपनी सस्कृति और प्रकृति के विरुद्ध गये दूसरी भाषा के शब्दो को अपनी प्रकृति के अनुकूल चोला पहनाकर अपनाना चाहिए। राजकीय और शिक्षा-संबंधी कार्यों के लिए उसे संस्कृत के तत्सम शब्दो का अधिक सहारा लेना

पड़ेगा, फिर भी उसे दुरूहता से बचाना हमारा कर्त्तव्य होगा। राष्ट्र-भाषा का क्षेत्र जितना व्यापक होगा उतना ही उसे दूसरी भाषाओं के साथ समझौता करना पड़ेगा। किन्तु इतना ध्यान रखना होगा कि इस समझौते मे वह अपना असली रूप न खो दे।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

वसन्त आ गया है

जिस स्थान पर बैठकर लिख रहा हूँ, उसके आस-पास कुछ थोडे-से पेड़ है। एक शिरीष है, जिस पर लम्बी-लम्वी सूखी छिम्मियाँ अभी लटकी हुई है। पत्ते कुछ झड गये है और कुछ झडने के रास्ते मे है। जरा-सी हवा चली नही कि अस्थि-मालिका वाले उन्मत्त कापालिक भैरव की भाँति खड़खड़ाकर झूम उठते है—'कुसुमजन्म ततो नवपल्लवा:' का कही नाम-गन्ध भी नही है। एक नीम है। जवान है, मगर कुछ अत्यन्त छोटी किसलयिकाओ के सिवा उमग का कोई चिह्न उसमे भी नही है। फिर भी यह बुरा मालम नही होता। मसे भीगी है और आशा तो है ही। दो कृष्णचूड़ाएँ है। स्वर्गीय कविवर रवीन्द्रनाथ के हाथ से लगी वृक्षावलि मे ये आखिरी है। इन्हे अभी शिशु ही कहना चाहिए। फूल तो इनमे कभी आये नही, पर वे अभी नादान है। भरे फागुन मे इस प्रकार खडी है मानो आषाढ ही हो। नील मसृण पत्तियाँ और सूच्यग्र शिखान्त। दो-तीन अमरूद है, जो सूखे सावन भरे भादो कभी रंग नही बदलते। इस समय दो-चार श्वेत पुष्प इन पर विराजमान है, पर ऐसे फूल माघ मे भी थे और जेठ मे भी रहेगे। जाती-पुष्पो का एक केदार है, पर इन पर ऐसी मुर्दनी छाई हुई है कि मुझे कवि-प्रसिद्धियो पर लिखे हुए एक लेख मे सशोधन की आवश्यकता महसूस हुई है। एक मित्र ने अस्थान में एक मल्लिका का गुल्म भी लगा रखा है, जो किसी प्रकार बस जी रहा है। दो करबीर और एक कोविदार के झाड़ भी उन्ही मित्र की कृपा के फल है, पर वे बुरी तरह चुप है। कही भी उल्लास नही, उमग नही और उधर कवियो की दुनिया मे हल्ला हो गया, प्रकृति-रानी

नया शृंगार कर रही है, और फिर जाने क्या-क्या। कवि के आश्रय में रहता हूँ। नितान्त ठूँठ नही हूँ, पर भाग्य प्रसन्न न हो तो कोई क्या करे। दो काचनार वृक्ष इस हिन्दी-भवन मे है। एक ठीक मेरे दरवाजे पर और दूसरा मेरे पडोसी के। भाग्य की विडम्बना देखिए कि दोनो एक ही दिन के लगाये गये है। मेरावाला ज्यादा स्वस्थ और सवल है। पडोसी-वाला कमजोर, मरियल। परन्तु इसमे फल नही आये और वह कमवख्त कधे पर से फूल पडा है। मरियल-सा पेड है, पर क्या मजाल कि आप उसमे फूल के सिवा और कुछ देखे! पत्ते है ही नही और टहनियाँ फूलो से ढक गई ह। मै रोज देखता हूँ कि हमारे वाले मियाँ कितने अग्रसर हुए। कल तीन फूल निकले थे। उनमें दो तो एक संथाल-वालिका तोडकर ले गई। एक रह गया है। मुझे काचनार फूल की ललाई वहुत भाती है। सबसे बडी बात यह है कि इन फूलो की पकौड़ियाँ भी वन सकती है। पर दुर्भाग्य देखिए कि इतना स्वस्थ पेड ऐसा सूना पडा हुआ है और वह कमजोर दुबला लहक उठा है! कमजोरो मे भावुकता ज्यादा होती होगी।

पढता-लिखता हूँ। यही पेशा है। सो दुनिया के बारे मे पोथियो के सहारे ही थोडा-बहुत जानता हूँ। पढा हूँ, हिदुस्तान के जवानो मे कोई उमग नही है, इत्यादि-इत्यादि। इधर देखता हूँ कि पेड-पौधे और भी वुरे हैं। सारी दुनिया मे हल्ला हो गया कि वसन्त आ गया। पर इन कमवख्तो को कोई खवर ही नही! कभी-कभी सोचता हूँ कि इनके पास तक सदेशा पहुँचाने का क्या कोई साधन नही हो सकता? महुआ बदनाम है कि उसे सबके बाद वसन्त का अनुभव होता है; पर जामुन कौन अच्छा है! वह तो और भी बाद मे फूलता है! और कालिदास का लाडला यह कर्णिकार? आप जेठ मे मौज मे आते है। मुझे ऐसा लगता है कि वसन्त भागता चलता है। देश मे नही, काल मे किसी का वसन्त पन्द्रह दिन का है तो किसी का नौ महीने का। मौजी है अमरूद। बारह महीने इसका वसन्त-ही-वसन्त है। हिन्दी-भवन के सामने गंधराज पुष्पो

की पाँत है। ये अजीब है, वर्षा में ये खिलते है, लेकिन ऋतु-विशेष के उतने कायल नही है। पानी पड गया तो आज भी फूल ले सकते है। कवियों की दुनिया मे जिसकी कभी चर्चा नही हुई, ऐसी एक घास है—विष्णुकान्ता। हिन्दी-भवन के आँगन में बहुत है। कैसा मनोहर नाम है। फूल और भी मनोहर होते है। जरा-सा तो आकार होता है, पर बलिहारी है उस नील मेदुर रूप की। बादल की बात छोडिए, जरा-सी पुरवैया बह गई तो इसका उल्लास देखिए। बरसात के समय तो इतनी खिलती है कि मत पूछिए। मैं सोचता हूँ कि इस नाचीज लता को संदेश कैसे पहुँचता है? थोड़ी दूर पर वह पलास ऐसा फूला हुआ है कि ईर्ष्या होती है। मगर उसे किसने बताया कि वसन्त आ गया है? मैं थोडा-थोडा समझता हूँ। वसन्त आता नही, ले आया जाता है। जो चाहे और जब चाहे अपने पर ले आ सकता है। वह मरियल कांचनार ले आया है। अपने मोटे-राम तैयारी कर रहे है। और मैं?

मुझे बुखार आ रहा है। यह भी नियति का मजाक ही है। सारी दुनिया मे हल्ला हो गया है कि वसन्त आ रहा है, और मेरे पास आया बुखार। अपने काचनार की ओर देखता हूँ और सोचता हूँ, मेरी ही वजह से यह नही रुका है?

———

शिवपूजन सहाय

विष-पान

O, woman ! Lovely woman ! Nature made Thee
To temper man ! we had been brutes without you ;
Angels are painted fais, to look like you
Ther's in you all that we believe of heaven,
Amazing brightness. purity and truth ;
Eternal joy, and everlasting love.

—*Otway*-

× × × ×

विपमप्यमृतं क्वचिद् भवेदमृत वा विषमीश्वरेच्छया ।

—रघुवंश

(१)

'रे कुलागार ! नर-पिशाच ! तेरा मुँह देखने से भी महापाप होगा। क्या तू ही इस शीशोदिया-वंश मे कलक-टीका लगाने के लिए अपनी माता के यौवन-वन का कुठार होने को था ? निर्लज्ज ! चुल्लू-भर पानी मे डूब मर। जी तो चाहता है कि तुझे ले जाकर अरवली की ऊँची चोटी पर से नीचे ढकेल दूँ। तेरे अधम शरीर मे राजपूत का एक बूंद भी रक्त नही है। न जाने यह मेवाड की महिमामयी भूमि तेरी अपवित्र देह का असह्य भार कैसे वहन कर रही है ! मालूम होता है कि अब यह भी तेरे ही साथ-साथ रसातल के अन्धकारमय गर्भ में धँसना चाहती है। रे नृशस ! यदि तू अपना कल्याण चाहता है तो अभी यहाँ से मुँह काला कर। नही तो सत्य का पक्ष पालन करनेवाली यह मेरी तलवार तेरे-

जैसे पुरुषाधम के कलेजे के नापाक खून से शीघ्र ही अपने क्रोध की भयकर ज्वाला बुझायेगी। क्ष त्रियो की मान-मर्य्यादा धूलि मे मिलाकर, जातीयता की गर्दन पर भोंडी छुरी चलाकर, सती सुन्दरी वीर-पत्नियो के चरणतल से पवित्र रनिवास को निस्तेज वनाकर, किस लाभ की आशा से, इस अपयश की कालिमा से पुते हुए तुच्छ शरीर मे, तू अपने मलिन प्राणो को पोसे हुए है ? क्षात्र-धर्म की रक्षा के लिए तीव्र उत्तेजना देनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण का यह गीता-वाक्य—

"सम्भावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते"

जिस क्षत्रिय के हृदय-पट पर अकित नही, उसे राजपूत कहलाने का कोई अधिकार नही। तेरे कलेजे मे अगर शत्रु की तलवार घुसेडी गई होती, तो आज इतने राजपूतो के नेत्रो से खून न टपकता। अपने विख्यात वश की वहू-बेटियो पर विपत्ति का वज्र घहराते देखकर, यदि तू रनिवास को श्मशान के रूप मे परिणत करके वीरतापूर्वक लड़ाई के मैदान मे उतर गया होता और समर-यज्ञ मे अपने शरीर-शाकल्य को होम दिये होता, तो आज सभी राजपूत-वीरो मे तेरे लिए वहुत ही ऊँचा स्थान होता। तू भी वीर-गति पाकर अपने पितरो का मुख उज्ज्वल कर दिये होता। जब तुझे शत्रुओ के हाथ से अपने प्राण और प्रतिष्ठा बचाने की इच्छा थी, तव तूने उस वीर-कन्या के शोणित से अपनी इस तलवार को क्यो नही पवित्र कर लिया ? जिस विपत्ति की सम्भावना की आशका-मात्र से तूने इस जघन्य पाप का भार अपने सिर पर उठाया है, तुझे धैर्य्य और साहस के साथ उस भावी विपत्ति की प्रतीक्षा करनी चाहिए था और उसके उपस्थित होने पर वीरतापूर्वक, आत्मोत्सर्ग द्वारा, उसका सामना करना उचित था। धिक्कार है कि भीरुता-राक्षसी के पजे मे फँसकर तू कर्त्तव्य-पथ से विचलित हुआ! अब तो कोटि कंठो से धिक्कार की ध्वनि सुनते हुए तुझे धरती मे धँस जाना चाहिये। किन्तु, जब कर्त्तव्य-पालन से विमुख होनेवाला कृतघ्न मेवाड-भूमि मे पैर तक रखने का दावा नही कर सकता, तब भला यह वीरता की रंगस्थली और क्षत्रियत्व की धात्री

मेवाड-भूमि तेरे-जैसे पतितात्मा को अंक में धारण करने के लिए कैसे उत्कठित होगी? हाय! बाप्पा रावल के वंश का सर्वनाश अब निकट है! उस राजकुमारी के आदर्श आत्मत्याग से क्षत्राणियो का मस्तक तो अवश्य ही गर्वोन्नत हुआ है; पर राजपूत-वीरों के जात्यभिमान पर कलक की छाप लग जाती है। उस कलक-कालिमा को समस्त भारत की पवित्र नदियो की जलराशि भी नही धो सकती।"

(२)

शक्तावत-सरदार सग्रामसिह की उपर्युक्त ओजस्विनी वाणी सुनकर विश्वास-घाती अजितसिह भय, शोक, लज्जा, पश्चात्ताप और पीडा से व्याकुल हो उठा। वह सिर नीचा करके भीतर-ही-भीतर मन मसोस-कर रह गया। वह रह-रहकर, क्रोधान्ध विषधर की तरह, आह की फुफकार छोडने लगा। कभी तो वह दाँत पीसता, कभी ओठ चबाता, कभी हाथ मलता और कभी तमतमाकर तलवार पर हाथ ले जाता। उसके क्षुब्ध हृदय के अन्दर मनोविकारो मे युद्ध ठन गया। उस युद्ध मे क्रोध-महाराज विजयी हुए! क्रोध-विजित अजितसिह अधीर होकर कह उठा—"हा दैव! यदि इस समय वह पाखण्डी पठान अमीर खाँ कही मिल जाता तो मैं उसकी बोटी-बोटी काटकर कुत्तो को खिला देता।"

अजितसिह की अमर्ष-पूर्ण वाणी सुनकर एक राजपूत-वीर-केसरी ने गरजकर कहा—"रे चाडाल! वेणु-वश मे तू घमोय कैसे उत्पन्न हुआ? उज्ज्वल कुल मे धब्बा लगाकर सचाई का यह ढकोसला, यह ढोग कही और जाकर दिखाना। यहाँ बहुत सफाई मत दिखला। जिस अमीर खाँ का अभी तू खून चूस रहा था, उस दिन उसी ने तुझे अपने सामने से तिरस्कार-पूर्वक हटा दिया था। उस दिन उसके दुरदुराने पर यह तुम्हारी राजपूती शान की झूठी झलक कहाँ थी? यह आज की हेकडी उस दिन क्या भूल गई थी? एक पठान की घृणापूर्ण फटकार सुनकर—वीरो के बीच में डीग मारने का साहस करने के लिए—तेरी ही तरह

क्या कोई राजपूत निर्लज्जतापूर्वक जी सकता है? सिहनी के गर्भ से तू गीदड कैसे पैदा हुआ? यदि इस निन्दित शरीर से भी तुझे प्रेम है, तो अभी यहाँ से दूर हट जा।"

(३)

राणा भीमसिह की परमसुन्दरी कन्या कृष्णाकुमारी के कवि-कल्पनातीत सौन्दर्य्य की ख्याति भारत-भर मे फैली हुई थी। किशोरावस्था का समस्त सौन्दर्य्य उस ललना-ललाम के सुघटित अग-प्रत्यंग पर मुग्ध होकर टिका हुआ था। वह अभिनव लावण्य-लतिका अपनी अशेष सुकुमारता और स्वर्गीय सौरभ के कारण 'राजस्थान-कमलिनी' नाम से विख्यात थी। वह सचमुच मेवाड की मूर्त्तिमती ममता थी। जातीयता की उस ज्योति मे वासन्तिक सुपमा-सी सुष्ठुता, ऊपा की शीतलता-सी मधुरिमा, शारदीय सध्या की निस्तब्धता-सी शान्ति और राकारजनी की रमणीयता-सी मनोज्ञता थी। वह सत्य-सी दृढ, सन्तोष-सी पवित्र, मणि-प्रभा-सी तेजोमयी, समुद्र-सी गम्भीर, हिमालय-सी विशाल-हृदया और वसुन्धरा-सी क्षमाशीला थी। उस वनिता-बल्लरी के सौन्दर्य्य-वितान की सघन-सुशीतल छाया मे विश्राम करने की अभिलापा से, जयपुर-नरेश जगतसिह ने, अपनी शक्ति का परिचय देने के लिए, उदयपुर मे वहुत वडी वीर-वाहिनी भेजी थी। इधर नरवर नरेश मानसिह ने भी, जगतसिंह का मान-मर्दन करने के लिए, अपने पराक्रम का पूर्ण प्रभाव दिखाने की इच्छा से, उदयपुर मे बड़ी भारी सेना पठाई थी। उदयपुर के राज-सदन-रूपी उदयाचल पर प्रकाशित होकर देश-भर में अमृत बरसानेवाले उस पूर्णचन्द्र के चकोर मानसिंह भी थे। 'मान' और 'जगत' की प्रतिद्वन्द्विता ने ही उस सुर-सुन्दरी को वाध्य किया कि वह इस पाप-परिताप-पूर्ण ससार को छोडकर सती-लोक के लिए प्रस्थान करे! 'मान' और 'जगत' के पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेप की प्रबल आँधी ने ही उस 'राजस्थान को कुसुमित कीर्त्तिलता' को उखाड़ डाला।

(४)

मेवाड के इतिहास मे 'पुरुवत्सर' नामक स्थान का नाम उतनी ही प्रतिष्ठा के साथ स्मरण किया जाता है, जितनी महत्ता के साथ मुगलो के इतिहास मे 'पानीपत' का नाम और वगाल के इतिहास मे 'पलासी' का। एक नारी-रत्न के अप्रतिम रूप-लावण्य पर मोहित होनेवाले 'मान' और 'जगत' की सेनाओ का तुमुल संग्राम 'पुरुवत्सर' मे ही हुआ था। उस समय पुरुवत्सर-क्षेत्र कुसुमित किंशुक-कानन की शोभा को प्राप्त हुआ था। दुर्द्दान्त राजपूत-योद्धाओ के रक्त से सिक्त होकर पुरुवत्सर-क्षेत्र अतिशय भीष्म हो उठा था। इसी रणभूमि में, मानी महीप मानसिंह, अपनी सेना मे आपस की फूट फैलते देखकर, अपनी ही तलवार से अपनी गर्दन उतारने को उद्यत हुए थे। किन्तु मुट्ठी-भर सामन्त-सरदारो ने ही उनके जैसे वीर-वरिष्ठ को आत्म-हत्या करने से रोककर आक्रमण-कारी शत्रुओ के दाँत खट्टे किये थे। जगतसिंह जान बचाने के लिए लडाई छोडकर भाग खडा हुआ। उसकी अगणित सेना तितर-बितर और तहस-नहस हो गई। देव-वाला कृष्णा को प्राप्त करने की आशा-कली उज्ज्वल प्रभात से पहले ही, टूट गई !

मानसिंह के भाग्यचक्र के एकाएक परिवर्त्तन से उनके शत्रुओ पर आतक छा गया। किन्तु 'जगत' और 'मान' के वीच मे धधकती हुई क्रोध एव विरोध की अग्नि सहज में ही शान्त न हुई। उसे वुझाने के लिए कृष्णाकुमारी के पवित्र रुधिर की ही आवश्यकता पडी।

(५)

अजितसिह बड़े शान्त और सरल स्वभाव का था। उसकी शिष्टता और शालीनता की चारो ओर प्रशसा होती थी। किन्तु अमीर खाँ की कुसंगति का ही ऐसा भीषण परिणाम हुआ कि उसे सग्रामसिंह के कटु वाक्यो और एक राजपूत-सभासद् के कुवाच्यो का शिकार वनना पडा।

उस दिन दुराकांक्षी अमीर खाँ ने भी स्पष्ट शब्दो में अजितसिह के सामने कह दिया था कि 'जब तक मेरे दिली दोस्त मानसिह के साथ कृष्णा

की शादी नही होगी, तब तक तमाम मुल्क में खलबली मचाने की कोशिश करता रहूँगा। मुमकिन है कि उदयपुर का नामोनिशान तक मिट जाय। अगर राणा मेरी राय के मुताबिक काम न करेंगे, तो उनके ऊपर आफत का पहाड टूट पड़ेगा।'

सीधा-सादा बेचारा अजितसिंह एक गीदड की धमकी सुनकर काँप उठा था। उसके प्राण संज्ञा-हत हो गये! उदयपुर के भावी सर्वनाश की चिन्ता-चिता पर उसकी दीन बुद्धि जलने लगी। अपनी बहू-बेटियों की कुल-लज्जा पर भावी संकट आता देखकर वह मूर्च्छित हो गया।

राणा भीमसिंह ने अजित के स्याह चेहरे को देखकर पूछा—"तुम्हारे शरीर मे आज इतनी उद्विग्नता क्यों है? तुम्हारा मुख कान्ति-हीन और शरीर तेजोहीन हो गया है। बात क्या है? डरे हुए-से क्यो मालूम होते हो? शोकमुद्रा बनाये क्यो बैठे हो? चिन्ता और पश्चात्ताप का कुछ कारण भी तो मालूम हो?"

अजितसिह ने कातर स्वर मे कहा—"शीघ्र ही उदयपुर पर वज्रपात होनेवाला है। अमीर खाँ और मानसिंह उस पर भयंकरता से आक्रमण करनेवाले है। बडी भारी ग्लानि का विषय तो यह है कि उपद्रवी अत्याचारियो की इच्छा क्षत्राणियो के सतीत्व पर आघात पहुँचाने की है। यही सोच-सोचकर मै व्याकुल हो रहा हूँ। अमीर खॉ ने जोशीले शब्दो मे अहकार-पूर्वक कह रक्खा है कि 'कृष्णा की शादी मानसिंह से करने के लिए अगर राणा तैयार न होगे, तो उदयपुर को उसी दिन उजड़ा हुआ देखेगे'।"

भीमसिह—"क्या उदयपुर का सर्वनाश इतना निकट है? यह सर्वस्व-संहार की सम्भावना कैसी? मानसिंह ने भी, आज से कुछ दिन पहले, यह संवाद भेजा था कि 'मेरी आशा और अभिलाषा भंग करके यदि 'जगत' के हाथ मे मेवाड़ का अनमोल रत्न फेका जायगा, तो मै किसी को सुख की नीद न सोने दूंगा।' आज वह संवाद अचानक भयानक आपत्ति की सूचना देकर अतिशय भयंकर हो उठा! इधर अमीर खाँ उदयपुर

को उजाड़ने का मनसूबा बाँध रहा है, उधर मानसिंह उदयपुर का विध्वंस करने पर तुला हुआ है! हर तरफ से उदयपुर को श्मशान ही बनाने का उद्योग किया जा रहा है।"

अजितसिंह—"आप तो अभी उदयपुर को कुत्तो, गीधो और गीदडो का लीलास्थल होने की केवल आशका ही कर रहे हैं और वहाँ जयपुर के समान सर्वांगसुन्दर नगर श्मशान का स्वाँग धारण कर चुका। यहाँ तक कि जोधपुर भी लूटपाट की चपेट में पड़कर अनेक उत्पातों का मुँह देख चुका। एकमात्र कृष्णा के कारण आज समस्त राजस्थान घोरतर अशान्ति का भडार बना हुआ है।"

भीमसिंह—"क्या राजस्थान की कीर्त्तिवाटिका की कल्पलता को उखाडनेवाले मतवाले हाथियो का अहकार चूर्ण और कुम्भ विदीर्ण करनेवाला कोई मृगराज मेवाड में मौजूद नही है? क्या अब मेवाड़ में मुगलो का मान-मर्दन करनेवाला कोई राजपूत नही रह गया? हाय! शत्रुओ के छक्के छुडानेवाले वीर कहाँ लुप्त हो गये? यदि आज दिल्लीश्वरो के दाँत रँगनेवाले हमारे पूर्वजो में से एक भी वीर-केसरी रहा होता तो 'राजस्थान-कमलिनी' को उन्मूलित करने के लिए आनेवाले मदान्ध मातग इधर झाँकने भी नही आते। जान पड़ता है कि इस जमाने में अब सती देवियो का पत-पानी रखनेवाला कोई माई का लाल इस अभागे देश की गोद में रह न गया! अनुमान से मालूम होता है कि राजस्थान की सौभाग्यलक्ष्मी 'कृष्णा' के रूप मे ही अवतीर्ण हुई है। इस युग में स्वतन्त्रता की मणि भारत-जननी की गाँठ से छूटी जा रही है। पजाब-केसरी रणजीत फिर भी उस स्वतन्त्रता-मणि को भारत-माता के अंचल के छोर मे बाँध रहे हैं। किन्तु हाय! स्वतन्त्रता की रगशाला मेवाड़-भूमि मे अब भीमान्धकार का राज्य होगा! कृष्णा का जीवन-प्रदीप असमय ही निर्वाण प्राप्त होनेवाला है। कृष्णा हमारी कन्या होकर अवतीर्ण नही हुई है, बल्कि भारत मे क्षत्रियत्व की परीक्षा कराने और नारीधर्म का महत्त्व प्रकट करने के लिए ही विधाता ने उसे भेजा है। जिस दिन

कृष्णा की ज्योतिष्मती आत्मा ने हमारे राजमहल को अपने दिव्य प्रकाश-पुंज से आलोकित किया, उसी दिन यदि हम जानते होते कि हमारे वंश के आलवाल मे विष-बेलि उपज रही है, तो उसी समय उस क्षीण आलोक को अनन्त अन्धकार के गढ़े मे डाल देते। अनिष्ट का अकुर पनपते ही यदि नष्ट कर दिया गया होता, तो आज ऐसी विपम समस्या उपस्थित न होती। शिशु-हत्या से बचने का फल यह हुआ कि आज नारी-हत्या के समान लोमहर्पण व्यापार करना पडता है! किन्तु नारी-हत्या का यह घृणित कर्म हमारे वश का यश-विध्वस करनेवाला है! ऐसे गर्हणीय कार्य्य का अवलंबन करना हमारे लिए सर्वथा अनुचित है—

विषवृक्षोऽपि संवर्द्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्।"

अजितसिंह—"एक कन्या की बलि चढाने से ही यदि मातृभूमि की रक्षा होती है, तो क्या मातृभूमि के चरणो पर उस कन्या-कुसुम को आप न चढायेगे? माता की जान बचाने के लिए पुत्री का बलिदान न करेगे? मातृभूमि की रक्षा के लिए एक कन्या के यदि प्राण ही जायँगे तो इसमे चिन्ता का विषय ही क्या है? आप उस कन्या से मातृभूमि की रक्षा का यह प्रस्ताव करे। यदि वह सचमुच राजपूत-कन्या होगी, तो मातृभूमि के चरणो मे सहर्ष अपने प्राणो की भेट चढाकर आपका मुख उज्ज्वल और अपना नारी जन्म सफल करेगी। अमीर खाँ के परामर्श से मैंने यह उपाय सोच निकाला है। सम्प्रति यही एकमात्र ऐसा यत्न है, जिसे काम मे लाकर उदयपुर को हम लोग शत्रुओं के जाल से निकाल सकते हैं। जब तक आप कृष्णा की हत्या के लिए, हृदय को बज्र बनाकर, उद्यत न होगे, तब तक न तो आपके रनिवास की प्रतिष्ठा रहगी, न राणा-कुल मे कोई कुल-दीपक बचेगा और न मेवाड़ मे राजपूत के लिए कोई दो-चार बूँद आँसू बहानेवाला ही बचने पावेगा।"

इतना सुनते ही राणाजी कटे हुए सूखे वृक्ष की तरह जमीन पर गिर पड़े। मालूम हुआ, मानो किसी ने उनके विदीर्ण हृदय मे हाथ डालकर उनका कलेजा ही मरोड़कर खीच लिया! उधर वात्सल्य-रस की पवित्र

धारा से उनका अन्तकरण परिप्लावित होने लगा और इधर उदयपुर की भावी शोचनीय अवस्था का चित्र आँखो के सामने झूलने लगा! अगत्या उन्होने वात्सल्यस्नेह की सुमिष्ट भावना को तिलाञ्जलि देकर कृष्णा को इस यन्त्रणामय ससार से विदा करना ही निश्चित किया। कुलघ्न अजित राणाजी का निश्चय सुनकर अत्यत प्रमुदित हुआ। उसने अमीर खाँ और मानसिह को राणाजी के इस निश्चय की सूचना दे दी!

हाय! भीमसिह यदि बाप्पा-रावल के अयोग्य वंशधर, शीशोदिया-वंश की अयोग्य सन्तान, मेवाड के कलुषित कलक और कायरता के जीते-जागते उदाहरण माने जायँ, तो कोई अतिशयोक्ति नही।

पाठकप्रवर! यदि कृष्णाकुमारी-सी अविरल सुन्दरी के लिए आठ-आठ आँसू रोने की इच्छा हो, यदि उसकी स्नेहशीला माता के दारुण-करुण विलाप-कलाप से कलेजा कँपाना हो, यदि कल्पद्रुम-कुसुम-माला-मडिता स्वर्ण-प्रतिमा का अकाल-विसर्जन देखकर दिल दहलाना हो, तो आइये, हमारे साथ राणाजी के अन्तःपुर में चलिये; किन्तु उदयपुर के रनिवास मे चलकर एक हृदय-द्रावक दृश्य देखने के लिए पहले हृदय को वज्र से मढ लीजिये!

(६)

"विषस्य विषमौषधम्"

भीमसिह के पिता की वेश्या का पुत्र जवनदास नंगी तलवार लेकर उदयपुर के रनिवास को एक अनपेक्षित दृश्य दिखाने के लिए, प्रात.काल से ही राजमहल के भीतरी भाग में इधर से उधर घूम रहा था। इतने ही मे वह सुर-सुन्दरी, ईषत्-प्रस्फुटित कमल की भाँति मंद-मंद मुस्कराती हुई आकर उसके सामने नतमस्तक हो खड़ी हो गई। एक तो वह अपने सुगन्ध-सिक्त केश-गुच्छ के भार से नत थी, दूसरे पितातुल्य जवनदास के आगे आकर वह लाज के बोझ से और भी दब गई। उस मुक्तकेशी सुकुमारी का भूलोक-दुर्लभ लावण्य देखते ही जवनदास करुणा से भर गया। जवन-दास के हृदय-रूपी करुण-समुद्र मे कृष्णा के लोचन लाज के जहाज बन

गये। उसके हाथ से तलवार छूटकर गिर पडी ! उसे मालूम हुआ कि भीषण भूकम्प के कारण सारा राजप्रासाद पाताल मे धँसा जा रहा है।

कृष्णा धीरे से शीश झुकाकर बैठ गई। उसके मुखमंडल पर प्रसन्नता का रंग चढ़ता जाता था। अग-अंग से प्रफुल्लता चुई पडती थी। जवनदास की आँखें दया-द्रवित आँसुओ मे डूब गईं। उसके पैर उसकी काँपती हुई देह का भार न थाम सके।

उसी समय एक सजल-लोचना सुमुखी दासी हाथ मे विष का एक प्याला लेकर आई और कृष्णा के हाथ मे उसे देकर बोली—"उदयपुर के कल्याण की कामना करते हुए इसे पी जाइये।" कृष्णा ने शान्त भाव से प्याला थामकर, धीरतापूर्वक, विष को पी लिया। उसी समय कृष्णा की सदया माता, वत्सोत्सुका धेनु की तरह, दौड़ती हुई वहाँ आ पहुँची। कालसर्प की तरह उस जवनदास की तलवार को वहाँ पड़ी देखकर, और विष के प्याले को बिल्लौरी फर्श पर लुढकता हुआ पाकर वह राणाजी पर आक्रोश की वर्षा करने लगी। वात्सल्य-विभोर माता कृष्णा को गले से लगाकर उसका माथा सूँघकर, रोने लगी।

कृष्णा ने माता को सान्त्वना देते हुए कहा—"जननी! तू वीर-माता और वीर-वधू होकर इस प्रकार क्यो अधीर हो रही है? राजपूत-कन्या होकर मुझे मौत से डरने का क्या काम है? जिस दिन मैंने राजपूत-कुल मे नारी-जन्म धारण किया, उसी दिन मेरे भाग्य मे विधाता ने यह अकित कर दिया कि 'अकाल अथवा अपघात मृत्यु से एक दिन निश्चय मरना पड़ेगा।' राजपूतो की दुःख-भागिनी कन्याएँ तो जन्म लेते ही नमक चटाकर मार डाली जाती थी; किन्तु न जाने मैं किस सुख की आशा से, इतने दिनो तक, लाड-प्यार के साथ पाली गई थी!"

हा! कृष्णा के कोमल प्राणो ने प्राण-नाशक विष को भी परास्त कर दिया; किन्तु कृष्णा की परम सहिष्णुता ने राणा की निर्दयता को परास्त नही किया! दूसरा, और बाद को फिर तीसरा, प्याला पीकर भी कृष्णा ने दिखला दिया कि—

"राखनहारा साँइयाँ, मारि न सकिहै कोइ;"

किन्तु

"सुधा सराहिय अमरता गरल सराहिय मीच"

से विपरीत परिणाम को देखकर जवनदास के हृदय में हाहाकार मच गया! हाहाकार की प्रलयंकरी आँधी ने धैर्य्यद्रुम को उखाड डाला! प्रचड लू की लपटो से झुलसे हुए मरुस्थल-यात्री की तरह बेचारी माता निष्प्राण हो गई! यह पैशाचिक काड देखकर बाँदियाँ, माथा थामकर, अचेत हो, जहाँ-की-तहाँ, गिर पडी! सारा राजमहल शोक की गरजती हुई लहरो मे परिप्लावित हो गया!

हा! हन्त!! अभी तक राणा के हृदय मे दया का संचार नही हुआ! दया-देवी के मुँह पर लत्ता बाँधकर, और मनुष्यतादेवी की छाती पर पत्थर रखकर, राणा ने चौथा प्याला तैयार कराया! इस चौथे प्याले को हाथ मे लेते ही कृष्णा का सौन्दर्य्य-गरिमा-मय मुखारविन्द विकसित हो गया। इस प्रतारणामय संसार की दानवी लीला देखकर भी उसकी बडी-बडी आँखे हँसती ही रही। स्वार्थ की विकट लीला, संसार का क्षणभंगुर चाकचिक्य और मानव-जीवन की असारता पर तिरस्कारपूर्वक हँसते हुए हलाहल का प्याला मुख के पास ले जाकर बोली—"हे परमेश्वर! मैं स्वदेश और स्वजाति की मंगल-कामना के साथ तुम्हारे इस मायामय लीलागार से सदा के लिए प्रस्थान करती हूँ। कृपा करके 'मुझे माया से मुक्त करनेवालो का' मन्तव्य पूर्ण करना! हे अशरण-शरण! मेरे प्राण-पखेरू को अपने पद-पल्लवो की सुखद छाया मे विश्राम करने का स्थान दो। यदि तुम्हारे पद-प्रान्त-पर्य्यन्त पहुँचने का सौभाग्य मुझे नही प्राप्त हो सकता, तो दयापूर्वक मुझे ऐसे किसी स्थल मे पहुँचने की शक्ति दो, जहाँ मृत्यु का भय नही, अन्धकार का आधिपत्य नही, पाप का प्राबल्य नही, पीड़ा का प्रभुत्व नही और स्वार्थ का सम्राज्य नही। हे भक्तकल्पद्रुम! मैं अब ऐसे ही किसी स्थान में जाना चाहती हूँ, जहाँ दया की नदियाँ बहती हो, सत्य का सूरज चमकता हो, प्रेम की चाँदनी

छिटकती हो, क्षमा की ठंढी-ठंढी हवा चलती हो, सन्तोष के फूल खिलते हो, अमृत के फल फलते हो, आनन्द की ऊषा और शान्ति की सन्ध्या होती हो।"

इतना कहते-कहते कृष्णा का कमनीय कलेवर एकाएक तेजःपुञ्जमयी सौन्दर्य्य-ज्वाला से प्रज्वलित हो उठा! बुझते हुए दीपक की लौ की-सी सुन्दर मुस्कान से मुखमंडल उद्भासित हो उठा! प्याला का विष, अमृत से भरे हुए कनककुंड में, ढलक गया! राजस्थान की कमलिनी मुर्झा गई! मेवाड़ की कीर्त्ति-कौमुदी अस्त हो गई! उदयपुर की राज-लक्ष्मी अन्तर्हित हो गई! सतीत्व की धवल धारा सूख गई! अभागे भारत के निर्मल आकाश से एक ज्योतिष्मान् नक्षत्र टूट पड़ा!

राहुल सांकृत्यायन

धर्म और घुमक्कड़ी

किसी-किसी पाठक को भ्रम हो सकता है, कि धर्म और आधुनिक घुमक्कडी मे विरोध है। लेकिन धर्म से घुमक्कड़ी का विरोध कैसे हो सकता है, जब कि हम जानते है कि प्रथम श्रेणी के घुमक्कड ही कितने ही धर्मो के सस्थापक हुए, और कितनो ने धर्म से सबधित हो अद्भुत साहस का परिचय देते दुनिया के दूर-दूर के देशो की खाक छानी। फाहियान की यात्रा हमने पढी है, स्वेन्चाङ् और ईचिङ् के भी दुर्दम्य साहस का परिचय उनकी यात्राओ से पाया है। मार्कोपोलो का उस समय की ज्ञात दुनिया मे घूमना और देखी हुई चीजो का सजीव वर्णन आज भी घुमक्कड़ो के हृदय को उल्लसित कर देता है। जिन घुमक्कड़ो ने अपने यात्रा-वृत्तान्त लिखे, उनमे भी सबका विवरण हम तक नही पहुँचा, लेकिन उनमे बहुत भारी संख्या तो ऐसे घुमक्कड़ो की है, जिन्होने अपना कोई यात्रा-वृत्तान्त नही लिखा। तिब्बत मे गये दो सौ से ऊपर भारतीय पण्डितो ने कितना कष्ट सहा होगा? घुमक्कड़-राज स्मृतिज्ञान-कीर्ति (१०४२ ई०) ने कितनी साहसपूर्ण यात्रा आज से नौ सौ वर्ष पहले की थी। स्मृति ने अपने और दूसरो के लिखे कई सस्कृत ग्रन्थों का भोटिया भाषा मे अनुवाद किया, जो अब भी सुरक्षित है; किन्तु उन्होने अपनी यात्रा के बारे मे कुछ नही लिखा। हमें तिब्बतवालो का कृतज्ञ होना चाहिए, जिनके द्वारा स्मृतिज्ञान-कीर्ति की कुछ बाते हम तक पहुँची। स्मृतिज्ञान-कीर्ति मगध के किसी बडे विद्यापीठ के मेधावी तरुण पण्डित थे। उस समय भारत-मही घुमक्कड़-वीरो से विहीन नही हुई थी। हमारे तरुणो मे दुनिया देखने और वहाँ अपने देश के सन्देश पहुँचाने

की धुन रहती थी। दुनिया मे भी भारत के सांस्कृतिक दूतों की माँग थी, क्योकि भारतीय संस्कृति का सितारा उस वक्त ओज पर था। किसी विद्या-प्रेमी तिब्बती बौद्ध ने भारत आकर अपने देश ले जाने के लिए पण्डितो की खोज की। स्मृति और उनका एक तरुण साथी तैयार हो गये। विद्यापीठ के बन्धु-बान्धवो ने उनके संकल्प को जानकर बहुत प्रसन्नता प्रकट की और बडी धूमधाम से बिदाई दी। स्मृति और उनके साथी पैदल चलकर नेपाल पहुँचे । नेपाल मे तिब्बत ले जानेवाला पुरुष हैजे से मर गया। दोनो तरुण बड़ी कठिनाई मे पड़े। उन्हे भाषा भी नही मालूम थी और जिसके सहारे आये थे, वह संग छोड़कर चल बसा। स्मृति ने कहा—हम अपनी नाव डुबा चुके है, पीछे लौटकर परले पार जाने का कोई उपाय नही है। मगध मे लौटकर लोगो को क्या जवाब देगे, जब वे कहेगे—"आ गये तिब्बत मे धर्म-विजय करके?"

अन्त मे आगे चलने का निश्चय करके दोनो तिब्बत के भीतर घुसे। यद्यपि स्मृति ने अपने साथी को ठोक-पीटकर वहाँ तक पहुँचाया, तो भी वह उस धातु का नही बना था, जिसके कि स्मृतिज्ञान-कीर्ति थे। स्मृति संस्कृत के धुरन्धर पण्डित थे, लेकिन वह देख रहे थे कि तिब्बती भाषा जाने बिना उनका सारा गुड़ गोबर है। उन्होने निश्चय किया, पहले तिब्बती भाषा पर अधिकार प्राप्त करना चाहिए। यह कोई मुश्किल बात न थी, बस सब-कुछ छोडकर तिब्बती मानव-समाज मे डूब जाने की आवश्यकता थी। उस वक्त तिब्बत मे जहाँ-तहाँ संस्कृत के जाननेवाले व्यक्ति भी मिलते थे, स्मृति ने उनका परिचय अपने लिए भारी विघ्न समझा। भारत आनेवाले मार्ग के पास के गाँव डाङ् मे उन्हे इसका डर लगा, वह ब्रह्मपुत्र पार और दो दिन के रास्ते पर तानक् चले गये। ग्यारहवी शताब्दी के मध्य मे तानक् के लोग कैसे रहे होगे, यह इसी से समझा जा सकता है कि आज भी वहाँ के लोग खेती पर नही अधिकतर मेषपालन पर गुजारा करते है और उनका अधिक समय भी स्थायी घरो मे नही बल्कि काले तबुओ मे बीतता है। स्मृति एक फटा-

पुराना चीथडा लपेटे, वड़ी गरीबी की हालत मे तानक् पहुँचे। टूटी-फूटी बोली मे मजूरी ढूँढते हुए खाने-कपडे पर किसी के यहाँ नौकर हो गये। स्मृति के मालिक-मालकिन अधिक कठोरहृदय के थे, विशेषकर मालकिन तो फूटी आँखो नही देखना चाहती थी कि स्मृति एक क्षण भी बिना काम के वैठे। स्मृति ने सव कष्ट सहते हुए कई साल तानक् में बिताये। तिव्वती भाषा को उससे भी अच्छा बोल सकते थे जैसा कि एक तिव्वती; साथ ही उन्होने लुक-छिपकर अक्षर और पुस्तको से भी परिचय प्राप्त कर लिया था। शायद स्मृति और भी कुछ साल अपनी भेडो और चमरियो को लिये एक जगह से दूसरी जगह घूमते रहते, परन्तु इसी समय किसी तिव्वती विद्याप्रेमी को पता लगा। वह स्मृति को पकड ले गया। स्मृति को घुमक्कड़ी का चस्का लग गया था, और वह किसी एक खूंटे से वरावर के लिए वँध नही सकते थे। स्मृति ने फिर अपनी मातृभूमि का मुँह नही देखा और नेपाल की सीमा से चीन की सीमा तक कुछ समय जहाँ-तहाँ ठहरते, शिष्यों को पढाते और ग्रन्थो का अनुवाद करते हुए सारा जीवन बिता दिया। स्मृति का वौद्ध-धर्म से अनुराग था। हर एक घुमक्कड का स्मृति से अनुराग होगा; फिर कैसे हो सकता है कि कोई व्यक्ति स्मृति के धर्म (बौद्ध-धर्म) को अवहेलना की दृष्टि से देखे।

एक स्मृति नही, हजारो बौद्ध-स्मृति एशिया के कोने-कोने मे अपनी हड्डियाँ को छोडकर अनन्त निद्रा मे विलीन हो गये। एशिया ही नही मकदूनिया, क्षुद्र-एशिया, मिस्र से लेकर वोर्नियो और फिलिपाइन के द्वीपो तक मे उनकी पवित्र अस्थियाँ विखरी पडी है। बौद्ध ही नही, उस समय के ब्राह्मण-धर्मी भी कूप-मडूक नही थे, वह भी जीवन के सबसे मूल्यवान् वर्षो को विद्या और कला के अध्ययन मे लगाकर बाहर निकल पड़ते थे।

रत्नाकर की लहरे आज भी उनके साहस की साक्षी है। जावा को उन्होने सस्कृति का पाठ पढ़ाया। चम्पा और कम्बोज मे एक-से-एक

धुरन्धर विद्वान् भारतीय घुमक्कड पहुँचते रहे। वस्तुतः पीछे के तेली के बैलो को ही नही बल्कि उस समय के इन घुमक्कडो को देखकर कहा गया था—

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥"

आज भी जावा के बडे-बडे संस्कृत के शिलालेख, कम्बोज के सुन्दर गद्य-पद्यमय विशाल अभिलेख हमारे उन यशस्वी घुमक्कडो की कीर्ति को अमर किये हुए हैं। लाखो, करोडों, अरबो आदमी तब से भारत मे पैदा हुए और मर गये, लेकिन ऐसे कीट-पतंगो के जन्म से क्या लाभ? ये हमारे घुमक्कड थे जो डेढ हजार वर्ष पहले साइबेरिया की बाइकाल झील का चक्कर काट आये थे। आज भी भारत का नाम वहाँ उन्ही की तपस्या के कारण अत्यन्त श्रद्धा से लिया जाता है। कोरिया के बज्र पर्वत मे जाइये, या जापान के मनोरम कोयासान मे, तुङ् हुवान् की सहस्र-बुद्ध गुहाओ मे जाइये या अफगानिस्तान के बामियान मे—सभी जगह अपने घुमक्कडो के गौरवपूर्ण चिह्न को देखकर हमारी छाती गज-भर हो जाती है, मस्तक दुनिया के सामने उन्नत और उनके सामने विनम्र हो जाता है। जिस भूमि ने ऐसे यशस्वी पुत्रो को पैदा किया, क्या वह आज केवल घरघुसुओ को पैदा करने लायक ही रह गई है?

हमारे ये भारतीय घुमक्कड बौद्ध भी थे, ब्राह्मण भी थे। उन्होने एक बडे पुनीत कार्य के लिए आपस मे होड लगाई थी और अपने कार्य को अच्छी तरह सम्पादित भी किया था। धर्म की सभी बातो मे विश्वास करना किसी भी बुद्धिवादी पुरुष के लिए सम्भव नही है, न हरएक घुमक्कड़ के सभी तरह के आचरणो से सहमत होने की आवश्यकता है, घुमक्कड़ इस बात को अच्छी तरह से जानता है, इसलिए यह नानात्व मे एकत्व को ढूँढ निकालता है। मुझे याद है १९१३ की वह शाम, मै कर्नाटक देश मे होसपेट स्टेशन पर उतरकर विजयनगरम् के खण्डहरो मे पहुँचा था—वही खण्डहर, जिसमे किसी समय मानव-

जीवन की सुन्दर मदिरा छलक रही थी, कही मणिमाणिक्य, मुक्ता-सुवर्ण से भरी हुई आपण-शालाये जगमगा रही थी, कही संगीत और साहित्य की चर्चा चल रही थी, कही शिल्पी अपने हाथ मे छूकर जादू की तरह सुन्दर वस्तुओ का निर्माण कर रहे थे, कहीं नाना प्रकार के पक्वान और मिठाइयाँ तैयार करके सजाई हुई थी, जिनकी सुगन्धि मे जीभ को सिक्त होने से रोकना मुश्किल था। आज जो उजडे दीखते है उस समय मे वे भव्य देवालय थे, जिनकी गंध-धूप से चारो ओर सुगन्धि छिटक रही थी और जिनकी वाहर की वीथियो मे तरह-तरह की सुगंधित पुष्पो की मालाएँ सामने रखे मालिनें बैठी रहती थी। इसी सायंकाल को तरुणियाँ नवीन परिधान पहने भ्रमर-सदृश काले-चमकीले केशपाशो को सुन्दर पुष्पो से सजाये अपने यौवन और सौंदर्य से दिशाओ को चमत्कृत करते घूमने निकलती थी। प्राचीन विजयनगर के अतीत के चित्र को अपने मानस नेत्रो से देखता और पैरो से उसके बीहड ककाल मे घूमता हुआ मै एक इमली के पेड के नीचे पहुँचा। एक पुराने चबूतरे पर वहाँ एक वृद्ध बैठा था—साधारण आदमी नही घुमक्कड।

वृद्ध ने एक तरुण घुमक्कड को देखकर कहा—आओ संत, थोडा आराम करो। तरुण घुमक्कड उसके पास बैठ गया। सामने आग जल रही थी। दक्षिणी अमेरिका से तीन सौ ही वर्ष पहले आये तम्वाकू ने साधारण लोगो के जीवन की ही शुष्कता को कुछ हद तक दूर नही कर दिया, वल्कि उसके गुणो के कारण आज घुमक्कड भी उसके कृतज्ञ है। वहाँ आग भी उसी के लिए जल रही थी। नही कह सकता, ज्येष्ठ घुमक्कड के पास गाँजा था या नही। यह भी नही कह सकता, कि उस महीने मे तरुण गाँजा-पान से विरत था या नही। खैर, ज्येष्ठ घुमक्कड ने सूखे तमाखू की चिलम भरी और फिर दोनो वारी-वारी से चिलम का दम लगाते देश-देशान्तर की वाते करने लगे। थोड़ी देर मे एक तीसरा घुमक्कड भी आ गया। चिलम कुछ देर से हाथ में आने लगी, किन्तु अब गोष्ठी मे तीन कण्ठो मे वाते निकल रही थी। सूर्य

अस्त हो गया, अँधेरा होने की नौबत आई। तीसरे घुमक्कड़ ने तरुण से कहा—"चलें तुगभद्रा के तीर, वहाँ और भी तीन मूर्तियाँ है।" ज्येष्ठ घुमक्कड़ से एक चिर-परिचित बन्धु की तरह विदाई ले तरुण उसके साथ चल पड़ा। जानते है, वे तीनो घुमक्कड कौन-से धर्म को मानते थे? उनका सर्वोपरि धर्म था घुमक्कड़ी, किन्तू उन्होंने अपने-अपने व्यक्तिगत धर्म भी मान रखे थे। ज्येष्ठ घुमक्कड एक मुसलमान फकीर, अच्छा घुमक्कड़ था; तरुण घुमक्कड़ इन्ही पंक्तियो का लेखक था, और उस समय शंकराचार्य और रामानुजाचार्य के पंथो के बीच मे लटक रहा था तथा छूतछात मे थोड़ा ही उदार हो पाया था। तीसरा घुमक्कड़ शायद कोई संन्यासी था।

तुगभद्रा के किनारे पत्थर की मढियो और घरो की क्या कमी थी, जब कि विजयनगर की सारी नगरी वहाँ बिखरी हुई थी। मढी नही पत्थर का ओसारा जैसा था। लकडी की कमी नही थी, यह इसी से स्पष्ट था कि धुनी मे मन-मन भर के तीन-चार कुंदे लगे हुए थे। उस प्रदेश मे जाड़ा अधिक नही होता, तो भी यह पूस-माघ का महीना था। पाँच मूर्तियाँ धुनी के किनारे बैठी हुई थी। किसी के नीचे कम्बल था, किसी के नीचे मृगछाला। दूकान शायद पास मे नही थी, यदि रही होती तो अवश्य उनमे से किसी ने भी अपने गाँठ के पैसे को खोलने मे कम उतावलापन नही दिखलाया होता। घुमक्कडी का रस यहाँ छल्-छल् बह रहा था, किसी मे 'मै' और 'मेरे' की भावना न थी, न किसी तरह की चिन्ता थी। उनमे न जाने कौन कहाँ पैदा हुआ था। घुमक्कड़ जब तक कोई विशेष प्रयोजन न हो, किसी का जन्मस्थान नही पूछते और जात-पाँत पूछना तो घटिया श्रेणी के घुमक्कड़ो मे ही देखा जाता है। किसी ने आटे को गूँध दिया और किसी ने बड़े-वडे टिक्कर धुनी की एक ओर हटाई निर्धूम आग मे डाल दिये, किसी ने चिलम भरकर भीगी साफी के साथ दोनो हाथो से सर्वज्येष्ठ पुरुप के हाथ मे दिया और उसने "लेना हो शकर, गाजा है न कंकर। कैलाशपति के राजा, दम

लगाना हो तो आ जा।" कहकर एक हल्की और दूसरी कड़ी टान खीची, फिर मुँह से धुएँ की विशाल राशि को चारो ओर विखेरते हुए अपने वगल के घुमक्कड़ के हाथ में दे दिया। चिलम इसी तरह घूमती रही, उधर देश-देशान्तर की वाते भी होती रही। किसी ने किसी नवीन स्थान की वाते सुनकर वहाँ जाने का संकल्प किया; किसी ने अपने देखे हुए स्थानो की वातें कहकर दूसरे का समर्थन किया। भोजन चाहे सूखी रोटी और नमक का ही रहा हो, लेकिन वह कितना मधुर रहा होगा, इसका अनुमान एक घुमक्कड़ ही कर सकता है। वड़ी रात तक इसी तरह घुमक्कड़ो का सत्संग चलता रहा। वेदान्त, वैराग्य का वहाँ कोई नाम नही लेता था, न हरिकीर्त्तन की कोई पूछ थी (अभी हरि-कीर्त्तन की वीमारी वहुत वढ़ी नही थी)। घुमक्कड जानते हैं, यह दुनिया ठगने की चीज है। प्रथम श्रेणी के घुमक्कड़ इस तरह की प्रवंचना से अलग रहना चाहते हैं।

हाँ, तो धर्मो की सकीर्ण सीमाओ को घुमक्कड पार कर जाता है, उसके लिए यह भेदभाव तुच्छ-सी चीज है, तभी तो वहाँ इमली के नीचे मुसलमान घुमक्कड़ ने दो काफिर घुमक्कडो का स्वागत किया और तुंगभद्रा के तट पर पाँचो मूर्तियो ने संन्यासी, वैरागी का कोई ख्याल नही रखा। लेकिन घुमक्कड़ की उदारता के रहते हुए भी धर्मो की सीमाएँ है, जिनके कारण घुमक्कड और ऊपर नही उठने पाता। यदि यह नही होता तो तरुण घुमक्कड को इमली के नीचे रात विताने में उज्र नही होना चाहिए था। आखिर वहाँ धुनी रमाये शाह साहव दो टिक्कर पैदा कर सकते थे, जिसमे एक तरुण को भी मिल जाता। यहाँ आवश्यकता थी कि घुमक्कड़ सारे वंधनो को तोड़ फेंकता। वहाँ तक पहुँचने मे इन पक्तियो के लेखक को पंद्रह-सोलह वर्ष और लगे और उसमे सफलता मिली वुद्ध की कृपा से, जिसने हृदय की ग्रन्थियो को भिन्न कर दिया, सारी समस्याओ को छिन्न कर दिया।

ईसाई घुमक्कड ब्राह्मण-धर्मी घुमक्कड़ से इस बात में अधिक उदार हो सकता है; मुसलमान फकीर भी घुमक्कड़ी के नशे मे चूर होने पर किसी तरह के भेदभाव को नही पूछता। लेकिन, सबसे हीरा धर्म घुमक्कड़ के लिए जो हो सकता है, वह है बौद्ध धर्म, जिसमे न छूआछूत की गुंजाइश है, न जात-पाँत की। वहाँ मगोल चेहरा और भारतीय चेहरा, एशियाई रंग और यूरोपीय रंग, कोई भेदभाव उपस्थित नही कर सकते। जैसे नदियाँ अपने नाम-रूप को छोडकर समुद्र मे एक हो जाती है, उसी तरह यह बुद्ध धर्म है। इस धर्म ने घुमक्कडों के लिए एशिया के बड़े भाग का दर्वाजा खोल दिया है। चीन मे जाओ या जापान में, कोरिया मे जाओ या कम्बोज मे, स्याम मे जाओ या सिहल मे, तिब्बत मे जाओ या मंगोलिया मे, सभी जगह आत्मीयता देखने मे आती है। लेकिन घुमक्कड़ को यह आत्मीयता किसी संकीर्ण अर्थ मे नही लेनी चाहिए। उसके लिए चाहे कोई रोमन कैथालिक या ग्रीक सम्प्रदाय का भिक्षु हो, यदि वह भिक्षुपन की उच्च सीढी अर्थात् प्रथम श्रेणी के घुमक्कड़ के पद पर पहुँच गया है, तो उसे ईसाई साधु को देखकर उतना ही आनन्द होगा जितना अपने सम्प्रदाय के व्यक्ति से मिलकर। उसके वर्ताव मे उसी समय विलकुल अन्तर हो जायगा, जब कि मालूम हो जायगा कि कैथालिक साधु तेली का बैल नही है और न रेलो तथा जहाजों तक ही गति रखता है। जहाँ उसने अफ्रीका के सेहरा, सीनाई पर्वत की यात्रा की कुछ बाते बतलाईं कि दोनों में सगापन स्थापित हो गया। साधु सुन्दरसिंह के नाम को कौन सम्मान से नही लेगा। वह एक ईसाई घुमक्कड थे और हिमालय के दुर्गम प्रदेशो मे बराबर इधर-से-उधर जाते रहने मे रस लेते थे। ऐसी ही किसी यात्रा मे उन्होने कही पर अपने शरीर को छोड़ दिया। साधु सुन्दरसिह के ईसा के भक्त होने मे कौन-सा अन्तर पड़ जाता है? घुमक्कड़ वस्तुतः धर्म को व्यक्तिगत चीज समझता है।

धर्मों और सम्प्रदायो के बन्धनो का ऊपरी प्रश्न घुमक्कड के लिए

कोई वात नही है। दोनो मध्य एशिया में इस्लाम के पहुँचने के पहले घुमक्कड़ साधुओ का वोलवाला था। देश-देश के घुमक्कड़ वहाँ पहुँचते थे। दक्षिण से भारतीय, पूर्व से चीनी बौद्ध आते, पश्चिम से नेस्तोरी (ईसाई) और मानी-पन्थी साधु आते। उनके अलग-अलग मठ और मन्दिर भी थे, किन्तु साथ ही एक-दूसरे के मन्दिर के द्वार भी किसी के लिए वन्द नही थे। सुदूर उत्तर एशिया की घुमन्तू जाति में भी वह वहुत घूमा करते थे। वह भी एक जगह मिलने पर उसी तरह का दृश्य उपस्थित करते, जैसा कि उस दिन तुंगभद्रा के किनारे. देखने में आया था। लेकिन हजार-ग्यारह सौ वर्ष पहले मध्य एशिया में इस्लाम जैसा कट्टर धर्म पहुँच गया। उसने समझाने की जगह तलवार से काम लेना चाहा। मध्य एशिया में ऐसे अनेक उदाहरण मिले हैं, जव कि बौद्ध, मानी और नेस्तोरी पन्थ के साधुओ ने एक छत के नीचे रहकर अपना जीवन विताया और उसी छत के नीचे इस्लामी तलवार के नीचे अपनी गर्दने दे दी। यहाँ तक कि जव पूर्वी मध्य एशिया से बौद्ध साधु भागकर दक्षिण में लदाख के बौद्ध देश में आये, तो वह अपने साथ नेस्तोरी वन्धुओ को भी लेते आये। इस महान् भ्रातृभाव को इस्लामी मुल्लाओ ने नही समझ पाया। आगे चलकर उनमें घुमक्कड़ी का वीज जव जमने लगा, तो सभी धर्मों के साथ सहिष्णुता भी उनके फकीरो मे आने लगी।

धर्मों के सम्बन्ध में घुमक्कड़ का क्या भाव होना चाहिए, यह ऊपर के कथन से स्पष्ट हो गया होगा। घुमक्कड़ी व्रत और संकीर्ण सांप्रदायिकता एक साथ नही चल सकती। प्रथम श्रेणी के घुमक्कड़ को हम श्रेष्ठ पुरुष मानते है। वह मानव-मानव में संकीर्ण भेदभाव को नही पसन्द करता। सभी धर्मो ने मानवता की जो अमूल्य सेवाएँ भिन्न-भिन्न क्षेत्रो में की हैं, उनकी वह कदर करता है, यद्यपि धर्मान्धों को वह क्षमा नही कर सकता। सभी धर्मों ने केवल देववाद और पूजा-पाखंड तक ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री नही समझी। उन्होने अपने-अपने

कार्यक्षेत्र में उच्च साहित्य का सृजन किया, उच्चकला का निर्माण किया, वहाँ के लोगों के मानसिक विकास के तल को ऊँचा किया, साथ ही आर्थिक साधनों को भी उन्नत बनाने में सहायता की। यही सेवाएँ है, जिनके कारण तत्तद्-देशों में अपने-अपने धर्म के प्रति विशेष सद्भाव और प्रेम देखा जाता है; तथा कोई अपने ऐसे सेवक धर्म को सहसा छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता। जिस तरह धर्मों ने सारे देश और जाति की सेवा की है, उसी तरह उसने घुमक्कडी आदर्श के विकास और विस्तार मे भी भाग लिया है। इसलिए धर्मों की सारी निर्दोष भावनाओं और प्रवृत्तियों के प्रति घुमक्कड़ की सहानभूति होती है। हो सकता है, घुमक्कड़ का किसी एक धर्म के प्रति अधिक सम्मान हो, किन्तु अनेक बार घुमक्कड़ को सभी रूपो में देखा जा सकता है। इसे सिद्धान्तहीनता नही कहा जा सकता। सिद्धान्तहीनता तो तब हो, जब घुमक्कड़ अपने उक्त सद्भाव को छिपाना चाहे।

लेकिन आजकल ऐसे भी घुमक्कड़ मिल सकते है जो धर्म से बिलकुल सम्बन्ध नही रखते। ऐसा घुमक्कड बुरा नही कहा जा सकता, बल्कि आजकल तो कितने ही प्रथम श्रेणी के घुमक्कड़ इसी तरह के विचार के होते है। विस्तृत भूखंड की यात्रा करने और शताब्दियो के अपरिमित ज्ञान के आलोडन करने पर वह धर्मों से संन्यास ले सकते है, तो भी उच्चतम घुमक्कड़ी आदर्श को जो अपने जीवन का अग बनाते है, वह सबसे अधिक अपने घुमक्कड़ बन्धुओं और सारी मानवता के हितैषी होते है। समय पड़ने पर नास्तिक घुमक्कड़ अपने विचारो को स्पष्ट प्रकट करते नही हिचकिचाता, किन्तु साथ ही सच्चे भाव से धर्म मे श्रद्धा रखनेवाले किसी अपने घुमक्कड़-बन्धु के दिल को वह कठोर वाग्बाण का लक्ष्य ही नही बना सकता। उसका लक्ष्य है, सबको मित्रतापूर्ण दृष्टि से देखना।

डा० रामकुमार वर्मा

कादम्ब या विष ?

[ऐतिहासिक एकांकी]

संकेत

सौन्दर्य और विलास के आवरण मे महत्त्वाकांक्षा उसी प्रकार पोपित होती है जैसे मखमली म्यान मे तलवार शयन करती है।

गुप्त साम्राज्य की कला और वैभव-सपन्नता मे अनन्तदेवी की हिंसा द्विजिह्व सर्पिणी का दंशन है। स्कन्दगुप्त का निर्वासिन और पुरगुप्त का युवराज-पद एक ही अभिसधि की दो शाखाएँ है।

जब स्त्री का आत्म-समर्पण पुरुष के मनोविज्ञान का अग बनता है तो जीवन मृत्यु के सामने घुटने टेक देता है। कुमारगुप्त के लिए कादम्ब की मादकता ही विष की मूर्च्छा बन गई !

पुरुष ! स्वामी बन कर, सौन्दर्य की सराहना कर, सेवक बन कर आत्म-समर्पण न कर !

नाटक के पात्र--

१. परम भट्टारक महाराजाधिराज कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य--मगध के सम्राट्।
२. कुमार स्कन्दगुप्त--युवराज।
३. पुरगुप्त-- सम्राट् के छोटे पुत्र।
४. अनन्तदेवी-- सम्राट् की छोटी रानी, पुरगुप्त की माता।
५. सुनन्दा-- अनन्तदेवी की अतरग परिचारिका।
६. टिण्डल-- हूण सैनिक।
७. नर्त्तकियाँ।

काल-- ४५५ ई०।

समय--८ बजे रात्रि।

(अनन्तदेवी का श्रृंगार हो चुका है। वे दर्पण के समीप बैठी हुई सुनन्दा से वार्तालाप कर रही हैं। सुनन्दा उनकी केश-राशि मे मोतियों की माला सजा रही है।)

अनन्तदेवी—सुनन्दा! तू मेरी केश-राशि मे बड़े सुन्दर ढंग से मोती गूँथ रही है। पर यह बतला कि तूने कभी मेरे नेत्रो मे आँसुओं के मोती देखे है?

सुनन्दा—हाँ, देवी!

अनन्त—किस समय?

सुनन्दा—जिस समय आपने पहली बार परम भट्टारक के दर्शन किये और आपके विशाल नेत्रों से आनन्द के दो आँसू पलकों की कोर मे झलक उठे थे।

अनन्त—(हँसकर) अच्छा? और तूने कभी मेरे हृदय मे पीडा देखी?

सुनन्दा—हाँ, देवी!

अनन्त—किस समय?

सुनन्दा—जब लाज-भरे सौन्दर्य की पखुड़ियो को प्रेम की किरण ने पहली बार छेड़ा था।

अनन्त—ओह! कहाँ पहुँच गई! अच्छा, यह बतला कि मै किस समय सबसे अच्छी लगती हूँ?

सुनन्दा—उपाकाल की निद्रा मे। सौन्दर्य के साथ श्रांति; माधुर्य के साथ मादकता; जैसे सोने मे सुगन्धि हो।

अनन्त—(हँसकर) तू बड़ी प्रियवादिनी है, सुनन्दा!

सुनन्दा—यह बड़ा मोती केश-पाश के छोर मे सजा दूं?

अनन्त—सजा दे। ज्ञात होगा जैसे नीलाकाश के कोने में शुक्र नक्षत्र चमक रहा है। तू बड़ी कला-पारखी है। (सहसा) हाँ, मेरे शयन-पर्यंक की पीठिका केतकी के पराग से सजा दी गई?

सुनन्दा—मृणालिनी ने सजा दी, महादेवी!

अनन्त—और कर्पूर-पल्लवों के रस से कादम्ब-पात्र सुवासित हुआ?

सुनन्दा—लवंगिका ने सुवासित कर दिया, महादेवी!

अनन्त—और मेरे शयन-कक्ष की प्रतिमाओं के वक्षस्थल पर कुंकुम के रंग से चित्रकारी हो गई?

सुनन्दा—मधुरिका ने चित्रकारी कर दी, महादेवी!

अनन्त—मेरे कलहंसो ने कमल का मधु-रस पान किया?

सुनन्दा—गीतिका ने करा दिया, महादेवी!

अनन्त—और मेरी कोकिलाओं की आम्र-मंजरी के अंकुर तो खिला दिये गये होगे?

सुनन्दा—सुहासिनी ने अपने हाथ से खिला दिये, महादेवी!

अनन्त—मृणालिनी, लवंगिका, मधुरिका, गीतिका और सुहासिनी को मेरी मुस्कान का संवाद भिजवा दे, सुनन्दा!

सुनन्दा—जो आज्ञा! अभी जाऊँ?

अनन्त—नही, आर्यपुत्र शयन-मन्दिर मे आना ही चाहते है। मैं उनके स्वागत के मनोभावो में होना चाहती हूँ। मेरी वाणी संदेश-वाहक राजहंस के शब्द-सी हो। मेरा विरहोच्छ्वास सारिका के मधुर स्वर-सा हो। मेरा प्रणय-निवेदन कोकिल के कूजन-सा हो और मेरी दृष्टि चन्द्रिका-पान मे मद-विह्वल चकोर की दृष्टि हो।

सुनन्दा—मेरा निवेदन है कि इसके लिए प्रयत्न न करना होगा, महादेवी! ये तो आपके स्वाभाविक गुण है और वे अस्त्र होने की सीमा तक पहुँच गये हैं।

अनन्त—(हँसते हुए) तू सचमुच प्रियवादिनी है। फिर भी अपने अस्त्रो की धार तीक्ष्ण करने की आवश्यकता पड़ ही जाती है।

सुनन्दा—सत्य है, महादेवी!

अनन्त—तू मेरी वेणी में मुक्तामाल गूँथ चुकी?

सुनन्दा—हाँ, स्वामिनी!

अनन्त—तो अब इन वाद्य-यन्त्रो को मुखरित कर सकेगी?

सुनन्दा—आपकी आज्ञा ही मेरे समस्त कार्यो की स्वामिनी है।

अनन्त—मैं वीणा में अपनी उमंग को साकार देखना चाहती हूँ।

सुनन्दा—जो आज्ञा।

(कुछ क्षणों तक वीणा में राग भैरव का वादन)

अनन्त—बहुत सुन्दर! ऐसा ज्ञात होता है कि वीणा के प्रत्येक तार में मेरा हृदय अनगिनती कंपन ले रहा है। अब तू वंशी में मेरा प्रणय-निवेदन भर दे।

सुनन्दा—जो आज्ञा।

(कुछ क्षणों तक वंशी में राग मालकोश का वादन)

अनन्त—कितना सुन्दर प्रणय-निवेदन है! जैसे वंशी की ध्वनि करुण नेत्रो की दृष्टि वनकर प्रियतम के हृदय में निवास करने जा रही है। अब तू मेरे उत्साह को मृदंग में मुखरित करेगी?

सुनन्दा—जैसी आज्ञा, महादेवी!

(कुछ क्षणो तक मृदंग में राग हिण्डोल का वादन)

अनन्त—चमत्कारपूर्ण! मृदग के वोल ही जैसे मेरे पद-चाप हैं जो अपने आदर्श पर तीव्र गति से जा रहे हैं। कितनी गमनशीलता है! अब तू मेरे रोष को डमरू का स्वर देने का प्रयत्न कर।

सुनन्दा—जैसी आज्ञा।

(कुछ क्षणों तक डमरू में राग मारू का वादन)

अनन्त—बहुत अच्छे ढंग से तूने मेरे रोष का रूप उपस्थित किया। यह डमरू जैसे मेरे रोष के प्रत्येक प्रहार को बार-बार तीव्र आघातों से व्यक्त कर रहा है।

सुनन्दा—मै धन्य हुई, महादेवी! किन्तु इस रोष से मुझे भय लगता है।

अनन्त—तुझे भय करने का कोई कारण नही है, सुनन्दा! दूसरे हैं जो भय कर सकते है।

सुनन्दा—महादेवी! ऐसे कौन भाग्यहीन व्यक्ति है जिन्हे आपके रोष से भय होना चाहिए?

अनन्त—सुनन्दा! अपनी सीमा से आगे बढने का प्रयत्न न कर। राज-नीति परिचारिकाओ के मनोविनोद की सामग्री नही है।

सुनन्दा—क्षमा करे, महादेवी! मेरी जिज्ञासा राजनीति की दृष्टि नही रखती। वह तो केवल महादेवी की महत्ता के सामने श्रद्धानत होना चाहती है।

अनन्त—तो श्रद्धानत ही बने, रोष का मार्ग खोजने का प्रयत्न न करे। जाने दे। मेरा कठ शुष्क हो रहा है। कादंब!

सुनन्दा—जो आज्ञा, स्वामिनी! (कादम्ब भरकर देती है।)

अनन्त—(एक घूँट पीकर) बड़ा स्वादिष्ट कादंब है। तूने इसमे चंपक की सुगधि भी दे दी है। इसका पान करने पर ऐसा अनुभव होता है, सुनन्दा! जैसे मै इन्द्र के नन्दन-निकुज मे कल्पवृक्ष के किसलयो पर शयन कर रही हूँ और विद्याधर और किन्नरियाँ मेरे समक्ष सुगन्धि को ही राग बनाकर गा रहे है। इन्द्राणी मेरे चरण-पल्लवो को चूम रही है और स्वयं इन्द्र मरुत् को इस बात का सकेत कर रहे है कि वायु धीरे बहे। मेरे ओठो की लालिमा शुष्क भी न बने और मेरे केशो के तिरछे छोर मेरे मस्तक के समीप नृत्य करते रहे। सुनन्दा! यह दिव्य क्षण कितना मादक है!

सुनन्दा—हाँ! महादेवी!

(एक परिचारिका का प्रवेश)

परिचारिका—महादेवी की सेवा मे प्रणाम।

अनन्त—गीतिका, तू है? तुझे मेरी प्रसन्नता का सौभाग्य प्राप्त हो। किन्तु तुम सबने मुझे महादेवी कहना क्यो प्रारंभ कर दिया?

(हल्की हँसी)

गीतिका—स्वामिनी! महादेवी न होते हुए भी आप वास्तव मे महादेवी है, क्योंकि परम भट्टारक सम्राट् का प्रेम आप ही पर है। कुमार स्कन्दगुप्त की माता तो केवल महादेवी का नाम धारण करती है, महादेवी का महत्त्व नही।

अनन्त—तो क्या आर्यपुत्र केवल मेरे ही हे ?

सुनन्दा—जैसे साँस केवल नासिका से प्रवाहित होती है, दृष्टि केवल नेत्रों मे निवास करती है, प्राण केवल शरीर मे संचरित होते हैं उसी प्रकार परम भट्टारक सम्राट् का प्रेम केवल आपके द्वारा साकार होता है।

अनन्त—(हँसकर) तू तो कविता भी करने लगी, सुनन्दा ! इसमे केवल अलकार ही है या रस भी ? हाँ, गीतिका ! क्या समाचार लाई है ?

गीतिका—महादेवी की जय हो ! परम भट्टारक सम्राट् के चरणों की दिशा इस कक्ष की ओर हो रही है।

अनन्त—आर्यपुत्र इस कक्ष मे आ रहे है ?

गीतिका—सत्य है, महादेवी !

सुनन्दा—मेरा कथन भी कितना सत्य निकला, महादेवी !

अनन्त—आर्यपुत्र सचमुच ही मेरे है। सुनन्दा ! कादम्ब-पात्र पूरी तरह से भरा हुआ है ?

सुनन्दा—हाँ, महादेवी ! आपके आशीर्वाद की भाँति !

अनन्त—लेखनी प्रस्तुत है ?

सुनन्दा—हाँ, महादेवी ! कृपाण को भाँति !

अनन्त—फूल-माला प्रस्तुत है ?

सुनन्दा—हाँ महादेवी ! बाहु-पाश की भाँति !

अनन्त—गीतिका ! पारसीक नर्त्तकियो का प्रबंध है ?

गीतिका—हाँ, महादेवी !

अनन्त—जसे ही मै इच्छा करूँ, नर्त्तकियो को नृत्य के लिए उपस्थित रहना चाहिए।

गीतिका—जो आज्ञा, महादेवी !

अनन्त—अच्छा, तू जा।

गीतिका—महादेवी की जय हो। (प्रस्थान)

अनन्त—सुनन्दा! आज आर्यपुत्र के सामने वड़े महत्त्व की वात होनी है।

सुनन्दा—उस महत्त्व की वात में मेरे योग्य कोई सेवा हो सकती है, महादेवी?

अनन्त—(हँसकर) तू अपनी महादेवी को क्या किसी वात में असमर्थ समझती है?

सुनन्दा—ऐसा सोचना भी पाप है, महादेवी!

अनन्त—तो मैं अपना कार्य उसी भाँति कर सकती हूँ जिस प्रकार अंगारो से अपने-आप ज्वाला उठ आती है, वादलो के घुमड़ने पर आप-से-आप विजली चमकने लगती है और तीव्र वायु के चलने से लहरें अपने-आप प्रताड़ित होने लगती है।

सुनन्दा—यह सत्य है, महादेवी!

अनन्त—तो ज्वाला उठना चाहती है विजली चमकना चाहती है और लहरें प्रताड़ित होना चाहती ह।

सुनन्दा—महादेवी! मैं भयभीत हो उठी हूँ।

अनन्त—भयभीत! नारी भी कही भयभीत होती है? मूर्खा! (हँसती है।) जव नारी को अपने आप पर विश्वास नही रह जाता तभी वह भयभीत होती है। यदि नारी वर्तमान के साथ भविष्य को भी अपने हाथ में ले ले तो वह अपनी शक्ति से विजली की तड़प को भी लज्जित कर सकती है। वेचारी नारी! उसे निर्भर रहने का अभ्यास हो गया है। इसलिए भविष्य की झूठी कल्पना भी उसे प्रतिक्षण आतंकित किये रहती है। तू अपने भविष्य को हाथों में ले और शक्ति की देवी वन!

सुनन्दा—जैसी आज्ञा, महादेवी!

अनन्त—तभी मेरे कार्यो में तू सच्ची सहचरी वन सकती है।

सुनन्दा—आपके कार्यो मे, महादेवी! मेरी योग्यता?

अनन्त—इसमें योग्यता और अयोग्यता की कौन-सी बात है? सुनन्दा! आग जब संसार की प्रत्येक वस्तु को जलाने के लिए उठती है तब उसे किस योग्यता की साधना करनी पड़ती है? वह तो उसका स्वाभाविक गुण है! समुद्र की लहरें किस योग्यता को लेकर आकाश चूमती हैं?

सुनन्दा—सत्य है, महादेवी!

अनन्त—अब यही बात देख ले! मै आर्यपुत्र से हँसते हुए ऐसी बात करवा सकती हूँ जिसके लिए संसार में अनेक युद्ध हुए है या हो सकते है।

सुनन्दा—कौन सी बात, महादेवी?

अनन्त—(हँसकर) अच्छा! तो तेरी जिज्ञासा भी जाग उठी है? मै तुझे भी वतला दूँ?

सुनन्दा—महादेवी! भविष्य के परिणाम देखकर अपनी स्वामिनी की शक्ति की प्रशंसा ठीक ढंग से कर सकूंगी।

अनन्त—इन छद्मवेशी वाक्यो को सुनकर प्रसन्न होने के बदले मै तुझसे रुष्ट हो सकती हूँ।

सुनन्दा—आपके रोप का मार्ग खोजने का साहस किसी को भी न होगा, महादेवी!

अनन्त—किसी को भी न होगा? है। ऐसा साहस एक व्यक्ति मे है।

सुनन्दा—वह क्षीण आयुवाला कौन व्यक्ति है? महादेवी!

अनन्त—तू मेरी सहचरी है। तू सुन ले। किन्तु यह अत्यंत गोपनीय है।

सुनन्दा—यह मेरे प्राणो के स्थान पर रहेगा, महादेवी!

अनन्त—द्वार पर जाकर देख आ, कोई है तो नही?

सुनन्दा—जो आज्ञा। (द्वार तक जाती है।) कोई नही है, महादेवी!

अनन्त—सुन और सुनकर भूल जा। अनन्तदेवी की क्रोधाग्नि मे....

(दरवाजा खड़कने की हल्की आवाज)

अनन्त—यह किसने द्वार खटखटाया?

सुनन्दा—कोई नहीं है, महादेवी! वायु का शब्द है!

अनन्त—वायु का शब्द है? अच्छा, तो सुन, अनन्तदेवी की क्रोधाग्नि को छेडनेवाले का नाम है....... स्कन्दगुप्त।

सुनन्दा—(चौंककर) कुमार स्कन्दगुप्त!

अनन्त—चौंक उठी? (व्यंग की हँसी हँसकर) शक्ति-हीना नारी! पवन के झोको से चौंक उठना, फूलो की पंखुड़ियो से शरीर पर खरोंच लगना, कंठ पर बाहु का बोझ अनुभव करना, ये सब कुंज मे पुष्प-शय्या की बाते है, राजनीति की नही। राजनीति मे कुंज की पुष्प-शय्या जल उठती है, लाल फूल अगारो का रूप धारण कर लेते है और शीतल समीर सर्पो की फुफकार बन जाती है!

सुनन्दा—(कॉपते हुए) सत्य है, महादेवी! युवराज स्कन्दगुप्त...।

अनन्त—उसे युवराज न कह! युवराज-पद का सम्मान मेरे पुत्र पुरगुप्त को प्राप्त होगा। (प्रत्येक शब्द पर जोर देकर) मेरे पुत्र पुरगुप्त को।

सुनन्दा—(डरे हुए स्वर मे) महादेवी!

अनन्त—और डमरू के जिस स्वर मे तूने मेरे रोष को साकार किया है, उसके अनवरत प्रहारो मे स्कन्द के सारे स्वप्न भस्मीभूत होगे।

सुनन्दा—किन्तु परम भट्टारक का कुमार स्कन्दगुप्त पर पूर्ण विश्वास है।

अनन्त—आर्यपुत्र का स्कन्द पर विश्वास? (व्यग की हँसी) इस शयन-कक्ष के द्वार पर सारे विश्वास भिक्षुक बनकर खड़े रहते है। जिस विश्वास की झोली भरनी आवश्यक होती है, मै आर्यपुत्र के हाथो की दिशा बदलकर वह झोली भरती हूँ।

सुनन्दा—आप मे अपरिमित शक्ति है, महादेवी!

अनन्त—और सुन! मैने ऐसे विधान की रचना की है जिससे स्कन्द पर आर्यपुत्र का विश्वास वैसे ही क्षुब्ध हो उठेगा जैसे ग्रीष्मकाल मे बड़े-बड़े तालाबो का पानी सूख जाने से मछलियाँ लोटने लगती है।

सुनन्दा—सत्य है, महादेवी!

अनन्त—और तू जानती है, यह कैसे होगा ? स्कन्द की वीरता ही उसका षड्यन्त्र बनेगी, उसके द्वारा बंदी किया गया हूण सैनिक ही धन के लोभ से उसके मार्ग का कंटक बनेगा।

सुनन्दा—(काँपकर) महादेवी !

अनन्त—इस रहस्य को गोपनीय रख, शक्तिहीना नारी ! आज आर्य-पुत्र के मुख से उच्चरित होनेवाले शब्दों से गुप्त साम्राज्य का भविष्य बदलेगा।

सुनन्दा—(डरे हुए शब्दों मे) गुप्त साम्राज्य का भविष्य !

अनन्त—हाँ, गुप्त साम्राज्य का भविष्य। और यह सब करेगी महादेवी (महादेवी पर जोर) अनन्तदेवी !

(नेपथ्य मे—परम भट्टारक महाराजाधिराज की जय !)

अनन्त—(शीघ्रता से) आर्यपुत्र आ गये ! सुनन्दा, जल्दी कर। मेरी वेणी सुधार दे और यह आसन ठीक कर दे। उस पर मौलश्री की पक्तियाँ सजा दे।

सुनन्दा—जैसी आज्ञा, महादेवी !

अनन्त—और देख, चरण-पीठिका पर कौशेय वस्त्र की सिकुड़न दूर कर दे। और कादम्ब पात्र सामने की पीठिका पर सजा दे।

(सुनन्दा आज्ञानुसार वस्तुएँ सुसज्जित करती है।)

अनन्त—आज तेरी महादेवी की परीक्षा है। उसकी शक्ति आज राजनीति की कसौटी पर कसी जायगी। तू देखेगी कि उसके कार्यों की रेखा राजनीति की कसौटी पर कंचन की रेख जैसी चमकदार निकलती है।

(अट्टहास के साथ कुमारगुप्त का प्रवेश)

सुनन्दा—परम भट्टारक महाराजाधिराज की जय हो !

अनन्त—आर्यपुत्र की जय हो !

कुमारगुप्त—(हँसते हुए) प्रिये ! तुम्हे खोजते-खोजते थक गया। तुम इस कामदेव-कक्ष मे इतनी दूर चली आई !

अनन्त—आपके स्वागत के लिए। आर्यपुत्र! आसन ग्रहण कीजिए।

कुमारगुप्त—देवी! आसन नही, मुझे तो हृदय चाहिए, हृदय! अच्छा, तो मैं इस आसन को तुम्हारा हृदय समझकर ही ग्रहण करूँगा। (फिर हँसी) लो, ग्रहण कर लिया। (वठते है।) प्रिये! तुम्हारा कामदेव-कक्ष तो बहुत सुन्दर सजा हुआ है। और तुम भी कितनी सुन्दरी हो, प्रिये!

अनन्त—यह आपका अनुराग है, आर्यपुत्र!

कुमार—मुझे तो लगता है कि कामदेव भस्म होने के वाद अव स्त्री वन गया है, स्त्री! (हँसी) और तुम्हारे शरीर को पाकर फिर संसार में साकार हुआ है। (हँसी)

अनन्त—वह इसलिए आर्यपुत्र! कि आपके साहचर्य का सुख मिलता रहे।

कुमार—और तुम जानती हो, कि कामदेव भस्म होने के वाद स्त्री क्यों वन गया?

अनन्त—नही, आर्यपुत्र!

कुमार—इसलिए स्त्री वन गया कि पुरुप होने पर शिवजी उसे भस्म कर सकते थे। अव स्त्री होने पर उनकी क्या शक्ति जो उसे फिर भस्म कर सकें। स्त्री पर कोई पुरुष प्रहार नही कर सकता। तो यह कामदेव का पड्यन्त्र है, पड्यन्त्र, कि वह तुम्हारे रूप में प्रकट हुआ है जिससे वह सव प्रकार के प्रहारों से सुरक्षित रहे।

अनन्त—आर्यपुत्र का अनुराग ही तो मेरा कवच है।

कुमार—अनुराग है तभी तो इतनी दूर कामदेव-कक्ष तक चला आया। मार्ग में पुष्प की पंखुड़ियाँ विछी थी। ज्ञात होता था जैसे किसी कवि के छंद विछे हो और वाणी की भाँति मेरे पैर अग्रसर हो रहे थे। (गहरी साँस लेकर) ओह! थक गया!

अनन्त—सुनन्दा! एक पात्र कादंव......नही, नही.......तू जा। मै अपने हाथो से आर्यपुत्र को कादंव दूंगी। तू यहाँ से जा।

कुमार—हाँ, सुनन्दा! तू यहाँ से जा। जब पूर्णिमा की रात होती है तो चाँदनी आकाश मे चारों ओर से बरसना चाहती है। तू बादल बनकर उस चाँदनी को नही रोक सकती।

सुनन्दा—आपके आदेश का समीर मुझे कहीं भी ले जा सकता है, महाराज! प्रणाम! (अनन्तदेवी से) महादेवी! प्रणाम!

कुमार—(दुहराते हुए) महादेवी! (अट्टहास) तो महादेवी तुम हो! (प्रत्येक शब्द पर जोर देते हुए) सचमुच महादेवी तुम्ही हो। राज्य की महादेवी महारानी देवकी और मेरे हृदय-मन्दिर की महादेवी! तुम! तुम! अनन्तदेवी! जिनका प्रेम अनन्त है, जिनका सौन्दर्य अनन्त है और सौन्दर्य का आकर्षण? वह भी अनन्त है। अनन्त! अनन्त!

अनन्त—आर्यपुत्र! आपका कंठ सूख रहा है। यह कादम्ब!

कुमार—एँ, कादम्ब! तुम्हारे हाथों से! तुम्हीं अपने कोमल करों से पिला दो! (दो घूंट पीकर) आह, कितना मधुर, कितना मादक! जैसे यह तुम्हारा प्रेम है जो अपने आत्म-समर्पण मे तरल हो गया है और मै उसे ससार भर की प्यास लेकर पी रहा हूँ। (जोर से पीने का शब्द) महादेवी! महादेवी! तुम मगध की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी हो! (मतवाले स्वरों मे) सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी! चन्द्रमा की किरणो से अगर कोई तारों की माला गूँथे तो उसका नाम होगा अनन्तदेवी! परम भट्टारक के हृदय-मन्दिर की महादेवी!

अनन्त—आर्यपुत्र का प्रेम पाकर मै कृतार्थ हुई। मेरे हाथ से गूँथी हुई यह माला आपके हृदय मे स्थान पाकर धन्य बने।

कुमार—जिस हृदय में तुम्हारा निवास है, प्रिये! उसमें किसी अन्य के लिए स्थान नही है। किन्तु लाओ! यह माला अपने हाथों से पहिना दो (माला पहिनाती है)। समझूंगा कि मेरे हृदय में जो तुम्हारी मूर्ति है, उसके चरणो पर यह पुष्पांजलि सजी हुई है।

(देखकर) ऍं, यह वकुल की माला? देवी! यह तो उसी बकुल की माला है जो तुम्हारे मुख की मदिरा के छीटे पाकर उत्फुल्ल हुआ था!

अनन्त—हाँ, आर्यपुत्र! यह उसी वकुल की माला है।

कुमार—इसमे अशोक के अरुण पुष्प भी हैं जो तुम्हारे पदाघात से पुष्पित हुए थे। जव अशोक की डाल से उतरकर मयूर भागने की चेष्टा कर रहा था तव तुमने उसे अपनी चूड़ियो की मंजु ध्वनि मे नृत्य करा लिया था। नृत्य......अविराम नृत्य! ..... ओह,... ..एक पात्र कादम्ब!

अनन्त—यह है, आर्यपुत्र! (कादव देती है।)

कुमार—प्रिये! उस मयूर का नृत्य इस समय भी आँखो मे नाच रहा है।

अनन्त—आर्यपुत्र! कुछ पारसीक नर्त्तकियाँ भी आपकी सेवा मे नृत्य की अनुमति चाहती है।

कुमार—नृत्य! अवश्य होना चाहिए। देखूंगा कि तुम्हारी चूड़ियों की ध्वनि मे नाचते हुए मयूरो के नृत्य में और उनके नृत्य में कितना साम्य है।

अनन्त—जैसी आज्ञा। (कक्ष के घटे पर चोट करती है।)

कुमार—यह घटे की ध्वनि उसी प्रकार गूंज रही है जिस तरह समस्त मगध साम्राज्य मे तुम्हारी कीर्ति की ध्वनि गूंज रही है। प्रिये! इसी प्रकार तुम्हारे प्रेम से मेरा हृदय भी गूंजता रहता है।

अनन्त—तो आर्यपुत्र, आपके हृदय मे अनुराग का कैसा सगीत भरा हुआ है जो निरंतर गूंजता रहता है?

कुमार—जैसी मेरी हँसी गूंजती है। (अट्टहास)

(गीतिका का प्रवेश)

गीतिका—महादेवी को प्रणाम। मुझे क्या आज्ञा है?

अनन्त—नर्त्तकियो को आजा दो कि आर्यपुत्र ने उनके नृत्य को धन्य हो जाने की अनुमति प्रदान कर दी है। उन्हे यहाँ आने की आजा शीघ्र सुनाओ।

गीतिका—जो आज्ञा। (प्रस्थान)

कुमार—प्रिये! इन नर्त्तकियो द्वारा केवल नृत्य ही होगा या संगीत भी?

अनन्त—आर्यपुत्र ! पुरुष और प्रकृति के मिलन पर ही सृष्टि प्रारम्भ होती है। सगीत पुरुष है और नृत्य प्रकृति है। इन दोनो के मिलाप पर ही आनन्द की सृष्टि होगी।

कुमार—यह तुमने बहुत अच्छा कहा, प्रिये! यही मैं भी कहना चाहता था कि मेरी आत्मा मे तो तुम्हारे प्रेम का सगीत है और उस सगीत के अनुसार तुम्हारा क्रिया-कलाप ही नृत्य है। इन दोनो के मिलाप में.... (नेपथ्य मे नृत्य की ध्वनि)

अच्छा! नृत्य करते हुए नर्त्तकियाँ आ भी गईं!

(नर्त्तकियो का नृत्य करते हुए प्रवेश)

अनन्त—नर्त्तकियो! इस नृत्य के साथ इतना सुन्दर गायन हो कि आर्यपुत्र की प्रसन्नता तुम्हारे भविष्य पर भी छा जाय।

(नर्त्तकियो का गायन)

नूपुर की झनकार।

जैसे वायु पहन जाती है ध्वनि के चचल हार। नूपुर की झनकार।

कुज कुज की कली खिल गई;

प्रियतम से प्रियतमा मिल गई;

और अधूरी प्रेम-कथा है राका मे साकार! नूपुर की झनकार।

लज्जा की बंकिम अरुणाई;

तट पर सधी लहर सी आई;

सिकता-कण के प्राणो से गूंजा है मानो प्यार! नूपुर की झनकार।

(गाते हुए प्रस्थान)

कुमार—(मतवाले स्वरो मे) प्रिये! यह सगीत समाप्त होने पर भी कानो मे गूंज रहा है जैसे तुम्हारी स्मृति तुम्हारे जाने के बाद भी हृदय पर छाई रहती है। गीत कहता है कि 'और अधूरी प्रेम-कथा है राका मे साकार'। मै तो कहूँगा कि 'और अधूरी प्रेम-कथा है नयनों मे

साकार!' तुम्हारी आँखे मौन रहकर भी सारी प्रेम-कथा कह देती है।

अनन्त—मै धन्य हुई, स्वामी! एक कादम्व पात्र और दूं?

कुमार—प्रिये! जैसे सागर मे सहस्रो सरिताएँ अपना आत्म-समर्पण करती है किन्तु सागर अपनी मर्यादा नही छोड़ता उसी प्रकार कादम्व के अनगिनती पात्र मेरे कंठ मे अपना सर्वस्व समर्पित करते है और मेरा हृदय अपनी चेतना नही खोता ! प्रिये ! आँखो मे आलस्य का संकेत दीख रहा है। मै अव शयन करना चाहता हूँ।

(सहसा नेपथ्य मे भयानक तुमुल होता है।)

('इस हूण का वध'...'इस हूण का वध करना होगा' की कर्कश ध्वनि।)

अनन्त—(घवराये स्वर मे) अरे, यह तो पुरगुप्त का कंठ-स्वर है!

प्रतिहार—परम भट्टारक की जय हो! कुमार पुरगुप्त द्वार पर है।

कुमार—(अलसाये स्वर में) प्रिये! पुरगुप्त को भी एक कादम्व-पात्र की आवश्यकता होगी।

अनन्त—नही, आर्यपुत्र! कोई भयानक काड घटित हुआ ज्ञात होता है।

कुमार—नही, नही, कादम्व-पात्र के टूटने का शव्द होगा।

अनन्त—प्रतिहार! राजकुमार पुरगुप्त को यहाँ आने की सूचना दो।

प्रतिहार—जो आज्ञा। (प्रस्थान)

कुमार—(वैसे ही अलसाये और मादक-स्वर मे) प्रिये! मेरी आँखो में एक स्वप्न तैर रहा है। तुम हो, मै हूँ और हमारे सामने कादम्व की नदी वह रही है। हम और तुम उसमे स्नान कर रहे है। मैं जव कभी उस नदी मे तैरते हुए सिर उठाता हूँ तो तुम कादम्व के छीटे मुझ पर उछाल रही हो। वे छीटे मेरे मुख पर पड़ते हुए मेरे हृदय मे भी समा रहे है और मुझे हँसी आ रही है! हँसी आ रही है।

(मतवाली आवाज मे हँसते है।)

(पुरगुप्त का प्रवेश)

पुरगुप्त—परम भट्टारक के चरणों मे प्रणाम।

कुमार—कौन? कादम्ब चरणो में प्रणाम नही कर सकता। उसे मेरे मुख तक आना चाहिए।

अनन्त—आर्यपुत्र! पुरगुप्त चरणों मे प्रणाम कर रहे है।

कुमार—पुरगुप्त! कुमार पुरगुप्त! मै तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारा कादम्ब-पात्र कभी रिक्त न रहे।

पुरगुप्त—(घवराये स्वरो मे) परम भट्टारक! गुप्त साम्राज्य की राज-लक्ष्मी आज पड्यंत्र के चरणो पर वलि होने को थी, हमारे जीवन का सूर्य आज पश्चिमी क्षितिज पर पहुँचने को था और प्रतिहिसा-राक्षसी के लिए आज हमारे हृदय का पवित्र रक्त शरीर से वाहर आने को था।

अनन्त—पुरगुप्त! मेरे लाल! क्या हुआ? स्पष्ट शव्दो मे कहो न?

पुरगुप्त—माँ! शुक्ल पक्ष मे चद्रमा की कलाओ के समान वढनेवाले गुप्त साम्राज्य मे भी कलक की एक कालिमा है।

कुमार—कलक की कालिमा? वह मेरे कादम्ब-पात्र से उछला हुआ कोई छीटा तो नहीं है जो चंद्रमा तक जाकर उसका अजन वन गया! तुम लोग उसे कलंक कहने लगे। (हँसते है।)

पुरगुप्त—परम भट्टारक के कादम्ब-पात्र से नही, वात्सल्य से उछला हुआ अमृत है जो विप वन गया है। एक क्षण के विलव से हमारी सौभाग्य-लक्ष्मी विदेशियो से पद-दलित होती।

अनन्त—(आग्रह से) इस घटना को स्पष्ट करो, पुरगुप्त!

पुरगुप्त—कैसे स्पष्ट करूँ, माँ! जिस बात की सभावना स्वप्न मे भी नही हो सकती वह कठिन सत्य वनकर हृदय को ज्वालामुखी बना रहा है।

कुमार—किसी समय इस पृथ्वी ने भी मदिरा पी होगी। इतनी अधिक पी होगी कि वही ज्वालामुखी की लपट बनकर उन्मत्तता के साथ...

अनन्त—आर्यपुत्र स्वस्थ हो ! इस घटना का मदिरा से कोई संबंध नही है।

कुमार—तो मदिरा-पात्र से होगा।

पुरगुप्त—(सहसा) परम भट्टारक की हत्या से था।

अनन्त—(चीखकर) परम भट्टारक की हत्या से !

कुमार—(चौंककर) मेरी हत्या से ?

पुरगुप्त—हाँ पिताजी ! आपकी हत्या से। कुसुमपुर आज सर्पों की खान बन गया है। और ये सर्प स्वच्छन्दतापूर्वक घूमते हुए चाहे जिस व्यक्ति को दशित कर सकते है।

कुमार—मैं सर्प का नाम जानना चाहता हूँ, पुरगुप्त !

पुरगुप्त—परम भट्टारक क्षमा करे। मैं सर्प का ही नही, विषैले तक्षक का नाम भी ले सकता हूँ। कोई सहसा विश्वास नही करेगा, किन्तु मैं प्रमाण भी प्रस्तुत कर सकता हूँ।

कुमार—कौन है वह नर-रूप तक्षक ?

पुरगुप्त—परम भट्टारक का जिस पर अटल स्नेह और विश्वास है। मगध साम्राज्य के भविष्य का राजदड जिसके हाथो में होने जा रहा है।

अनन्त—(चीखकर) स्कन्दगुप्त ?

कुमार—युवराज स्कन्दगुप्त ! असभव है, असंभव, असभव !

पुरगुप्त—मेरे पास प्रमाण प्रस्तुत है, पिताजी !

कुमार—नही, पुरगुप्त ! मर्यादा-पालक राघवेन्द्र ने दशरथ की जैसी सेवा की थी, वैसी ही सेवा पुत्र स्कन्द ने मेरी की है। उस जैसा सुशील, विनम्र और सच्चरित्र पुत्र दुर्लभ है। महादेवी देवकी का मातृत्व उससे धन्य है।

अनन्त—मैं भी यही सोचती थी, आर्यपुत्र ! किन्तु इधर उसके मन की दिशा बदल रही है। वह षड्यन्त्रकारियो के हाथ का खिलौना बन रहा है।

कुमार—प्रिये ! चाहे मेरे मन की दिशा बदल जावे किन्तु स्कन्द का मन ध्रुव नक्षत्र की भाँति स्थिर और अटल है। मेरा पुत्र स्कन्द हमारे वश का प्रतापी सम्राट् होगा।

पुरगुप्त—पिताजी ! आपके इसी विश्वास की छाया में युवराज स्कन्द की महत्त्वाकाक्षा षड्यन्त्र मे परिणत हुई है और आज तो उसका चरम दृश्य संसार के समक्ष उपस्थित होने को था यदि आपका यह सेवक समय पर उपस्थित न हो जाता।

कुमार—तुम मेरी कुतूहलता और क्रोध को एक साथ उत्तेजित कर रहे हो, पुरगुप्त !

पुरगुप्त—पिताजी ! यदि मेरा अपराध किसी भी परिस्थिति मे आप देखे तो मुझे कठोर से कठोर दंड दीजिए। किन्तु यदि मेरी सेवा मे देश-भक्ति और पितृ-भक्ति का कही भी संकेत मिले तो मै केवल आशीर्वाद के दो शब्दो का अधिकारी मात्र समझा जाऊँ।

अनन्त—पुरगुप्त ! अपना मन इस तरह छोटा मत करो। जो घटना घटित हुई है वह आर्यपुत्र के समक्ष निवेदन करो।

पुरगुप्त—पिताजी ! पूज्य भाई स्कन्द के चरणो मे मेरी अपार श्रद्धा रही है।

अनन्त—यह तो मै भी जानती हूँ।

पुरगुप्त—उसी श्रद्धा से प्रेरित होकर मै प्रति दिन सध्या समय उनके चरणो मे प्रणाम कर अपने कक्ष की ओर जाता हूँ। आज संध्या समय जब मै उनके कक्ष मे गया तो वे वहाँ नही थे।

अनन्त—वहाँ वे कैसे होगे ? अपने विश्वास-पात्रो से मिलने का अवसर तो सध्या के धुँधले प्रकाश मे ही है।

कुमार—प्रिये ! व्यर्थ के सदेह से अपने मन को कलुषित मत करो।

अनन्त—आर्यपुत्र ! संदेह जब तक घटना का रूप न ले तव तक मै उसे अपने मन मे स्थान ही नही देती। जिस मन मे आपकी मूर्ति ह उसे अपवित्र करना मै पाप समझती हूँ। हाँ, पुरगुप्त ! फिर क्या हुआ ?

पुरगुप्त—पिताजी ! जब मैने उन्हे कक्ष मे नही देखा तो यह समझ कर कि, पिताजी ! वे आपके कक्ष मे होगे, इस कक्ष मे आया। आने के

पूर्व देखा कि पश्चिम के पार्श्व मे कोई तोरण-शाल-भंजिका की मूर्ति की ओट मे काले वस्त्रों के आवरण मे छिपा हुआ बैठा है।

अनन्त—काले वस्त्रो के आवरण मे? कौन था वह! युवराज स्कन्द?

पुरगुप्त—नही माँ! युवराज स्कन्द नही थे। वह स्कन्द के षड्यन्त्र का रूप था।

अनन्त—स्कन्द का षड्यत्र? मै कुछ समझी नही।

पुरगुप्त—वह एक हूण था जो शस्त्र लिये उस क्षण की प्रतीक्षा मे था जब परम भट्टारक मधुर निद्रा मे लीन रहते और वह एक ही हाथ मे मगध का वैभव और इतिहास रक्त की धाराओ मे बहा देता!

अनन्त—(चीखकर) रक्त की धाराओ मे बहा देता? (सिसकियाँ लेते हुए) नही, नही, ऐसा नही हो सकता था! ऐसा नही हो सकता था! मेरा भाग्य इतना प्रतिकूल नही हो सकता था!

कुमार—धैर्य रखो, प्रिये! मेरी मृत्यु की सभावना ऐसी नही है जो तुम्हे इतना विह्वल बना दे। हाँ, पुरगुप्त! फिर क्या हुआ?

पुरगुप्त—पिताजी! मैने उस हूण पर पीछे से जाकर पाद-प्रहार किया। जसे ही वह घबरा कर भागने को हुआ कि मैने उसे पकड लिया। अन्त.पुर की समस्त द्वार-रक्षिकाएँ सहम उठी। मेरा उससे मल्ल-युद्ध हुआ और अन्त मे वह जब शिथिल हो गया तो मैने एक द्वार-रक्षिका के उत्तरीय से उसके हाथ-पैर बाँध दिये।

अनन्त—धन्य हो, मेरे लाल! तुमने हूण को मल्ल-युद्ध मे पराजित किया। तुम्हे कही चोट तो नही लगी?

पुरगुप्त—मैने जब उसके हाथ से तलवार छीनी तो मेरे बाये हाथ में रक्त की एक रेखा-मात्र झलक उठी। कोई विशेष चोट नही है।

अनन्त—लाओ, मै उसे बाँध दूं, लाल! (पास आकर बाँधती ह।) ओ हो, इतना अधिक रक्त निकल रहा है और तुम उसे केवल एक रक्त की रेखा ही कह रहे हो? हाथ उठाओ, मेरे लाल! हाँ, इस तरह! लाओ! पीठिका का कौशेय ही बाँधूं। (फाड़ने की आवाज)

इसे ऐसे बाँधूं......हाँ, इस तरह। ओह, आर्यपुत्र! देखिए.....
कितना रक्त निकल रहा है!

कुमार—मेरे पुत्रो के लिए रक्त शृगार की वस्तु है। हाँ, पुरगुप्त! तो तुमने यह कैसे जाना कि वह हूण युवराज स्कन्द के षड्यन्त्र मे था।

पुरगुप्त—जब मैंने उसी की तलवार से उसका वध करना चाहा तो वह मुँह फाडकर चीख उठा और कहने लगा कि युवराज स्कन्दगुप्त की आज्ञा से ही वह वहाँ छिपकर बैठा था।

कुमार—किसलिए?

पुरगुप्त—आपको अनन्त निद्रा में शयन कराने के लिए।

कुमार—नही, नही, यह असंभव है। स्कन्द के मन में ऐसी दुर्भावना आ ही नही सकती।

पुरगुप्त—मै प्रमाण उपस्थित कर सकता हूँ, पिताजी! मैंने उस हूण के हाथ-पैर बाँधकर उसी तोरण-शाल-भजिका की ओट मे डाल दिया है। यदि आपकी आज्ञा होगी तो मै आपकी सेवा मे उसे उपस्थित भी कर दूँगा।

अनन्त—संदेह के लिए स्थान ही क्यो छोड़ा जाय! आर्यपुत्र के समक्ष उसे उपस्थित क्यो नही कर देते?

कुमार—किन्तु मुझे स्कन्द पर किंचिन्मात्र भी संदेह नही है।

अनन्त—आप इतने साधु और सौम्य है, आर्यपुत्र! कि आप समस्त संसार को अपने जैसा ही साधु और सौम्य समझते है। राज्याधिकार ने किसके मन को कलकित नही किया! क्या अजातशत्रु ने महाराज विम्बसार को राज्य-सिहासन से हटाकर स्वय राज-शक्ति अपने हाथो मे नही कर ली? इतिहास इसका साक्षी ह, आर्यपुत्र!

कुमार—किन्तु स्कन्द!

अनन्त—जब आपका ही पुत्र पुरगुप्त प्रमाण उपस्थित करने की आज्ञा चाहता है तो उसे अनुमति प्रदान करने मे हानि ही क्या है?

कुमार—अच्छा, पुरगुप्त! प्रमाण उपस्थित हो।

पुरगुप्त—जो आज्ञा। (प्रस्थान)

कुमार—प्रिये! मैं वार-वार विश्वास करने का प्रयत्न करता हूँ कि तुम्हारा और पुरगुप्त का कथन सत्य हो किन्तु मेरे अन्तःकरण की ध्वनि विश्वास करने की आज्ञा नही देती।

अनन्त—आपका कंठ सूख रहा है, आर्यपुत्र! एक पात्र कादम्ब ग्रहण कीजिए।

कुमार—लाओ प्रिये! (एक घूंट पीकर) तुम्हारे प्रेम की भाँति ही यह कादम्ब मधुर है, किन्तु प्रिये! मै भीतर से एक उदासी का अनुभव कर रहा हूँ।

अनन्त—सत्य है, प्राणनाथ! जव विश्वास-पात्र ही विश्वास खोने लगते है तव मन की ऐसी दशा हो ही जाती है। यद्यपि स्कन्द ने प्राणदण्ड पाने का कार्य किया है किन्तु उसका निर्णय कुछ दया-पूर्ण हो।

(पुरगुप्त का हूण वन्दी के सहित प्रवेश)

पुरगुप्त—पिताजी! यह हूण वन्दी ह। यही तोरण-शाल-भंजिका के पीछे तलवार लिये छिपा था।

कुमार—अच्छा, तुम हो! तुम्हारा नाम?

हूण—(हकलाते हुए) टि...टि...टि...टिण्डल।

कुमार—तुम कुसुमपुर मे किस तरह आये?

हूण—सो...सो...सो...सोकद गुप्त टा लाया।

कुमार—स्कन्दगुप्त क्यो लाय?

हूण—सोकंदगुप्त टा लाया। वदी टा वनाया। हाम को सेनाटा भग्गाया। फि...फि...फि...फिर वदी खाना टा मे डाला।

कुमार—वहाँ से तुम यहाँ कैसे आये?

अनन्त—तुमसे स्कन्दगुप्त ने यहाँ आने को कहा था न?

हूण—ज...ज...ज...जेश रानी टा कहा तेश ठीक।

अनन्त—आर्यपुत्र! आपको अब तो विश्वास होगा?

कुमार—क्या स्कन्दगुप्त ने तुम्हे तोरण-शाल-भंजिका के पास छुपने को कहा था?

हूण—ह...ह...ह......हाम टा समझता नही।

कुमार—तुम तलवार लेकर मारने आये थे?

हूण—ए...ए...ए...ऐसा टा पोरगुप्त बोला।

अनन्त—तुम ठीक से नाम उच्चारण करो। किसने तुमसे ऐसा कहा? स्कन्दगुप्त ने?

हूण—ज...ज...ज..जेश रानी टा केहा तेश ठीक।

पुरगुप्त—पिताजी को मेरे कथन पर विश्वास करना चाहिए। यदि मै ठीक समय पर न आता तो आज सर्वनाश था।

कुमार—मै इस हूण से अधिक बात नही कर सकता। मुझे मूर्छा-सी आ रही है। कादम्ब का प्रभाव बढता जा रहा है।

अनन्त—प्राणनाथ! आप विश्राम कीजिए। पुरगुप्त, जाओ। इस हूण बन्दी को ले जाओ। इसके दंड का निर्णय मै स्वयं करूँगी।

पुरगुप्त—जैसी आज्ञा। (हूण से) चलो जी!

(पुरगुप्त का हूण के साथ प्रस्थान)

अनन्त—आर्यपुत्र! हमारे मगध-साम्राज्य मे एक षड्यन्त्र चल रहा है जिसका केन्द्र स्कन्दगुप्त है। इसका आभास मुझे तो कई महीनो से लग रहा था, आज यह सत्य बन गया।

कुमार—(शिथिल स्वरो मे) प्रिये! स्कन्द से इस संबध मे वाते किय बिना मै विश्वास कैसे करूँ? स्कन्द को बुलाओ।

अनन्त—स्कन्द आपके सामने किस प्रकार आ सकेगा? उसे तो अब आपके पास आने में लज्जा आवेगी! जिसने अपने पिता के वध की योजना बनाई, वह क्या पिता से बाते कर सकेगा? छोड़िए, इन अरुचिकर प्रसंगो को। आपका कठ सूख रहा है। लीजिए, यह एक पात्र कादम्ब।

कुमार—नही, प्रिये! मैंने आज कादम्ब इतना अधिक पान किया है कि उसकी नदी मेरे शरीर में वह रही है। मेरा सिर घूम रहा है और नेत्र उठ भी नही सकते।

अनन्त—फिर भी मेरे हाथो से इस वार इस कादम्ब को पान करे। इसमे मैंने अपने मुख का प्रतिविम्ब देखकर मुस्करा दिया है। यह कादम्ब तो आपको और भी प्रिय होगा!

कुमार—लाओ प्रिये! यदि तुम इस प्रकार मुस्करा कर मुझे विप भी दो तो मै उसे अमृत समझ कर पान कर लूँगा। लाओ। (पान करते है।)

अनन्त—मै धन्य हुई, आर्यपुत्र!

कुमार—मुझे मूर्छा-सी आ रही है, प्रिये!

अनन्त—आर्यपुत्र! आप मेरी गोद मे विश्राम करे। कल प्रात.काल स्कन्द को वुलाकर आपके समक्ष उपस्थित करूँगी और जिस विश्वासघात से उसने अपने पिता के जीवन का अत करना चाहा है, उसका निर्णय मै स्वयं उससे करवाऊँगी।

कुमार—स्कन्द.. .स्कन्द....देवकी कहाँ है?

अनन्त—वह चक्रपाणि भगवान की पूजा में व्यस्त होगी। जिसने पति की ओर से उदासीन होकर चक्रपाणि को ही सव कुछ समझ लिया है उस नारी के सवध में मै क्या कह सकती हूँ?

कुमार—(आँख वन्द कर शिथिल स्वरो मे) महादेवी देवकी श्रद्धा की देवी है।

अनन्त—आर्यपुत्र! अत्यन्त सरल स्वभाव के है। (सहसा) हाँ, एक आवश्यक आज्ञा-पत्र मन्त्री कुमारामात्य पृथ्वीसेन की ओर से आया था, उस पर आपके हस्ताक्षर होना है।

कुमार—(शिथिल स्वरो में) किस संवध मे आज्ञा-पत्र है?

अनन्त—मै तो उसे देख नही सकी, किन्तु कुमारामात्य ने निवेदन किया

था कि यह आज्ञा-पत्र अत्यंत आवश्यक है, इस पर आज ही हस्ताक्षर हो जाने चाहिए।

कुमार—प्रिये! मै तो इस समय आँख खोल भी नही सकता। कादम्ब ने स्वप्नों की चित्रशाला मेरी आँखो मे खीच दी है। मै उसी मे खो गया हूँ।

अनन्त—मेरी आँखो से देखिए, आर्यपुत्र! मेरी सेवा से चैतन्य हो जाइए। आज मन्त्रि-परिषद् मे आपने किसी विशेप समस्या पर विचार किया होगा।

कुमार—(सोचता हुआ) हाँ....पुष्यमित्रो की गति रोकने के लिए.... हाँ......सामन्त राज्यो की रक्षा के लिए.....हाँ, मालव की रक्षा के लिए मैं स्कन्द को भेजना चाहता था।

अनन्त—तव उसी संवंध मे मन्त्री कुमारामात्य ने आपके हस्ताक्षरो के लिए आज्ञा-पत्र भेजा होगा।

कुमार—संभव है, वही हो। कार्य अत्यन्त आवश्यक है।

अनन्त—तब आप हस्ताक्षर कर दीजिए। मै इसी समय आज्ञा-पत्र को कुमारामात्य के पास भिजवा दूँगी।

कुमार—हाँ, हाँ....स्कन्द को कल प्रात.काल ही मालव के लिए प्रस्थान करना चाहिए।

अनन्त—तब यह रही लेखनी। आप यहाँ हस्ताक्षर कर दीजिए।

कुमार—लाओ...... (सोचकर) पर हाँ, मुझे तो कल प्रातःकाल स्कन्द से पूछना था कि पुरगुप्त के कथन में कितना सत्य है?

अनन्त—स्कन्द मालव जाने के पूर्व तो आपकी सेवा मे आयेगा ही। उस समय उससे पूछ लीजिएगा।

कुमार—यह भी ठीक है। (हस्ताक्षर करते हुए) लो, हस्ताक्षर कर दिये। प्रिये! मुझे मूर्छा आ रही है। मै विश्राम करना चाहता हू।

अनन्त—आप मेरी गोद मे विश्राम कीजिए, प्राणनाथ!

कुमार—(स्वप्निल स्वरो मे) पुष्यमित्रो को हरानेवाला....स्कन्द! वीर-तेजस्वी. ..पितृभक्त मेरा वध नही करवा सकता ! मेरे युवराज.....स्कन्द! .....उसका विवाह....यदि मालव-कुमारी देवसेना से हो.... तो.....कितना अच्छा होगा..... देवसेना! वह नन्दन-वन की वसन्त-श्री, अमरावती की शची, स्वर्ग की लक्ष्मी. ...स्वर्ग.....स्वर्ग की लक्ष्मी.....चक्रपाणि भगवान की शेष-शय्या पर आसीन .....लक्ष्मी.....लक्ष्मी.... सागर से उत्पन्न.....समुद्र-मथन के अवसर पर ... कल्प-वृक्ष.....धन्वन्तरि.....ऐरावत, वारुणी, अमृत.....विष.... विष......

अनन्त—विश्राम कीजिए, आर्यपुत्र! आपका मन अशांत है। विश्राम कीजिए।

कुमार—विष....शंकर ने पान किया....नीलकंठ की शोभा.... आकाश की भाँति.....जिसमे चमकता हुआ चन्द्रमा...... किन्तु उसकी कालिमा जो कादम्ब के छीटो से बनी है........ कादम्ब.. .. कादम्ब.....

अनन्त—आर्यपुत्र! एक पात्र कादम्ब और दूँ? लीजिए।

(कुमार गुप्त को कादम्ब पिलाती है।)

कुमार—(कादम्ब मुख मे भरकर).....ओह, मूर्छा....

(नेपथ्य मे)—मैं पिताजी के दर्शन इसी समय करना चाहता हूँ।

सुनन्दा का स्वर—महादेवी भी साथ है।

स्कन्द का स्वर—मेरी माँ!

(स्कन्द का प्रवेश)

स्कन्द—माँ.....माँ.....

अनन्त—कौन, स्कन्दगुप्त!

स्कन्द—क्या माँ नही है? किन्तु तुम भी तो मेरी माँ हो।

अनन्त—तुम्हारा छद्मवेश मैंने बहुत देखा है, स्कन्द! आगे से मुझे माँ मत

कहा करो। मै तुम्हारे द्वारा माँ कहने पर अपने को अपमानित समझती हूँ।

स्कन्द—मेरी ओर से आज तक कोई अपराध नही हुआ, माँ! किन्तु अनजाने यदि अपराध हो गया हो तो मै क्षमा चाहता हूँ। मुझे क्षमा करो।

अनन्त—यह छल-छन्दो की भाषा मुझे नही चाहिए। यह उनसे कहो जो महादेवी का दम्भ भर कर चक्रपाणि भगवान की पूजा का ढोंग करती है।

स्कन्द—मेरी माँ को अपमानित मत करो, माँ! वे पूज्य है और माँ, तुम भी पूज्य हो! पिताजी भी जानते है.... (पिता को देख कर सहसा) क्या पिताजी निद्रा में है?

अनन्त—हाँ, निद्रा में है।

स्कन्द—तो माँ, धीरे बाते करो। कही पिताजी की निद्रा भंग न हो जाय!

अनन्त—यह झूठी पितृ-भक्ति रहने दो, स्कन्द!

स्कन्द—माँ! तुम ऐसी बाते करके मुझे कष्ट न दो!

अनन्त—मैंने तुम्हें रोक दिया है कि तुम मुझसे माँ मत कहो।

स्कन्द—आज इतना क्रोध मुझ पर क्यो है, माँ! आप तो मेरी सौतेली माँ है, फिर ऐसी कौन सी नारी है जो 'माँ' शब्द पर द्रवित नही होती?

अनन्त—अच्छा, तो मै नारी नही हूँ, राक्षसी हूँ! अब तू मुझे भी अपमानित करेगा!

स्कन्द—नही माँ! जिस दिन स्कन्द से अपनी माँ का अपमान होगा उस दिन स्कन्द इस ससार मे नही रहेगा।

अनन्त—पिता को संसार मे रहने दे, यही तेरी बडी कृपा होगी।

स्कन्द—पिता को ससार मे रहने दूँ! यह आप कैसी बाते कर रही है? मै तो समझता हूँ कि भगवान ही पिता के रूप मे अवतार ग्रहण

करते है। वे ही उत्पत्तिकर्त्ता है, वे ही पालक ह। उनके प्रति कपट करना ससार के सवसे बड़ पापो मे है।

अनन्त—ये विचार इसलिए तो नही है कि तुझ पर किसी को संदेह करने का अवसर न मिले? मुख से पिता का गुण-गान करना और अपने कार्यो से उनके वध का प्रबन्ध करना।

स्कन्द—वध का प्रवन्ध करना? मै कुछ समझा नही।

अनन्त—हाँ, इसे तो हूण ही समझ सकता है।

स्कन्द—हूण? कौन-सा हूण? मैने तो कुसुमपुर मे छिपे हुए समस्त हूणो को या तो मार डाला है या उन्हे वन्दी कर लिया है।

अनन्त—वन्दी इसलिए कर लिया है कि वे तेरे षड्यन्त्रो मे भाग लेकर तेरे युवराज पद को परम भट्टारक के पद मे परिवर्तित कर दे।

स्कन्द—माँ! अपने शब्दो पर प्रतिबन्ध लगाओ। ऐसे अनुचित और पापमूलक वाक्यो से......

अनन्त—मेरे वाक्य पापमूलक है और उन्ही के अनुसार तेरे कार्य पुण्य-सूचक ह। क्यो स्कन्द?

स्कन्द—(पुकारकर) पिताजी!

अनन्त—तुम्हारे पिता इस समय गाढ निद्रा मे है। उनकी निद्रा भग न करो। (व्यग से हँसकर) जो उन्हे चिर-निद्रा मे सुलाना चाहता था, वह उनकी निद्रा भंग करे! बड़े कौतुक की बात है।

स्कन्द—माँ! तुम क्या कह रही हो? क्या तुम अपने वाक्य प्रमाणित कर सकती हो?

अनन्त—सत्य को प्रमाण की आवश्यकता नही है, स्कन्द! अमावस का अधकार किसी व्यक्ति से नही कहता कि मेरी घोषणा करो। वह पाप रूप से सब संसार पर छा जाता है। इसी प्रकार तुम्हारे पाप-कार्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नही रखते।

स्कन्द—माँ! मेरा रक्त खौल रहा है। मै पिताजी से निवेदन करूँगा..

अनन्त——जब मेरे पुत्र ने हूण से उनकी रक्षा कर ली तब उनसे तुम क्या निवेदन करोगे? उसी हूण से जिसे तुमने पितृ-वध के लिए तोरण-शाल-भंजिका के पीछे छिपा दिया था।

स्कन्द——ओह! घोर षड्यन्त्र! क्या ऐसा संभव हो सकता है, माँ! यह किसी नीच का कार्य है। स्कन्द सौ जन्म मे भी अपने पिता के प्रति दुर्भावना नही ला सकता। ओह! बतलाओ, माँ! वह हूण कौन था?

अनन्त——इस तरह अनजान बन जाने से तुम्हारे पापो पर परदा नही पड़ सकता। (व्यंग से) वह हूण कौन था——जैसे दो वर्ष के भोले बच्चे हो न? जिस हूण को षड्यन्त्र मे सम्मिलित किया, उसका नाम भी नही जानते!

स्कन्द——भगवान चक्रपाणि की शपथ! माँ, मै उसे नही जानता।

अनन्त——भगवान चक्रपाणि तो माँ और बेटे के खिलौने है। चाहे जब उनकी दुहाई दे दी। चक्रपाणि न हुए वक्रपाणि हो गये। टेढे कार्यो मे भी उनकी साक्षी!

स्कन्द——माँ, माँ बस करो। मेरी निदा करो, किन्तु भगवान की निदा न करो। मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ।

अनन्त——जिस तरह हूण टिण्डल से प्रार्थना की थी।

स्कन्द——ओह टिण्डल! वह नीच हूण जो धन लूटने के लिए गरम लोहे से नागरिको को जलाता था——खौलते तेल मे कपडे डुबाकर जनता को जलाता था और कोडे मारता था! उसको मैने बन्दी किया! पैसे का लोभी! उसे मार डालता तो यह सब कुछ न होता।

अनन्त——उसे मार डालना सहज नही था। मेरा पुत्र ही उसे मार सकता है।

स्कन्द——मै भी तो तुम्हारा पुत्र हूँ माँ! मैने उसे मारने के लिए कृपाण उठाया। उसने पैरो पर गिरकर प्राण-भिक्षा माँगी। मैने उसे केवल बन्दी करने की आज्ञा दी। वह पैसे का बड़ा लोभी था। ज्ञात होता

है किसी नीच ने वंधन-मुक्त कर पैसे का लोभ दिया और चाहे जैसा कहला लिया। इन हूणो मे मानवता नही ह, माँ! ये धन के लिए सव कुछ कर सकते है। किसी नीच का ही यह कार्य है। मै टिण्डल को दण्ड दूंगा—अव प्राण-दड दूंगा।

अनन्त—किस पद से प्राणदड दोगे? युवराज-पद से? तुम्हारे इन्ही पड्यन्त्रो से क्षुव्ध होकर परम भट्टारक न तुम्हे युवराज-पद से हटा कर कुसुमपुर छोडने को कहा है और पुरगुप्त को युवराज-पद दिया है। देखो, यह आज्ञा-पत्र जिसकी स्याही अभी तक सूखने न ी पाई। (हँसती है।)

स्कन्द—(आज्ञा-पत्र देखकर) ठीक है, माँ! यह आज्ञा शिरोधार्य है। मझे राज्य का कोई लोभ नही ह। किन्तु मै सोच रहा हूँ कि इसी कार्य के लिए पड्यन्त्र की रूप-रेखा किसी ने वनाई है।

अनन्त—अर्थात् मैने वनाई है? तुझे लज्जा नही आती अपनी माँ पर इस प्रकार लाछन लगाते हुए? नीच, दुप्ट! एक ओर तो मुझे अपनी माँ कहता है, दूसरी ओर मुझ पर पड्यन्त्र का लाछन लगाता है?

स्कन्द—मैने तुम्हारा नाम नही लिया, महादेवी!

अनन्त—और नाम कैसे लिया जाता है! जव कुछ कहने को नही है तो 'महादेवी' सवोधन से मुझे प्रसन्न करना चाहता है! मै ऐसे छद्मवेशियो के भुलावे मे नही आ सकती।

स्कन्द—सारा रहस्य मेरी समझ मे आ गया। अव मुझे कुछ नही कहना ह। अपनी माँ की आज्ञा लेकर मै कुसुमपुर छोड दूंगा, किन्तु मुझे दु:ख इसी वात का है कि मगध की प्रजा पर सकट आने पर............

अनन्त—क्या तू ही संकट दूर कर सकता है? क्या मेरे पुत्र पुरगुप्त में इतनी शक्ति नही है कि वह विदेशियो और आततायियो से प्रजा

की रक्षा कर सके? तुझे अपनी शक्ति पर बडा अभिमान हो गया ज्ञात होता है।

स्कन्द—शक्ति जननी की है और साहस पिता का है। मझे राज्याधिकार का मोह नही। मेरे भाई पुरगुप्त युवराज बने। मगध-साम्राज्य के अधिकारी हों, किन्तु मेरी जन्मभूमि की दुर्दशा न हो।

अनन्त—अभिनय तू अच्छा कर सकता है, स्कन्द!

स्कन्द—महादेवी! यह अभिनय नही। यह प्राणो का चीत्कार है। जन्मभूमि की दुर्दशा मै किसी प्रकार भी सहन नही कर सकूँगा। शरीर मे अतिम रक्त-विन्दु के रहते मै किसी भी विदेशी और अत्याचारी को मगध की भूमि पर पैर नही रखने दूँगा। युवराज बन कर न सही, सैनिक बन कर तो मै अपनी मातृभमि की रक्षा का अधिकार रखता हूँ। यह आज्ञा-पत्र कहाँ तक पिता की इच्छा से लिखा गया है, यह तो परिषद् निर्णय करेगा किन्तु मै यह वचन देता हूँ माँ! कि मै सिंहासन के प्रलोभन से कोई कार्य नही करूँगा।

अनन्त—(व्यग से) वस, वस, वहुत हुआ।

स्कन्द—मुझे कल प्रात.काल मालव की ओर प्रस्थान करना है। पिछले शक-युद्ध मे मालव-राज्य की जो सधि मगध-साम्राज्य से हुई थी, उसके अनुसार मालव की रक्षा हमारा धर्म है। आज मालव संकट मे है। शको की सेना फिर मालव को घेर रही है। मुझे शीघ्र ही मालव की रक्षा के लिए प्रस्थान करना है। किन्तु, महादेवी! मुझे आपसे यही निवेदन करना है कि अपने पुत्र को युवराज-पद दिलाने के उपरात अब और कोई अभिसधि मेरी अनुपस्थिति मे न हो।

अनन्त—क्या मुझे आज्ञा देने का साहस तुझमे है?

स्कन्द—तुम महादेवी हो, किन्तु मगध-साम्राज्य से बढ़ कर नही हो। मगध की रक्षा तुम्हे भी उसी प्रकार करनी होगी जिस प्रकार एक सैनिक करता है। मगध पर विदेशियो की सेना उमड़ रही है।

युवराज पुरगुप्त को तैयार करो कि वह उसका सामना करे। मगध का शासन विलास की छाया में नही हो सकता, कृपाण की छाया मे होगा। पिताजी के जागने पर उनके चरणों मे मेरा प्रणाम निवेदन करना और कहना कि स्कन्द उन्ही के आदेश से मालव की ओर चला गया है। विजय प्राप्त करके ही लौटेगा। (प्रस्थान)

अनन्त—चला गया। कटक दूर हुआ। कहता है, मगध का शासन विलास की छाया में नही हो सकता! विलास की छाया में! मै तो ऐसा शासन करूँगी कि समस्त मगध साम्राज्य के इतिहास में वह अमर हो जाये। (घंटे पर चोट करती है।) कठ सूख रहा है, कादम्ब समाप्त हो गया।

(सुनन्दा का प्रवेश)

सुनन्दा—आज्ञा, महादेवी!

अनन्त—हाँ! आज से तुम्हारा संबोधन सार्थक हो गया। महादेवी! आज से मै वास्तव में महादेवी हूँ। सुनन्दा! मेरा कंठ सूख रहा है।

सुनन्दा—मैं कादम्ब साथ लाई हूँ। पान करे। मै जानती थी कि महादेवी का कठ सूख रहा होगा।

अनन्त—तू बडी कुशल है, सुनन्दा! ला, पान करूँ। (पान करती है।) और सुन! परम भट्टारक ने लिखित आज्ञा-पत्र से यह घोषणा की है कि आज से स्कन्द युवराज नही है। युवराज है मेरे पुत्र कुमार पुरगुप्त! और देख! इस वात की किसी को भी सूचना न हो कि परम भट्टारक अव इस संसार मे नही ह। देख, वे चिर-निद्रा में लीन है।

सुनन्दा—परम भट्टारक सम्राट् अव ससार मे नही है! (सिसकी)

अनन्त—चुप सुनन्दा! एक सिसकी भी नही। (सुनन्दा की सिसकियाँ

बन्द हो जाती है।) अधिक से अधिक इसी बात की सूचना हो कि परम भट्टारक अस्वस्थ है और अपनी अंतिम शय्या पर लेटे है।

सुनन्दा—(सिसकी मिले हुए कंठ से) जो आज्ञा।

अनन्त—आज मै महादेवी हूँ। महादेवी देवकी का अभिमान धूल में लोट रहा है। जा, इस लिखित आज्ञा-पत्र की घोषणा तूर्य से हो कि आज से युवराज पुरगुप्त की आज्ञा मान्य हो। शीघ्र जा।

सुनन्दा—जो आज्ञा। (प्रस्थान)

अनन्त—(अट्टहास करती है।) स्कन्द कहता है कि मगध का शासन विलास की छाया मे नही हो सकता। मै कहती हूँ कि मैं विलास की छाया मे ही मगध का शासन करूँगी। जिस प्रकार डमरू के नाद से नाग मोहित होता है, उसी प्रकार मेरे रोष से मगध, जो नाग की भाँति मतवाला है, मोहित होकर मूर्छित होगा और तब मै एकाधिपत्य शासन करूँगी। विलास की छाया मे—विलास की छाया मे—

(बाहर तूर्य की ध्वनि)

अनन्त—(अट्टहास के साथ) मै महादेवी हूँ! मेरा पुत्र युवराज ह! मै स्वय अपने मुँह से कहूँगी—महादेवी अनन्त देवी की जय! जय.....जय!! ....!!!

(धीरे-धीरे शब्द क्षीण हो जाता है।)

लक्ष्मीनारायण मिश्र

एक दिन

पात्र

राजनाथ—पिता

मोहन—पुत्र

शीला—पुत्री

निरंजन—पुत्र का मित्र

[देहात के किसी गाँव मे खपरैल का मकान। माटी की दीवारें चिकनी कर चूने से लीपी गई है। आगे की ओर काठ के खम्भो पर वना ओसारा। खम्भे काले पड गये है, उनके रग से ही उनकी आयु फूट रही है। उनका हीर अव इतना सूख गया है कि जगह-जगह टेढी मेढी दरारे पड गई है। जाति का गुण और वल और कही माना जाय या नही, इन खम्भो की लकडी मे तो ठोस है। ये शीशम के खम्भे अपनी टेक मे पत्थर का कान काट रहे है। भीतर जाने का पुराना द्वार दाईं ओर से पडता है। इससे हटकर तीन नये किवाड़ इस समय के है जो अपनी वनावट, लकडी और पल्लो से इस नये युग की वस यही इतनी छाप इस घर पर लगा रहे है। इस नये युग का सव काम जव यह पुराना घर न दे सका, तव बैठक के लिए यह एक कमरा वना लिया गया। भीतर की इतनी जगह ले ली गई। इस कमरे मे एक ओर पलँग पर विछावन विछा है। नीचे कच्ची धरती पर नई दरी पड़ी है। दूसरी ओर देहाती वढई की वनाई भोडी मेज के तीन ओर वेत की तीन कुर्सियाँ और दिवालो पर कुछ नये-पुराने सस्ते चित्र है। ऊपर बाँस के फट्टो में कील लगाकर रगीन चाँदनी लगी है। मेज के पीछे एक किवाड़ दालान मे होकर भीतर जाने का है।

भीतर की ओर से राजनाथ का प्रवेश। ऊँचा पुष्ट शरीर। ललाट पर रेखाएँ। बाल गंगा-जमुनी, भवे तनी और लम्बी; आँखो में लाल डोरे। साँस कुछ बढी चाल में है। एक कुर्सी खीचकर बीचवाले द्वार के सामने धम्म से बैठ जाते है। तीन बार हथेली से ललाट पीट लेते है, फिर हाथ खट्ट से कुर्सी की बाँह पर गिर पड़ता है।]

राजनाथ—चक्रनेमिक्रमेण...चक्र की इस गति को मैने रोकना चाहा! यह उसी का दंड है। बड़े बने रहने के मोह मे मैने पूर्वजो की मर्यादा मिटा दी। आँधी के वेग मे एक-एक पत्ते, हर डाल-टहनी के साथ धरती पर जड के साथ आ जाना मैने नही चाहा और अब ठूँठ हूँ। मोहन!...मोहन!...

मोहन—जी आया (उसी द्वार से प्रवेश। प्रायः बीस वर्ष की अवस्था का युवक। रेशमी कमीज और उजली धोती। आँख धरती की ओर, मुँह पर भय की छाया) जी इसमे थोडा...

राजनाथ—कभी नही। जो हो गया...जन्म भर उसी मे जलता रहूँगा। पाँच पीढी की बात जानता हूँ, अस्सी के नीचे कोई मरा नही। मेरे अभी पचपन है। उन-सा सुखी नही रहा, फिर भी अभी पन्द्रह वरस तो चलेगे ही।

मोहन—कितनी बड़ी समस्या से पिंड छूटेगा? झठी मर्यादा! अपनी लड़की का सुख आप नही देखते।

राजनाथ—गोली मार दो तुम मुझे। उस सुख से बड़ा सुख मिलेगा मुझे इसमें। वश की मर्यादा तुम्हारे लिए झूठी हो गई, जिसे बचाने मे सब कुछ चला गया? बाप-दादो का घर भी चला गया। जिस घर मे पैदा हुआ; खेला-कूदा, बड़ा हुआ...जिसमे तुम्हारी माँ आई, तुम भी जिसमे जनमे थे, उसके नीलाम डुग्गी से भी प्राण उतना नही बिंधा था जितना आज बिंधा है।

मोहन—सब कही यह हो रहा है...बड़े से बड़े घरो मे...बिना कन्या देखे विवाह अब बड़े घरो मे नही होता।

राजनाथ—सो तो तुम कर चुके। विप की घूँट तो मै पी गया, दूसरी न पिऊँगा।

मोहन—मै नही समझता, अब इस युग में इसमें वुराई क्या है। वर अपनी रुचि की कन्या चाहता ही है, फिर भी ऐसा वर जो......

राजनाथ—जो एम० ए० में पढ रहा है। बड़े वाप का वेटा है। जिसका वाप नामी वकील है, जो कभी भी हाईकोर्ट का जज हो सकता है; जिसकी कोठियाँ है, मोटरें है, हटो-बचो जिसके यहाँ लगा है। क्यो....?

मोहन—हाँ, तो इसमें झूठ क्या है ? क्या उस परिवार में शीला सुखी न होगी ? कन्या के प्रति आपका जो कर्तव्य है उसे देखिये। लड़कियो का कभी यहाँ स्वयवर होता था। यह भी इसी देश की मर्यादा है।

राजनाथ—इस देश की क्या मर्यादा है, तुमसे न सीखूँगा। उसे सीखने को किसी विलायती प्रोफेसर के पास भी न जाऊँगा। वह तो जिस तरह मेरे पूर्वजों के रक्त के रूप में मेरे इस शरीर में है, उसी तरह सस्कार के रूप मे मेरे मन में है।

मोहन—अच्छी वात। तो फिर आप जाने......

राजनाथ—इस तरह धमका कर नही वेटा! झूठा भय और झूठा इतिहास...इस तुम्हारे नये युग मे वस यही दो वातें है।

मोहन—क्या कहते हैं ?

राजनाथ—लड़कियो का स्वयंवर यहाँ होता था, पर चुनता कौन था कन्या या वर? एक कन्या के लिए सैकड़ों युवक आते थे। रूप, गुण और पौरुष मे जो वढ़ा होता, उसे कन्या चुनती। जय-माला जिसके गले में पड़ती, वह अपने भाग्य से फूल उठता। उस युग में कन्या की यह मर्यादा थी, आज क्या है? स्त्री जाति जितने नीचे पिछले दस वर्षो में गई है, उतनी पहले कभी नही गई थी।

मोहन—तो यही झूठा इतिहास है।

राजनाथ—यही, और तुम अब कहते हो—मै जानूँ और मेरा काम जाने। यह भय तुम दिखाते हो। जैसे मेरी लडकी के भाग में कुछ है ही नही। तुम उसके लिए भाग्य गढकर लाये हो। तुम्हारे साँचे का भाग्य या तो मै मान लूँ और नही तो फिर मेरी लडकी दुख उठायेगी।

मोहन—भाग्य मै नहीं मानता। परिस्थिति सब कुछ करती है। निरंजन इस भयानक गर्मी मे नैनीताल होता। इस गाँव की धूल मे स्टेशन से तीन मील पैदल न चला होता।

राजनाथ—(हँसकर) तुम्हे उसका कृतज्ञ होना चाहिए। वह तुम्हारे लिए तीन मील पैदल आ गया। नैनीताल का निवासी इस ठेठ देहात में! इन्ही देहातों से वह धन जाता है जिसे निरंजन का बाप नैनीताल मे खर्च करता है। राम, लक्ष्मण और जानकी को कितना पैदल चलना पड़ा था मोहन! नंगे पैर गौतम कहाँ कहाँ घूम आये थे।

मोहन—आप तो बस वही आदर्श के सपने देखते है।

राजनाथ—बिना इन सपनों के मनुष्य दरिद्र हो उठेगा। इन्ही से हम धनी है मोहन! इतिहास पढ़ते हो तुम एम० ए० मे और वह निरंजन भी। निकाल दो इतिहास से इन सपनो को, देखो वहाँ फिर क्या बचता है? फिर भी इतिहास का एक ही पाठ है।

मोहन—इस समय प्रसंग क्या है और आप...

राजनाथ—इस समय का प्रसंग भी इतिहास से जुड़ा है...मेरे, मेरे पूर्वजो के...निरजन और उसके पूर्वजो के इतिहास से यह प्रसंग भी जुड़ा है। जो बहुत बड़े बन जाते है, प्रकृति उन्हे टिकने नहीं देती। मेरी जो दशा आज सात पीढ़ी के बाद है, निरंजन की दूसरी ही पीढी में होगी। यही इस जगत् का चक्र है। ऊपर का बिन्दु नीचे और नीचे का बिन्दु ऊपर।

(दोनो हाथो को घुमाकर तर्जनी से परिधि बनाते है)।

मोहन—तो इस समय मै जाऊँ। आपका चित्त....

राजनाथ—ठिकाने नही है। पुत्र कह रहा है, पिता का चित्त ठिकाने नही है! तुम्हारे विचार मुझसे नही मिलते, इसलिए मैं पागल हूँ। तुम्हारे शब्दो मे तुम्हारे इस युग मे इस देश की नई पीढी बोल रही है, जिसका विश्वास अब अपनी जडो मे नही है। (उसकी ओर एकटक देखकर) नही समझ रहे हो?

मोहन—क्षमा करें, यदि मुझसे . । इधर सालो से आपको चिन्तित और व्यग्र देखता रहा।

राजनाथ—उसके लिए इतना सीधा, इतना सस्ता उपाय खोज लिया। आज के पत्रो, पुस्तको में ऐसे ओछे काम बहुत मिलते है। बाप को पपा और मा को ममी लिखनेवाले तुम्हारे लेखक उत्तेजना और आवेग बहुत दे रहे है, बस विवेक की ओर नही देखते। नही तो फिर नगे साहित्य का व्यापार वे न चला पायेगे। वह जो एकांकी-सग्रह तुमने कल यहाँ (मेज की ओर सकेत कर) रख दिया था... क्या नाम है उसका?... .. ऊँह! ....उसमें एक नाटक मे साइकिल लेकर पपा आफिस चले जाते है दस बजे सवेरे और दो बजे दिन मे ममी लच की चिन्ता मे सुनाई पडती है और फिर सारा दिन और आधी रात तक न कही पपा है, न कही ममी है उस घर में, बस एक ही व्यापार चल रहा है—कुमारियो और उनके प्रेमियो की प्रेम-लीला। यूरोप और अमेरिका मे भी इतना मद नही जिसमे यह देश डूब रहा है।

मोहन—तो आपका कहना है कि मै निरजन को यहाँ ले आया किसी ठोस कार्य के लिए नही। यदि यह हो जाय तो इसका सुख आपको न होगा? शीला रानी बनकर न रहेगी?

राजनाथ—यही मुझे डर है। रानी बनाने के मोह मे कही तुम उसे बोर न दो। जहाँ आरम्भ ही अशुद्ध है वहाँ अन्त क्या शुद्ध होगा? और इन दो दिनो मे निरजन ने उसे कई बार देखा। तुम्हारे साथ

उसने उसे भी भोजन कराया, जलपान कराया। बिना संकोच के जैसे वह तुम्हारे सामने रही है वैसे उसके सामने भी रही।

मोहन—यही तो नही रहा। कल दिन में जब वह सोकर उठा, कई बार वह उसका नाम लेकर बुलाता रहा। एक गिलास पानी के लिए वह उसके पास नही गई। क्या कहेगे आप, यह उसका अपमान नही हुआ? वह तो रात ही जाने को तैयार था। मैंने बडे आग्रह से उसे रोका और कहा कि बच्ची है, जाने दो।

राजनाथ—और अब वह उससे अकेले मे बात कर निर्णय करेगा। उसकी परीक्षा लेगा कि वह उसके योग्य है या नही और तब उसे स्वीकार कर तुम्हे कृतार्थ करेगा या कह देगा नही जी, मुझे पसन्द नहीं। नौकर से पानी न माँगकर उसने तुम्हारी बहन से माँगा!

मोहन—ऐसी इच्छा उसकी स्वाभाविक थी। समय बदल गया। मैंने कहा भी उसे किसी लडकियो का स्कूल ही धरा दे। आप रामायण, महाभारत पढाते रहे उसका परलोक बनाने के लिए। यह लोक बने या न बने। उसके सामने जाने मे उसे लाज लगती है...एक गिलास पानी या दो बीड़े पान लेकर। जैसे उसका जन्म इस बीसवी सदी मे नही, सोलहवी या पन्द्रहवी मे हुआ हो।

राजनाथ—हूँ, तो इस युग की लडकी मे आत्मसम्मान नही है। वह उस पुरुप के चारो ओर भाँवर देती है जो उसे देखकर, बाते कर बड़ी कृपा से अपनी स्त्री बनाना चाहता है। नीच! एक शब्द भी मेरी लडकी के विरुद्ध कहा तो जीभ खीच लूंगा। उसके शरीर मे मेरा, मेरी सात पीढ़ी का रक्त है जो सम्मान के लिए मर मिटी। तुम्हारे ऐसे पुत्र से वह पुत्री भली जिसने कम से कम अपना, अपने माँ-बाप का सम्मान तो रखा। रामायण और महाभारत पढकर जो वह असभ्य या अपढ है उसका पता तब चलेगा जब किसी दिन तुमसे वह बाते करेगी। और ठीक है, करेगी वह एकान्त मे बाते तुम्हारे इस देवता से—मन और बुद्धि के नही, धन के देवता से।

मोहन—नही, जाने दीजिये। मै उसे अभी स्टेशन पहुँना आता हूँ।

राजनाथ—अभी नही। वैठ जाओ वह कुर्सी लेकर। तुमने पत्र में लिखा था, तुम्हारे एक मित्र निरंजनकुमार देहात देखना चाहते है। मैंने लिख दिया, लिवा लाओ। जिस घर के अतिथि किसी समय नवाव आसफुद्दौला रह चुके थे, कुँवरसिंह और अमरसिंह सत्तावनवाले विद्रोह में जहाँ तीन दिन अपने सिपाहियों के साथ पडे रहे, इस विगडे समय मे भी तुम्हारे एक मित्र का सम्मान वह कर सकता है। मुझे क्या पता था कि तुम स्वार्थ की इस निचली तह में उतर जाओगे। विवाह के पहले तुम्हारी वहन को कोई उस आँख से देखे और तुम फोड न दो।

मोहन—पर उसने किस ऐसी आँख से देखा कि...

राजनाथ—जो काम वह किसी भी नौकर से ले सकता था वह उसने तुम्हारी वहन से लेना चाहा...केवल इसलिए कि अकेले मे वह भर आँख उसे देखे, दो वातें पूछे...इसके वाद वह उससे कहता पैर दवाने के लिए...

(क्रोध से काँपते है)

मोहन—राम-राम! कितना अनर्थ कर रहे है आप? शीला के भाग्य में जो होगा, होगा। अव तो इसी क्षण निरजन यहाँ से चला जाय।

राजनाथ—इस घर ने वडे चढाव-उतार देखे मोहन, पर यह कभी नही देखा। यह धरती फट जाती और, मै इसमे समा जाता। यही था तो पहले तुमने मुझसे राय ले ली होती।

मोहन—मैं जानता था लड़की दिखाने को आप तैयार न होते।

राजनाथ—इस तरह नही। श्री चौधरी से जव और सव वाते तय हो जाती, मै उन्हे लड़की दिखा देता, पर निरंजन को कभी नही। विवाह के पहले जो लड़का लड़की को स्वयं देखना चाहता है वह असभ्य है, पसन्द करने का अधिकार वह अपना मानता है कन्या का नही। तुम जितना समझते हो, मै उतना जड़ नही हूं। प्रगति

रोकने मैं नही जाता, बस इतना जान लो प्रगति अन्धों की नही आँखवालों की होती है।

मोहन—सामन्त-विचार-धारा अभी आपकी नहीं छूटी है। हर बात मे आप मर्यादा और आदर्श डाल देते है, यहाँ तक कि अपनी लड़की का सुख भी आप नही देखते।

राजनाथ—तोते की रट—सुख, सुख, सुख...जैसे तुम्हारे इस काम से उसका सुख तय हो जायगा। उसकी होनी क्या है...भगवान् उसे सुख न देना चाहे तो फिर सोने का अम्बार भी धूल हो जायेगा। म सामन्त-विचार-धारा में पडा हूँ और तुम धन के मोह में; धन के सामने तुम्हारे लिए बहन का मान भी मिट रहा ह। पूँजीवाले बनिये से सामन्त कभी बुरा नही होता। मर्यादा और आदर्श की बातें चाहे झूठी भी क्यो न हो, व्यक्ति को नीचे नही उतरने देती। गीध की तरह डैने खोलकर वह ऊँचे आकाश मे मर जाता है। (काँप कर) कुछ नही, तुम यह कहो, तुमने कहा क्या इस निरजन से? कैसे तुम्हारी बाते यह मान गया? तुमने कहा होगा...अपनी बहन के लिए अपने आप ही उसे निमन्त्रित किया होगा।

मोहन—जी नही..हम दोनो मे परस्पर परिचय और स्नेह बढा। होस्टल से अपनी कार पर वह मुझे बराबर अपनी कोठी पर ले जाता था। जहाँ इतनी सरलता होती है, घर-परिवार की बात चलती ही है। उसे यह तो पता हो गया था कि मेरे पूर्वज कुल सौ वर्ष पहले राजा थे। आज हमारे दिन बुरे हैं।

राजनाथ—यह तुमने कहा, जिसने इससे अच्छे दिन कभी देखे नही। पर मै जो सब देख चुका हूँ, कभी नही कहता कि मेरे दिन बुरे है। जिस युग की हम उपज थे जब वह चला गया तो उसकी उपज कब तक टिकती? राज्य मिट जाते है। बड़े से बडे वीर और ज्ञानी किसी दिन मरते है; पर उनकी लौ जलती रहती है। व्यक्ति और मनुष्यता का मान वह लौ है। तुमने अपने बुरे दिन की बात

कही और वह दया मे पिघल उठा। जहाँ किसी भी रूप में दया की माँग है वहाँ व्यक्ति मर जाता है, जीता नही। शीला का पता उसे कब चला?

मोहन—उसके घर मे उसकी भी बहन है। उसकी आयु भी शीला की है। इसी वर्ष उसने इन्टर किया है। वह बराबर मुझसे खुलकर बातें करती है। उसकी माँ, चौधरी साहब, उनके व्यवहार मे बनावट मुझे कही नही देख पडी।

राजनाथ—इसलिए कि अभी वे बाढ पर है। अपनी बाढ में वे तुम्हे भी बहा रहे हैं। किसी दिन यह बाढ निकल जायगी और पीछे छोड जायगी कीचड और दलदल। जो तुम्हारे घर हुआ, उनके घर भी होगा। इसलिए जिसे देखो, धन से अलग कर देखो। पद, प्रतिष्ठा और अधिकार से अलग कर देखो। उस मनुष्य को देखो जो तुम्हारे इस युग मे जन्म ले रहा है, जो धन और अधिकार मे नही अपने गुणो से आगे बढेगा। अपने घर की सामन्त-भावना के विरोधी निरजन के धन की चमक मे आँखे न मूँद लो। निरंजन अपने दादा का नाम भी नही जानता।

मोहन—क्या?

राजनाथ—चौकने की बात नही। अपने पिता को छोड़कर, अपने कुल की कोई बात वह नही जानता। इतिहास की बाते और जो कुछ वह जानता हो, अपने घर का इतिहास नही जानता।

मोहन—कभी अवसर न मिला होगा। कहे भी कौन उससे? वकील साहब पाँच बजे सवेरे बैठते है, दस बजे तक दम नही लेते। स्नान और भोजन में बस बीस मिनट....हाईकोर्ट और लौटकर फिर आधी रात तक। नामी वकील होना भी कम सकट नही है।

राजनाथ—अधिकार के लिए तुम्हारे पूर्वज लडते-मरते रहे। उन्हे अधिकार और प्रभुता के लिए जीना था। वकीलो, सेठो को धन के लिए जीना है। समाज का निर्माण तब अधिकार पर टिका था, आज

धन पर टिका है। वकील साहब भी केवल अपने पिता का नाम जानते होंगे। उस घर का इतिहास जितना मैं जानता हूँ उससे अधिक वे भी नही जानते।

मोहन—तो आपका परिचय उनसे है? आप तो मुस्करा रहे है?

राजनाथ—(हँसकर) हाँ. ..और अब तुम सुन लो। रात निरंजन से बाते कर मै यह जान गया कि देवनन्दन चौधरी के शरीर में मेरा नमक है।

मोहन—क्या कह रहे है आप यह सब...?

राजनाथ—मुझे याद पड रहा है। सात-आठ का रहा हूँगा उस समय। रघुनन्दन चौधरी की छरहरी लम्बी देह, गझिन मूंछ, लम्बे काकुल; सिर पर केसरिया रग की कत्ती, आँखो मे सुरमा और ओठ पर पान की लाली। अँगरेजी कलक्टर दौरे में आया था। दो दिन गढी मे रहा। रघुनन्दन उन दिनो बाबूजी के मुन्शी थे। रियासत का बही-खाता, हाकिमो की आवभगत, सब कुछ उनके हाथ मे थी। आठ बजे सबेरे बाबूजी के सामने हाथ जोड़कर सिर झुकाते थे और फिर रात को भी आठ ही बजे, दिन भर के काम की वात उन्हे बताकर, गढी मे ही पीछे की ओर अपनी जगह पर चले जाते थे।

मोहन—वकील साहब के कोई सम्बन्धी थे रघुनन्दन चौधरी?

राजनाथ—उनके बाप थे।...बडे हँसोड़ और मौके की बात कहनेवाले। अँगरेज कलक्टर उनसे इतना प्रसन्न हुआ कि बाबूजी से कह बैठा, वह चौधरी को अपना पेशकार बनायेगा। चौधरी हमे छोड़ना नही चाहते थे। जाने के समय इतना रोये कि बाबूजी ने अपने अँगोछे से उनके आँसू पोछकर कहा था—जब चाहना यहाँ आ जाना, यह घर तुम्हारा है। चौधरी चले गये लेकिन उनकी स्त्री और लडका, जो मुझसे कुछ छोटा था, गढी ही मे रहे। कितने दिन, ठीक-ठीक नही कह सकूंगा। देवनन्दन मेरे साथ खेलते थे। गढी के बाहर जंगल मे एक दिन हम दोनो दौड रहे थे, देवनन्दन

मेरे धक्के से गिर पडे और यहाँ भौह के ऊपर एक अंगुल लम्बी हड्डी धँस गई। है यहाँ उनके कोई चोट का निशान ?

मोहन—(विस्मय में) जी हाँ, है। मुझे बड़ी ग्लानि हो रही है। कह दीजिए, आपने मुझे क्षमा किया। नही तो इस दुख से मै बीमार पड जाऊँगा।

राजनाथ—लडकी की तरह नही.. लड़के की तरह। तुम लोग थोडी आँच भी नही सह सकते। किस बात का दुख है तुम्हे? देवनन्दन चौधरी के अनुकूल इस समय भाग्य है। बड़े पेड गिरते है, उकठ जाते है, उनकी जगह नये बढते है। यही क्रम है। तुमने भगवान् के लिए कुछ भी नही छोड़ना चाहा, यही भूल हुई।

मोहन—तब क्या हुआ ?

राजनाथ—रघुनन्दन चौधरी ने लडके और स्त्री को बुला लिया। अपने आप पेशकार से बढ़कर डिप्टी हुए। लड़का पढता गया और आज नामी वकील है। कल हाईकोर्ट का जज हो सकेगा। सब कुछ मिट सकता है, पर संस्कार की जड़े जल्दी नही उखडती। शीला और निरजन के संस्कार मे अन्तर है। निरंजन के धन से वह सुखी हो सकेगी, इसमे मुझे तो सन्देह है। तुम भाई हो और मै बाप हूँ। उससे इस विषय की कोई बात सीधे पूछो तो नही बता सकेगी फिर भी अभी मैने जो उसे देखा वह किसी चिन्ता, किसी दुख मे थी।

मोहन—इसका कारण मै हूँ। मै कल भी उसे दो बात कह गया और आज तो यहाँ तक कहा कि यदि तुम उनसे ढग से बाते न करोगी तो मै तुम्हारा मुँह न देखूँगा।

राजनाथ—सगी बहन के साथ तुम जैसा व्यवहार करो। इतना जान लो, उपन्यासो और कहानियो से ससार नही चलता। तुमने जो यह जाल बिछाया इसे अब तुम न समेट सकोगे। यह काम अब मुझे करना पडेगा। जो मै नही चाहता वही करना होगा। मेरी बेटी इस घर में दुखी न रहे, यह तो मै कर सकता हूँ। मेरा विश्वास,

मेरा स्नेह उसका बना रहे। पिता के धर्म में मैं खोटा न बनूँ। जाओ, उसे भेज दो। उसे समझा कर, समझूँगा तो फिर निरजन से भी मैं ही...

मोहन—अभी कुछ नही बिगडा है बाबू जी...निरंजन चला जाय। मेरी बहन किसी दूसरे घर जायगी जिसका इतिहास, सस्कार इस घर से मेल खाये।

राजनाथ—सामन्त-भावना मे अब तुम आ रहे हो; जो मर गया उसे जिलाने की चेष्टा अब पाप है। कुल और वश के अभिमान को भूल जाओ और भूल जाओ कि निरंजन के पूर्वज कभी तुम्हारे आश्रित थे। भाग्य कभी तुम्हारे साथ था, आज उनके साथ है। जाओ, भेज दो शीला को। उसका संयोग जिसके साथ होगा, लाख चेष्टा पर भी न रुकेगा। मैं भाग्यवादी हूँ। इस अवस्था में इतने चढाव-उतार के बाद कोई भी भाग्यवादी हो जाता है।

[मोहन का प्रस्थान। राजनाथ कुर्सी से उठकर पलग पर पड़ रहते है और तकिये मे मुँह छिपा लेते है। शीला का प्रवेश। भरी आँखे, पलके गिरती नही। सुन्दरता के अमृत मे विषाद का विष मिल गया है। उसके चलने की आहट नही होती। आँचल से आँखे पोछती है।]

शीला—(भरे कठ से) आ गई मै—बाबू जी। आप काँप रहे है। मै मर गयी होती; आप रोते तो नही ?

[तकिया हाथ से खीचकर उनकी छाती पर सिर रखकर सिसकने लगती है।]

राजनाथ—(झटके से उसे सँभालकर बैठते हुए) बेटी के लिए बाप कब नही रोया? नही, देखो, सुनो भी। जानकी के लिए विदेह जनक रोये थे। मै रोया तो कोई बात नही। न मानोगी, तुमसे कुछ पूछना है।

शीला—आप क्या नही जानते मेरा? आपसे मेरा कुछ छिपा है? भैया नही जानते, मेरा मुँह नही देखेगे।

राजनाथ—उसका मुँह मैं नही देखता; पिता का प्राण जो इस देह में न होता। फिर भी वह तुम्हे सुखी देखने के लिए....

शीला—सुखी देखने के लिए मुझे इतना वडा दु ख? आपके जीते जी? वे अपने घर के वडे होगे, इस घर की वड़ी मै हूँ। आपके पास धन नही है पर क्या भाव भी नही है मेरे लिए? किसी पेड के नीचे ∴ झोपडी मे मै सुखी रहूँगी। जानकी के चौदह वर्ष वन में वीत गये। मै क्या हूँ? जिसका सग हो उसका विश्वास और आदर मिल जाय, इससे वडा धन सोने-चाँदी मे लिपटना नही है।

राजनाथ—वह युग नही अव रहा वेटी। इस देश में अव जानकी की नही.. क्या कहूँ? किसकी वात चलेगी?. होगी वह कोई विदेश की नारी, पुरुप को धक्का देकर वढनेवाली। वैक में उसकी लम्वी रकम होगी।

शीला—उससे उसे पूरा सुख मिलता होगा। सचमुच पति की आँख में आँख गड़ाकर वह देखती होगी?

राजनाथ—इस युग मे हम अपना सव कुछ विदेशी आँखो से देख रहे है। स्वतन्त्रता का उत्सव हम मना रहे है अपने को भूलकर, अपने गुण और अपनी मान्यताओ को भूलकर। आगे चलने मे जो पीछे घूम-कर देखते नही थे, वही अब दूसरो के पीछे सरपट दौड रहे हैं। स्वतन्त्र भारत की स्वतन्त्र नारी को अव सव कुछ फाड़ फेकना है। जानकी उसके लिए वडी भोली और धर्म-भीरु है...उनमे वुद्धि की कमी है, साहस की कमी है, व्यक्तित्व की कमी है।

शीला—जी, वे भाषण न दे सकी। (मुस्कराती है) दशरथ को ललकार न सकी। रामचन्द्र से न कह सकी कि तुम अपने पिता के धर्म के लिए वन जा रहे हो, मेरे रूप और यौवन की ओर नही देखते। आज की नारी यही कहेगी। पर आप ने मुझे इस युग की चकाचौध मे जाने भी नही दिया। मुझे तो जानकी के त्याग मे ही उनका सबसे वड़ा अधिकार देख पड़ा है। यह अधिकार अब तक नही मिटा, कभी

नही मिटेगा। अकेली एक जानकी में इस देश की नारी जाति लय हो चुकी है।

राजनाथ—तब तुम निरंजन से बाते कर सकती हो। वह चाहता है कि...

(ऊपर देखने लगते है।)

शीला—कोई बात नही। जानकी रावण से बातें कर सकी थी, फिर भी रावण का संयम इन निरंजन मे होगा या नही। रावण इतना लोलुप नही था। वह अशोक वन मे जानकी के निकट जब गया, अपने बचाव के लिए अपनी रानी को साथ लेता गया; और उन्हें अकेले मे बातें करनी है।

राजनाथ—देश के सभी पढे-लिखे लडके इस समय निरंजन है, उनमें रावण का भी सयम नही है।

शीला—तो फिर इनके इस रोग की दवा यहॉ की लड़कियॉ करेंगी। हम सब को सीता बनना पडेगा। तो कहॉ उनसे मुझे बातें करनी होगी?

राजनाथ—लेकिन क्रोध नही बेटी। तुम लाल हो गई।

शीला—आपके सामने। उनके सामने मै न लाल हूँगी न पीली। संयम और विचार न छूटेगा मुझसे!...

राजनाथ—सोच लो जो तुम धीर बनी रहो।

शीला—सोच लिया। आपको कोई भी अवसर मेरी चिन्ता, सन्देह का न मिलेगा। अपना सम्मान चाहती हूँ। मै फिर उनके सम्मान को ठस न दूंगी।

(मोहन का प्रवेश। उद्विग्न मुद्रा मे कभी शीला को और कभी राजनाथ को देखता है।)

राजनाथ—क्या है? ऐसे घबड़ाये क्यो हो?

मोहन—जा रहा हूँ....उसे स्टेशन पहुँचा दूँ। मैंने उसे यहाँ बुलाकर उसका अपमान किया। शीला उससे घृणा करती है। क्या...

क्या...कह रहा है। कहे तो उसके पूर्वजो का इतिहास उसे सुना दूं।

शीला—घृणा भी एक तरह का सम्बन्ध है। मुझे इन देवता पर दया आ रही है। ये मुझे समझते क्या है? वावू जी! यह वेचारा मन और आत्मा का रोगी है। भविष्य के लिए कुछ नही छोड़ता। सव कुछ वर्तमान में दवा रहा है! सौ वर्ष जीने से अच्छा है इसके लिए एक दिन या वस एक क्षण जीना। कुम्भकर्ण छः महीने में एक दिन खाता था और यह जीवन भर के लिए एक ही दिन खा लेना चाहता ह।

राजनाथ—(गम्भीर मुद्रा मे) हँसी सूझती है तुझे....

शीला—झूठमूठ मे रो पडी। आप भी रोये। मनुष्य को विपत्ति पर ही हँसी आती हे और इससे वडी विपत्ति और कहाँ हम लोग देखेंगे?

(हँसने लगती है।)

राजनाथ—हूँ.. .हूँ.....पागल हो रही है। ऐसे ही उससे बाते करेगी?

मोहन—अव यह उसके सामने क्या जायेगी...

(क्रोध और ग्लानि की मुद्रा)

शीला—तो फिर वे देवता यहाँ से ऐसे ही रोगी चले जायेंगे? निर्वल चरित्र को हँसी नही आती—आपने एक वार कहा था वावू जी?

राजनाथ—तीस करोड़ के इस देश में आज तीस भी हँसनेवाले नही है। इसका कारण केवल आर्थिक नही, नैतिक भी है। आर्थिक होता तो कम से कम मिल-मशीनवाले, पूँजी और चोर वाजारवाले तो हँसते? उनकी तिजोरियाँ भरी है, पर मन खाली है। चरित्र-वल अव हमारी धरती में नही है। जो पीढ़ी आ रही है उसका नमूना निरंजन है, मोहन है। देखो इन्हे, खड़े-खड़े काँप रहे है जैसे अभी रो पड़ेगे या गिर पड़ेंगे। यह नई शिक्षा क्या हुई चरित्र की वागडोर छोड़ दी गई। मन के विकार और भावना की आँधी में सेमर की रुई-सी हमारी यह पीढी उड़ी जा रही है।

मोहन—मैं जल रहा हूँ और आप मुझ पर व्यंग कर रहे है?

राजनाथ—जो जलता है व्यंग उसी पर किया जाता है बेटा! तुम क्यों जल रहे हो? जीवन को फूलों की सेज तुमने क्यों मान लिया? फूल मे भी काँटे होते हैं। विपरीत परिस्थिति में जो न डिगे वही पुरुप है और तुम जानते हो, सव कुछ अनुकूल ही नही होता। निरंजन कभी तुम्हारा आदर्श था और अब तुम्हारी आँखों मे वह इतना नीचे है। दोनो ही झूठ है। दोनों को मिलाकर बराबर करो तब तुम्हे निरंजन मिलेगा। शीला, बुलाऊँ उसे यहाँ। उसे आघात तो न पहुँचाओगी?

शीला—मुझ पर कुछ भी सन्देह हो तो नही। मै उन्हें घृणा नही करती। घृणा के लिए कुछ परिचय होना चाहिए। आप जानते है, मेरा उनसे कुछ परिचय नही है।

राजनाथ—(उठ कर) तब मै उसे बुला लाऊँ। तुम यहाॅ न रहना मोहन, जव वह आ जाय।

मोहन—अब इसका फल कुछ नही है। यह होना था पहले, अब वह जाने को तैयार है। कपड़े पहन चुका है।

राजनाथ—नदी की बाढ उतर जाती है। मन का वेग न उतरता तव तो मनुष्य अपने ही ताप से जल मरता और फिर तुम्हे वह जान गया। इस घर में मुझे और शीला को भी जान ले, यही ठीक होगा।

(प्रस्थान)

मोहन—तुम उससे अकेले मे बोल सकोगी?

शीला—म उनसे डरती नही। वे बोल सकेंगे मुझसे? मुझे सन्देह तो इसी का है। बाप के धन का बल, शिक्षा का बल, चरित्र और व्यक्ति का बल नही बनेगा? देख लेना उन्माद जो उनमे आ गया है, पल भर मे उड़ जायेगा। बाबूजी से नही कहा, मुझसे तो कहे होते कि तुम्हारे मित्र यहाॅ मेरे लिए आये है।

मोहन—मै क्या जानता था कि तुम ऐसी जिद्दी हो।

शीला—इसका उत्तर मे उन्हे दूंगी। मेरा मुँह तुम अव तो देखोगे।

मोहन—मुझे लजाओ न शीला। तुममे मुझसे वुद्धि अधिक है।

शीला—वुद्धि स्त्री है और वल है पुरुष। वुद्धि और वल के मेल में व्यक्ति वनता है। लुक-छिप कर वुद्धि चलती है, वल को यह कला नही आती।

मोहन—क्या? कैसे देख रही हो? शीला, तुम्हारी तवियत ठीक नही है। तव वह यहाँ नही आयेगा।

शीला—रुको। मुझे उसके लिए तैयार होने दो।

मोहन—किसके लिए?

शीला—तुम्हारे मित्र से वात करने के लिए। एक-एक साँस का वल मुझे वटोरना होगा। उनके सामने मेरी आँखे नीची न पड़ें। यही चाहते है वे। अपना और मेरा अन्तर वे देख ले।

मोहन—तुम्हारे मुँह का रंग हर पल जो वदल रहा है। तुम मुझसे कुछ छिपा रही हो शीला।

शीला—मन की गति जो हर पल वदल रही है। मन के वीज मुँह पर आते है। तुम्हारी वहन की आज परीक्षा है। परीक्षक है एक पुरुष जो तुम्हारा मित्र वनता है। कैसा मित्र है वह? क्या स्नेह है उसका तुम्हारे लिए? जव तुम्हारी वहन के लिए वह इतना निर्दय है?

मोहन—मै उसे यहाँ नही आने दूंगा।

(उठता है)

शीला—(उसका हाथ पकड़ पर) मै उसे इस योग्य नही छोडूंगी कि फिर वह किसी स्त्री के साथ ऐसा व्यवहार करे। नही...तनिक नही, तुम न घवडाओ। मुझे स्वीकार कर वह तुम पर कृपा करता। अव वह तुम्हारी कृपा चाहेगा कि तुम अपनी वहन उसे दो। भैया, तुम उसकी एक वात न सुनना, कह देना तुम अयोग्य हो। चाहिए तो यह था कि लुक-छिप कर मै उसे देखती (हँसकर) और जव

लुक-छिप कर मुझे देखना उसने चाहा तो फिर चाहे उसकी देह सोने के पत्तर मे मढी हो, उसके भीतर वह पुरुष कहाँ है जिसकी ओर मैं...

(नाक और भौहे टेढी पडती है।)

मोहन—लुक-छिपकर वह तुम्हे देखना चाहता था। नीच.....

शीला—नीच नही निर्वल। जिसकी पुरुष-देह मे स्त्री का मन है, जो प्रणय की भीख माँगता फिरता है, अपने घर का संकट जान कर... जान कर कि मेरे भाई मेरे सुख और सुविधा के लिए, मुझे रानी बनाने के लिए अपने सम्मान का त्याग कर रहे है, जिससे बडा त्याग पुरुष के लिए कोई दूसरा होता नही, यही चाहती थी मै कि यह सयोग बैठ जाय। वह मुझे खीचना चाहता था अपनी चटक-मटक से, अपने उतावलेपन से, शिक्षा और धन के दम्भ से। किसी न किसी बहाने मैं बराबर उसके पास रहूँ, मुझे देखता रहे, मुझसे बाते करता रहे। मेरे भीतर उसके लिए कुछ छिपा न रहे, कुछ रहस्य न रहे। दो ही दिन मे वह सब कुछ जान जाय, उसकी सारी भूख मिट जाय।

मोहन--कुछ न कहो, अब मै सिर पीट लूँगा।

शीला--इतने सीधे हो भैया तुम। तुम्हारे मित्र के हाथ मे लेंसेट बराबर रहता है। वे सब कही बहुत गहरे चीरकर देखते है वहाँ क्या है? और तुम उनके ऊपर की चमक-दमक मे यह नही देख सके कि भीतर कितना विष है उनके। सिर पीटने से नही बनेगा। हँस सको तो उनकी मूर्खता पर हँसो। पुरुष का गुण न धन है, न रूप, न विद्या; कहाँ तक वह अपने को रोक पाता है, कितना सयम उसमे है?

मोहन--ऐं, कैसी आहट है? आ रहे है तब वह...शीला, उसका अपमान न करना। तुम्हारे घर आया है कम से कम इतना...।

शीला--आधी बात कहते हो। कहो, फिर मै कहूँगी? अपमान वह स्वय अपना करते है। मै उनका अपमान क्या करूँगी। पुरुष

जब स्त्री का शिकार करता है, सम्मानित नही रह जाता। फिर भी विश्वास करो, मै अपने पर अंकुश रखूंगी।

मोहन—और वह जो कुछ पूछे उसका निडर उत्तर दोगी ?

शीला—(हँसकर) तुम्हारे मित्र मुझसे लड़ेंगे नही। डरने की बात क्या है! रावण की लंका मे जानकी उससे नही डरी और अब मै अपने घर में उनसे डरूँगी ?

मोहन—तुम जानकी नही हो। यह युग अब जानकी का नही है।

शीला—जानकी का युग इस देश से कभी नही मिटेगा। मै जानकी हूँ। इस देश की कोई भी स्त्री जानकी है। जब तक हमारे भीतर जानकी का त्याग है, जानकी की क्षमा है तब तक हम वही है। तुम्हारे लिए जानकी पौराणिक है इसलिए असत्य हैं। मेरे लिए वह भावगम्य है। उनके भीतर मेरी सारी समस्याएँ, सारे समाधान है। राम में तुम अविश्वास कर सकते हो, जानकी मे अविश्वास का अधिकार तुम्हे नही है।

[निरजन का प्रवेश । अवस्था प्राय. तेईस वर्ष । लम्बा-छरहरा गोरा शरीर। नुकीली नाक, आँखो पर चश्मा। इस नये युग की वेश-भूषा। प्रभाव की मुद्रा।]

निरजन—गाड़ी का समय जा रहा है मोहन !

शीला—इस समय आप नही जायेंगे। आइए, बैठिए।

निरंजन—जी आपके बाबूजी भी यही कह रहे है, लेकिन अब चला ही जाना ठीक है।

शीला—बैठिए भी, चले जानेवाले को कब किसने रोका है ?

निरंजन—आप भी बैठें। (मेज के पास कुर्सी पर बठता है। मोहन निकल जाता ह।) कहाँ जा रहे हो ?

मोहन—(नेपथ्य में) तुम्हारा सामान ठीक कर दूं।

शीला—आप मुझसे अकेले में बातें करना चाहते थे। यह अवसर ठीक है।

निरंजन—इसलिए कि आप मेरी छाया से भागती रही हैं। बोलि ...।

शीला—बापके घर में...मायके में कोई भी लड़की आप जैसों से भागेगी। ऐसा न होना संकट की सूचना है, इतना भी नही जानते आप?

निरंजन—उँह...आपके विचार बड़े पुराने है। नया भारत अब आप लोगो से कुछ और चाहेगा।

शीला—भारत वही पुराना है। आप उसे नया बनाकर उसकी प्रतिष्ठा बिगाड़ रहे है। वह क्या चाहता है उसको देखिए, उसको समझिए। जो आप चाहते हैं, उसका आरोप इस पुराने भारत पर न कीजिए।

निरंजन—इस युग का...इस बीसवी सदी का स्वतन्त्र भारत पुराना है ? पुराने विचारो मे, पुरानी रूढियो मे जकड़े रहने का समय अब लद गया। आप देहात मे हैं। शहर मे रहती, वहाँ की लडकियो को देखती, सिनेमा और स्त्रियों के समाज मे जाती...

शीला—कही भी रहती...कही भी जाती फिर भी मेरी आँखो मे भारत नया नही लगता। इसकी चाल कभी रुकी नही, न यह कभी मरा न मिटा। एक साँस भी इसकी कब बन्द हुई, बतायेगे? इसने कितने देशो को जन्म लेते और मरते अपनी आँखो देखा है। इसकी आयु की, इसकी संजीवनी शक्ति की, प्रतिष्ठा कीजिए।

निरंजन—अरे...आप बड़ी भावुक है। मै तो गनगना उठा।

शीला—इसकी पताका जब प्रशान्त से लेकर भूमध्य सागर तक उड़ी थी उस समय अपनी कन्याओ से जो इसने न चाहा, अब न चाहेगा।

निरंजन—यह कविता की भाषा मै नही समझ रहा हूँ।

शीला—आप जिस साँचे मे ढल चुके है उसमे इस पुराने देश को न ढालिए। इसका अपना साँचा है, बने तो अभी भी समय है, उसमे फिर से अपने को ढालिए। जिस देश की रूढियाँ मिट जाती हैं वह देश भी मिट जाता है।

निरंजन—आप तर्क करना जानती है। मै तो समझा था कि...

शीला—आप समझे थे, मै गूंगी हूँ। आपके सामने मै बोल न पाऊँगी।

निरंजन--जो कहे आप.....फिर भी जिसके साथ जीवन भर रहना हो, उसे ठीक से जान लेना....मै ही नही, कोई भी शिक्षित व्यक्ति चाहेगा।

शीला--जो आप-सा सजग रहेगा। थोडी देर किसी लडकी से बातें कर उसके भीतर का सब कुछ खोलकर देख लेना--इस काम मे वह बराबर ठगा जाता हैं फिर भी उसे चेत नही होता।

निरजन--भावी पत्नी को ठीक से देख लेना, समझ लेना, ठगा जाना हैं ? कैसी बेढगी बात आप कह रही है ?

शीला--आप की अवस्था का पुरुष जब मेरी आयु की लडकी के पास जाता है, अन्धा हो जाता है। और कही संयोग से लडकी सुन्दरी हुई तो वह उन्मत्त हो उठता है। अन्धा क्या देखेगा ? उन्मत्त क्या समझेगा ? इसलिए अपने आप न देखकर किसी दूसरे से दिखा लेना आप ऐसो के हित की बात है। आपको साहस कैसे हुआ कि यहाँ तक चले आये मुझे देखने के लिए ?

निरजन--आपके भाई ने मुझसे प्रार्थना की ...

शीला--उनकी प्रार्थना पर आप कुएँ में कूदेगे ? साँप उठाकर गले मे लपेट लेगे ? भावी पत्नी ? पत्नी कब और कहाँ भावी हुआ करती है ? जब तक वह आपकी हो न जाय, आप उसके न हो जायँ . .....

(हँसती है।)

निरंजन--तो इसीलिए आप बुलाने पर भी मेरे पास नही आई। मुझसे भागती फिरी। मै समझता था, देहात की लडकी होने से आप लजा रही है। आप पर्दे मे रहना चाहेगी।

शीला--जी..... अकेले एक पुरुष मे जिस स्त्री का प्राण समा जाता है वह किसी न किसी प्रकार के परदे मे रहना ही चाहती हैं। लुक-छिप कर आप मुझे देखने की चेष्टा करते रहे। बार-बार नाम लेकर आपने बुलाया...... दो बार मै गई भी, फिर भी आपका सन्तोष इतने

से नही हुआ। मैने देखा, आप संयम छोड रहे है, आपका स्वभाव बिगड रहा है।

निरजन--मेरे स्वभाव की आलोचना करन का अधिकार आपको नही है। मै यहाँ बुलाने पर आया था, आप जानती है। इस भभकती लू, धधकते आकाश में, मैं नैनीताल होता।

शीला—मेरे लिए आपको कष्ट हुआ, इसकी मै कृतज्ञ हूँ। आपके स्वभाव की आलोचना मैं न करूँ, आपका मन करेगा, समाज की मान्यताएँ करेगी, और अब मुझे भी क्यो नही है यह अधिकार महोदय? जितना कोई विवाह के बाद अपनी पत्नी से पाता होगा, उतना आप मुझसे पहले ही ले लेना चाहते थे। सब कुछ मै आपको अभी दे देती तो फिर बाद के लिए क्या रखती? और न सही, मानसिक लगाव तो आप पैदा कर चुके है। अब आप जब किसी दूसरी लडकी को देखने जायँगे, आपके मन मे मैं झूल उठूँगी, आँखो मे लहरा जाऊँगी। मुझे पारकर आपकी आँखे उस बेचारी को देख न पावेगी। पहले और भी कोई लडकी देख चुके है आप?

निरंजन—इससे आपका मतलब क्या है? देखा या न देखा हो? मैने कष्ट दिया आपको, क्षमा करे, मैं अब चलूँ।

[कुर्सी से खडा होता है। शीला बढकर उसका हाथ पकड़ लेती है।]

शीला--अभी आप नही जायेगे। अभी आपने ठीक से न मुझे देखा, न समझा। और फिर रूठ कर आप चले जाये। इस देश की सबसे बड़ी, पत्नी की कामना मे आप यहाँ आये थे और लेकर जायेगे क्या?

निरंजन--आप तो मुझे चक्कर मे डाल रही है! आपको समझना बड़ा कठिन काम है। कहिए, फिर न जाऊँ तो क्या करूँ?

शीला—पुरुष की समझ में स्त्री कभी नही आती। मुझे आप जितना ही

अधिक समझना चाहेगें, मै आपसे उतनी ही दूर होती जाऊँगी। सन्देह का भार पुरुष ढोता है, स्त्री विश्वास चाहती है।

निरजन—तव? ....

शीला—यह अवसर न दीजिए कि स्त्री की जीभ चले; वह तर्क करे, प्रगल्भा और वाचाल वने। पुरुष समुद्र की थाह लगा लेगा। स्त्री मे वह वरावर डूवता आया है।

निरंजन—मनुष्य की सीधी वोली मे कहिए। संकेत की यह भाषा मैं नही जानता।

शीला—तव आपने इतना सचेत, इतना सजग, क्यो रहना चाहा? कुमारी के सपने न तो पुरुष के धन के, न विद्या के, न रूप के होते है। वहाँ कुछ दूसरा ही रहता है।

निरंजन—(विस्मय मे) तो फिर कह दें, मैं भी जान लूँ।

शीला—कह दूँ? आपको विश्वास न होगा।

निरजन—कहे भी? विश्वास न करना मेरा अभाग्य होगा।

शीला—सच कहते है? अपने मन को टटोल लीजिए। सन्देह की छाया भी वहाँ न हो।

निरंजन—मुझे अधिक लज्जित न करे।

शीला—स्त्री पुरुष की असावधानी को, उसके अल्हड़पन को प्रेम करती है, जिसमें वह अपने प्राण से भी सजग नही रहता, सकट से जूझता चलता है। जिसम वह ऐसी गहरी नीद सोता है कि स्त्री को अवसर मिले कि वह उसे प्राण मे उठा ले, आँखो मे बन्द कर ले। कल रात भर आप जागते रहे। अभी यह दशा है तो आगे क्या होगा?

निरंजन—(विस्मय में) ऐं..कैसे जानती है आप कि मै रात भर जागता रहा?

शीला—हम कैसे जानती हं? इस चिन्ता मे न पड़े। आकाश के तारे कहते है हमसे, पेड़ की पत्तिय़ाँ कहती है हमारे कान अधिक सुनते

है। हमारी आँखे अधिक देखती है। आप ही कहे, रात भर आप जगे रहे या नही? आप जो कहेगे, मै वही मान लूँगी।

निरंजन—ठीक कह रही है .. रात मुझे नीद नही आई।

शीला—लेकिन क्यो? क्या इस आयु मे आपको कंकड़ पर नीद न आ जानी चाहिए? क्या यह आपके मन का रोग नहीं है? यह देश नया नही पुराना, बहुत पुराना, वृद्ध हो चुका है। यह चाहता है कि इसमे जो पैदा हो, इसी की तरह लम्बी आयु के हों। उनके बाल पककर हिमालय की आभा पैदा करे। आपके नीद न आने का अर्थ है कि आप इस देश के प्रति ईमानदार नही है। नये के फेर मे न पड़कर पुराने को समझें; आपके लिए, आपके समाज के लिए इसी मे कल्याण ह।

निरंजन—तो आपके कहने का मतलब है कि मुझे आपको देखने या बाते करने का... .

शीला—जी...आज मै आपके सामने हूँ...आप मुझे इस रूप मे देख रहे है...कही मैं बीमार पड़ जाऊँ...कोई अंग सूना पड़ जाय...एक आँख फूट जाय तब तो आप मुझे छोड़ देगे?

निरंजन—मैं इतना नीच हूँ! क्या कह रही है आप यह? मेरे भीतर भी हृदय है, उसमे प्रेम और कर्त्तव्य दोनों है।

शीला—फिर देखने या बाते करने मे क्या धरा है? सन्देह से जहाँ आरम्भ है, वहाँ अन्त भी सन्देह है। किसका साहस होगा कि अन्धी या लँगड़ी कन्या का प्रस्ताव भी आपसे करेगा? अपने मित्र का विश्वास आप न कर सके, किसी दूसरे को भेज देते और मुझे देखते तब जब वह आपका अधिकार होता।

निरंजन—(मुस्कराकर) विवाह के बाद...

शीला—तब क्या, और तब मै आपके चारो ओर ऐसे भाँवर देती जैसे यह पृथ्वी सूर्य की भाँवरी देती है। उसके लिए आपको प्रयत्न न

करना पडता। आपके आकर्षण में बँधकर मैं ऐसी विवश रहती जैसी यह पृथ्वी सूर्य के आकर्षण मे विवश है।

निरजन—शीला...इधर देखो...

शीला—अभी नही, पहले वह आकर्पण...और तव इसके लिए मै विवश रहूँगी।

निरंजन—तव मै कह दूँ तुम्हारे वावूजी से ?

शीला—कह दो. .लेकिन इस नये युग का नया पुरुप यह सव कहने-कहाने मे रूढिवादी वनेगा।

निरंजन—तो तुम अभी आघात करती चलोगी?

शीला—जव तक हम दोनो दो व्यक्ति है।

निरजन—दो व्यवित तो हम वरावर रहेगे।

शीला—यह नया मत है। पुराने मे दो व्यक्तियो के भेद का मिट जाना ही प्रणय है। यहाँ न रुचि-भेद है, न वुद्धि-भेद। शंकर का आधा शरीर इसीलिए पार्वती का है।

निरंजन—यह सव तुम कहाँ जान गई?

शीला—अपने संस्कार से। सव कुछ पढा ही नही जाता, कुछ अनुभव भी किया जाता है।

निरंजन—कैसे कहूँगा, मुझे तो लाज आ रही है। कल तक यह जितना सरल था अव नही है। मै यहाँ अपने मित्र का उपकार करने आया था और अव यह मेरे साथ उपकार हो रहा है।

शीला—वस, वही पुरानी वात। कन्या के प्रार्थी यहाँ वरावर पुरुप होते रहे है। तुम्हे भी वही करना पडा। इस नये युग, इस नई सभ्यता मे भी। तुम्हे भी दान लेना पड़ेगा किसी की कन्या का

निरंजन—और वही दान मेरा सवसे वड़ा धन होगा। शीला! मै भूला था। अव मुझे नीद आयेगी, ऐसी गहरी कि तुम...

शीला—गला क्यो भर आया? इतने अधीर अभी.....

निरंजन—सम्भवतः हम लोगो का पूर्व जन्म का सयोग था....

शीला—निश्चित। जीवन भर का सुख और सन्तोष इसी विश्वास पर टिकता है।

निरंजन—(उसकी उँगलियाँ पकड़कर) इस एक दिन मे मेरा सारा जीवन समा गया, इसके पहले जो कुछ था और बाद को जो कुछ होगा।

शीला—सब इसी एक दिन में मिल जायगा, क्यो?

निरंजन—इसी एक दिन मे...

[दोनो एक दूसरे की ओर देखते है।]

(पर्दा गिरता है।)

हरिशंकर शर्मा

चहचहाता 'चिड़ियाघर'

स्वप्न के सुखमय संसार मे विश्व के विचित्र अद्भुतालय की—वाणिज्य-विलास, शिल्पशाला, धर्मधाम, समाज-सदन, राजनीति-निकेतन, अकिंचन-कुटीर, मजदूर-मजिल आदि—सस्थाएँ देखते-देखते, जब जी ऊब उठा तो अपने राम सीधे साहित्योद्यान की ओर सिधारे और सोचने लगे कि चलो, इस शुष्कवाद के जलहीन जलाशय से निकलकर सरसता के सुन्दर सरोवर मे स्नान करे; झक्कड़ता के झाड़-खडों को झाड़कर सुखद सुमनो की सुगध सूँघें। अहा! साहित्योद्यान का सुहावना द्वार देखने ही योग्य था। उसकी सुन्दर सुषमा का विशद वर्णन करने के लिए कवि-कुल-कैरव-कलाधर कालिदास की ही वरद वाणी चाहिए! क्या पूछते हो? साहित्योद्यान का दिव्य द्वार देखकर अपने राम चित्र-लिखे-से रह गये! आँखे ठगी-सी ठिठक रही! पगो ने आगे बढने से इनकार कर दिया। इतने में ही उद्यान का अधिकारी आकर वोला—"देखना है, तो आगे बढो, नही तो दरवाजा बन्द होता है।"

मैंने कहा—"फीस?"

"फीस-वीस कुछ नही, केवल सहृदयता का सर्टिफिकेट साथ रखिए। अच्छा, यह तो बताइए, पहले आप इस विशाल बाग के किस भाग की सैर करेंगे?"

"मैंने यह बाग पहले कभी नही देखा है, इसलिए समझ में नहीं आता, आपके इस सवाल का क्या जवाब दूं।"

"अच्छा वढ़िए आगे और जो इच्छा हो सो देखिए।" यह कहकर उस आदरणीय अधिकारी ने मुझे प्रधान द्वार द्वारा अन्दर पहुँचा दिया। अजीब नजारा था, अद्भुत दृश्य दिखाई देता था; गुल्म-लता-तरु-वल्लियों

की असीम शोभा का ठिकाना न था। सुहावने वृक्षों और सुन्दर सुमनों की अपूर्व छटा मन को मुग्ध कर रही थी। कोयलो की कूक और कबूतरों की गुटुरगूं ने 'समाँ' बाँध रक्खा था। जगह-जगह जलाशय भरे हुए थे, झरने झर रहे थे, नाले वह रहे थे और सोते हिलोरे मार रहे थे। जिधर निगाह उठती थी उधर ही आनंद का आधिपत्य दिखलाई देता था।

उद्यान के अदर घुसते ही सामने एक चहचहाता 'चिडियाघर' दिखलाई दिया। खुशी का खजाना मिल गया; हर्ष का ठिकाना न रहा; आनन्द की गंगा उमड़ पड़ी; अंधे को आँखे मिल गई। चलो, पहले इस चहचहाते हुए चिड़ियाघर की सैर करे, इसी की बहुविचित्रता से अपने अतृप्त नयनो को तृप्त करे। 'पटिया' पर नागरी लिपि मे, कितने सुन्दर अक्षर लिखे हुए है, कैसा-कैसा कौशल दिखलाया गया है। साथी ने कहा—"अच्छा आगे बढिए। देखिए, इस कमरे मे 'हिंदी का इतिहास' सुरक्षित है; उसमे पुरानी लिपियो और शिलालेखो का सग्रह किया गया है।"

"ठीक, परन्तु भाई, इन सब बातों को सोचने-समझने के लिए न अपने पास ओझाजी का हृदय है, और न उनका मस्तिष्क! चलो, और आगे बढो।"

"अच्छा, यह दूसरा कमरा है। इसमे चंद वरदाई से भारतेन्दु तक समस्त साहित्य-सेवियो की स्वर्गीय आत्माएँ अपनी-अपनी कृतियो पर अटल आसन जमाये विराजमान है।"

"और आगे बढो भाई! ये तो फुरसत मे देखने की चीजे है। एक-एक का अवलोकन करने के लिए महीनो और वर्षो चाहिए।"

"अच्छा! यह कमरा क्या है? ओ हो—इसमे सपादकीय पिंजर रक्खे है। वाह! यह बहार तो देखने ही लायक है। किसी की दुम से दावात बँधी हुई है, कोई कान पर कलम रक्खे कूद रहा है। किसी के पैरो मे पिनो की पैजनियाँ पड़ी है, तो कोई पेंसिल को पजों में दबाये फिर रहा है। कोई कैंची से कयामत ढा रहा है, तो कोई पोथियो का

पुलंदा चोच में दवाये दौड रहा है। कोई पक्षी पिंजडे में पडा गरूर से गुर्रा रहा है, कोई बेचारा हाथ जोडकर 'हा-हा' खा रहा है। क्या ही विचित्र दृश्य है! कैसा अजीव तमाशा है!!--अच्छा, इन पिंजर-वद्ध पक्षियो के कमरे के आगे क्या है? संवाद-दाताओं के संदूक, लेखको का पिटारा, ग्रंथकारो की गठरी, समालोचको की टोकरी और व्याख्याताओ का वडल। अच्छा, इस गद्य गैलरी को छोडिए, पीछे वापसी मे देखेंगे, पहले पद्य-प्रासाद की ओर चले--उसकी रगत देखे।

ओ हो! यह है पद्य-प्रासाद! इसमे तो भाँति-भाँति के कवि-कारडव और काव्य-कपोत किलोल कर रहे है, दूर-दूर के पद्य-प्रिय पक्षी प्रस्तुत है। यहाँ पखेरुओ के नख-प्रदर्शन से खूब आनद आता होगा, बडी रौनक रहती होगी। अजी जनाव! रौनक की क्या पूछते है? 'वहिश्त'-सी दिखाई देती है। फिर आज तो इन कवियो का वहुत वड़ा सम्मेलन है। खूब चोच-भिडंत होगी। जरा देखना तो सही, कैसा मजा आता है। हाँ हजरत! हमारे लिए तो यह विलकुल ही एक नई वात होगी। अभी साढ़े तीन वजने मे पंद्रह मिनट वाकी है। अच्छी वात है, आइए! तव तक इस घास पर वैठे और फिर कुछ काल के लिए सम्मेलन में सम्मिलित होकर उसका आनद लूटेंगे।

ठीक साढे तीन वजे कवि-सम्मेलन शुरू हुआ। सभापति का आसन गद्य-पद्याचार्य गरुड़देव ने ग्रहण किया। आपने अपने भावपूर्ण भाषण के अत मे कहा--"महाशयो! इस 'पद्य-प्रासाद' मे, सौभाग्य से विविध प्रकार की वोलियाँ वोलनेवाले कृतविद्य कविवर उपस्थित है। सबको समान रूप से चीखने, चाखने और चहचहाने का मौका दिया जायगा। वढिया वोलनेवालो को सोने-चाँदी की पैंजनियाँ पहनाई जायँगी, कंठ में कलावतून के कठे डाले जायँगे। देखना, गभीरता और सभ्यता हाथ से जाने न पावे।"

इसी समय कतिपय साहित्य-ठूंठो ने अपनी विद्वत्ता का वखान करते हुए सभापति के सार-गर्भित भापण पर वड़वड़ाहट शुरू की। कर्ण-

कटु ने 'काँव-काँव' मचाई। अपनी प्रतिभा की प्रचंडाग्नि से काव्य-कलिका को झुलसाना चाहा। गुरु गरुडजी के गौरव-गुलाल पर गंदगी गिराने की चेष्टा की। गुबरीला पद्म पर प्रभुता को पाने का प्रयास करने लगा, स्यार सिंह पर दुलत्ती झाडने को समुत्सुक हुआ। परन्तु सब निष्फल---सब व्यर्थ। उपस्थित कविवृन्द ने सारे साहित्य-ठूँठों का ठाट बिगाड दिया, बोलती बंद कर दी, जिससे उन्हे फिर अनर्गल आलाप करने का हौसला ही न हुआ।

हाँ, तो सबसे पहले, सभापतिजी की आज्ञा के अनुसार, प्रार्थना-पथी कवि केकीजी ने अपनी कविता सुनानी शुरू की। आपके खडे होते ही पखों की फटफड़ और तुडों की तडतड से गगन-मडल गूँज उठा। आपने आँखे मीच और कठ मीचकर नीचे लिखे पद्यो का पारायण प्रारभ किया---

> अखिलेश, सर्वेश, प्रजेश पालकम्,
> विश्वेश, कुल्लेश, क्लेश-घालकम्
> मोटर-घडी-इंजन आदि चालकम्
> विपत्ति, सकट्ट विकट्ट टालकम्।
> रघुराज, ब्रजराज, गणेश गौरी
> श्री........

सभापति गरुडदेवजी ने कवि को यही रोककर कहा---"महाशय आप अपनी कविताएँ सुनाते है या 'विष्णु सहस्रनाम' का पाठ करते है? काव्य-कानन मे किलोल करने आये है या साम्प्रदायिकता की सडक पर सपाटे भरने?" इस पर प्रार्थना-पथी कवि केकीजी अप्रसन्न हो गये, और क्रुद्ध होकर कहने लगे---"जब तक मेरी 'प्रार्थना-पचशती' समाप्त न हो जायगी, तब तक आगे न बढूँगा।" अस्तु, सभापतिजी के आदेशानुसार आपको बैठ जाना पडा।

श्रीयुत केकीजी के प्रस्थान करते ही रसराज-रसिक 'कक' कवि की कुलबुलाहट आरभ हुई। आपकी अदा निराली थी। कभी नाक पर हाथ

रखते थे, कभी कर से कमर टटोलते थे। कभी लचकते थे, तो कभी मचकते थे। कभी कूदते थे, तो कभी फुदकते थे। कभी भृकुटी के भाले मारते थे, तो कभी कटाक्ष के कारतूस छोडते थे। आपने अपने रग में अद्भुत आलाप करते हुए एक शृंगारमयी रचना सुनाई। उसमे कबूतरी के कलित कलेवर की सुन्दरता का बखान था, जिसे देखकर श्वेत बकवृ द, काले-काले कौए, उद्धत उलूक आदि सभी दंग रह जाते है। कवियो की तो कोई बात ही न पूछिए। कक कवि की इस शृंगारमयी कविता से सारे कवि समाज में हलचल मच गई। चारो ओर से 'अश्लील अश्लील ! की आवाजें आने लगी। सैंकडो कबूतरियाँ कवियो को कोसती हुई उड़च हो गई। शोक!! महाशोक ! देवियो का ऐसा निरादर! इतना अपमान!! बद करो इस कुत्सित सम्मेलन को, रोको ऐसी गदी गढत को, मत बकने दो ऐसी बेजोड़ बाते—यही चर्चा सब ओर सुनाई पड रही थी।

बहुत कठिनता से प्रेसिडेंट मिस्टर गरुड़देव ने शान्ति स्थापित की, और बड़े बलपूर्वक कहा—"आगे से ऐसी बेहूदा और अश्लील कविताएँ कोई न सुनावे। हाल ही मे इस प्रकार के असद् व्यवहार से कितनी ही कपोत-कांताओ को मर्मान्तिक वेदना पहुँची है, जिससे हमें भी बडा दुख है, और होना भी चाहिए। आशा है, आगे ऐसा स्वेच्छाचार न होगा।"

इसके पश्चात् 'धर्मध्वजी' कवि बकानदजी सभापति की आज्ञा से उठे। अपनी डबडबाती हुई आँखो और गिडगिड़ाती हुई वाणी से धर्मप्राण श्रोताओ से अपील करते हुए नीचे लिखी कविता पढी—

छूत-छात छोडना न भूल करके भाई,
पतितो, अछूतो को न उठने-उठाने दो।
विधवा-विवाह करना है घोर पाप, इसे
कर्मवीर, कभी कल्पना मे भी न आने दो।

बिछडे हुओ को अपनाना नीचता है निरी,
ऐसी अवनति का न हुल्लड़ मचाने दो,
धर्म को विसार कर जाति को जिलाओ मत,
कल मरती हो, उसे आज मर जाने दो।

वृद्ध-वशिष्ठ वकानदजी की कविता में साम्प्रदायिकता की सनक और कट्टरता की कड़क होने के कारण सभामंडप मे 'हर्ष-विषाद' का तुमुल युद्ध छिड़ गया। सुधारक दल का कोप का दंड तन गया; किंतु कट्टरपंथियों ने खुशी के नगाडे बजाने शुरू किये। सुधार और बिगाड के बीच खूब 'कुड़मघूँ' हुई। चोचो की चे चे और परो की फडफडाहट ने विश्रात वायु विलोड़ित कर दिया। गरुडदेव फिर उठे और अपने भाषण के आकर्षण से येन-केन प्रकारेण वड़ी कठिनतापूर्वक शाति स्थापित करने मे समर्थ हुए।

थोडी देर बाद सुधारक-दल के कवियो ने फिर राम-रौला मचाया, और सभापतिजी से वडे आग्रह-पूर्वक कहा—"अब की बार सुधारों के आधार और उन्नति के अवतार, प्रसिद्ध, समाज-सशोधक कविवर काक किशोरजी को कविता पढने का अवसर दिया जाय।" 'फौरन दिया जाय,' 'अवश्य दिया जाय', 'जरूर दिया जाय', 'जी खोलकर दिया जाय', 'क्यो न दिया जाय?' की आवेशपूर्ण ऊँची आवाजो ने गरुड़-गोविन्द-जी को मजबूर कर दिया, और उनकी आज्ञा से कविवर काककिशोरजी ने नीच लिखी कविता सुनानी शुरू की—

छूत-छात का भूत भगाकर,
सवके संग खा लेगे हम;
उन्नति की घुड़दौड़ मची है,
पीछे नही रहेगे हम।
विधवाओ के ब्याह करेगे,
पिछड़ो को अपनावेगे;
'जात-पात' का ततु तोड़कर,
एक भाव दरसावेगे।

"बैठ जाइए! बैठ जाइए!! विश्व-विनाशक विषैली वायु से इस विशुद्ध वातावरण को विषाक्त न बनाइए! बैठ जाइए! इन तरक्की के तरानों को सुनकर कानो के परदे फटे जाते है। बैठ जाइए।" निदान कट्टर कवियो की कायँ-कायँ ने काककिशोरजी का कचूमर निकाल दिया, कविता की कमर तोड दी, फसाहत की हड्डियाँ फोड दी। विरोध का वेडौल ववडर देखकर वेचारे काक कवि अपना-सा मुँह लेकर अवाक बैठ गये।

सभापति गरुडदेवजी वोले—"महाशयो, मैं पहले ही कह चुका हूँ कि आप लोग कमनीय काव्य-कानन को छोड़कर, सम्प्रदायवाद के बीहड वन में न भटकिए, साहित्य-संलाप त्याग कर मत-पथो से न अटकिए। इससे सभा में अत्यन्त असतोष और असीम असद्भाव पैदा होता है। समाज-सुधार का स्थान यह नही; उसके लिए आपको सशोधक संस्थाओ से सहायता प्राप्त करनी होगी। आशा है आगे जो कविजन अपनी कविता सुनावेगे, उनमे ऐसी वाहियात वाते न आने पावेगी। अस्तु, अव सुप्रसिद्ध देशभक्त श्रीयुत कीर कविजी अपनी रचना सुनावेगे, आप लोग ध्यान-पूर्वक सुने।"

इसके बाद 'स्वतत्रता-सेवी' कविवर कीरजी ने दृग दमका तथा चोच चमकाकर नीचे लिखी रागिनी रागी—

आजाद हो हमारा हिंदोस्तान यारो,
मिल-जुल के देशवासी, ऐसी सुविधि विचारो।
सव जेल मे सडो तुम, हक के लिए लड़ो तुम,
आपत्ति मे पडो तुम, पर कौम को उवारो।
खुश हो के मार खाओ, भारत के गीत गाओ,
हँस बेडियाँ वजाओ, दुखिया के दु:ख टारो।

"वाह सभापतिजी! वाह!! क्या आपने हमे यहाँ प्रीजन के पिंजडे अथवा कारागार के कटहरे मे बन्द करने को बुलाया है? भाड मे जाय भारत और आग मे झूँके आजादी, वताइए जनाव! हम यहाँ

देश का उद्धार करने आये है या काव्य-कानन मे कुदकने-फुदकने? याद रहे, यदि किसी सी० आई० डी० वाले ने सुन लिया तो बची-खुची स्वाधीनता भी नष्ट हो जायगी, लेने के देने पड जायँगे। सुनिए जनाव! हमें इस वहुवाद की जरा भी जरूरत नही। अपने राम तो आशयाने मे पंख पसार कर सोते और आनद के बीज बोते है।"

कीर कवि की इस कडी कविता को सुनकर व्योम-विहारी गरुड़देव को भी गुस्सा आ गया। उन्होंने 'लायलटी' पर लंबा लेक्चर झाडते और क्रोध से मुँह फाडते हुए कहा—"कविवरो, तुम्हे व्यर्थ वाद से क्या? हिदोस्तान के आजाद होने-न-होने से तुम्हारा प्रयोजन? तुम तो अपने उद्यान मे अव भी स्वाधीन हो, और आगे भी रहोगे। अगर तुम्हारा अभिप्राय खमंडल मे खलवली मचाने का है तो याद रखना, मै खगराज हूँ। ऐसा कभी न होने दूंगा। क्या तुम हमारा साम्राज्य छीनना चाहते हो? धिक्कार है तुमको, और तुम्हारे विचित्र विचार को।"

सभापति गरुड़देव के इतना उच्चारते ही चारो ओर छिमान महाराज! छिमान महाराज!!" की आवाज आने लगी। कीर कवि ने भी हकीर होकर आपसे क्षमायाचना की। तदनन्तर, सभापतिजी के आदेशानुसार, 'साँग-सनेही' कविवर कुलगजी खड़े हुए। आपने धडाके की आवाज में झड़ाके से अपना अद्भुत आलाप आरभ किया—

है, ऊदल कहा विचारी, भयो जो आगे ठारो,
न देखौ रूप हमारो;
और मार देहु, मर जाहि ताहि, डर जाहि न हिम्मत हारो,
धिनाधिन् ताक थेई था।

कुलग कवि की करारी कविता सुनते ही, सभा मे सन्नाटा छा गया; उपहार मे पैजनियो के पुलदे पडने लगे; वाह-वाह की धूम मच गई! 'वन्स-मोर' का शोर होने लगा। एक-एक पक्ति अनेक बार सुनी जाने लगी। सभापति सोचने लगे, कही इस घोर वीररस की कविता से उत्तेजित होकर कोमलकाय कविकुमार आपस ही मे सिर-फुटौअल न

कर डालें। अतएव आपने कवि कुलगजी को अवसर मे ही वैठा दिया, जिससे सहृदय काव्य-मर्मज्ञ उनकी शान्तिकारिणी कविता सुनने के लिए मुँह वाये रह गये।

इनके वाद 'पर-उपदेश-कुशल' कवि कारंडवजी अपनी कविता-कौमुदी की अपूर्व छटा छिटकाने के लिए खडे हुए। आप वहुत देर से व्याकुल वैल की तरह रस्सा तुड़ा रहे थे। आज्ञा किसी अन्य कवि को दी जाती थी, उठ आप खडे होते थे। खैर, अब की वार राम-राम करके आपका अवसर आ ही गया। कारडवजी ने करताल कर में लेकर मूँछें मरोडते, आँखे सिकोडते और तान तोडते हुए साफे को सँभाल-सँभालकर, ऊँची आवाज से, नीचे लिखी कविता 'कथ' कर सुनाई—

धरम के कारणे जी, भाइयो! तन-मन-धन सव दे दो।
रच्छा करो धरम की धुनते, धरम वड़ी है भाई;
धरम के कारण धरमदत्त ने देखो जान गवाई।
धरम के कारणे जी, धरम के०।
धरम-धरम की धूम मचाओ, धरम-धुजा फहराओ;
धरम ओढ कै, धरम विछा कै धर्मी सव वन जाओ।
धरम के कारणे जी, धरम के०।

कवि कारंडवजी अपनी पूरी भाव-भरित कविता की दो-तीन कड़ियाँ ही पढ़ने पाये थे कि लोग सिर से साफा बाँध, मोटा सोटा ले, गले मे गुलू-वन्द लपेटकर 'धर्म' पर वलिदान होने को आ खडे हुए! 'जीवन-दान, जीवन-दान' की आवाज आने लगी; 'धन्य-धन्य' की धूम मच गई। सभापतिजी ने कारंडवजी की चोच चूमकर स्पष्ट शब्दो में कहा—"भाई, वस इस आधुनिक युग मे आप ही एक 'कामयाव कवि' है। विराजिए, इस समय शीघ्रता है। आपकी पद्य-पढ़त के लिए तो पूरे पाँच घंटे दिये जायँ, तव कही श्रोतृ-समुदाय की तृप्ति हो। आपकी कविता क्या है—'फायर-ब्रिगेड' का इजिन है। धर्म के, जिस पर जगत् स्थिर है, आप जसे परम प्रवीण प्रचारक धन्य है।

इतने कविप्रो की कविताएँ सुनी जाने के बाद 'टका-पथ-प्रवर्त्तक कविवर कुक्कुटराजजी काव्य-कानन में कूदे। आपके 'कुकड़ू कँ' करते ही जनता ने हर्ष-ध्वनि की, उत्सुकता के साथ उनकी ओर देखने लगी। कुक्कुटकविजो 'वहरए-तवील' मे बुलंद बाँग देते हुए बोले--

वोट दे दो रे भाई! भिखारीमल को।
लोगो की बातो में हरगिज न जाओ,
खद्दर न पहनो, न जेलो मे जाओ;
है चुंगी-चुनाव चलो कल को
वोट दे दो रे भाई! भिखारीमल को।
बढ-बढ के लाला ने दावत खिलाई,
कोठी हवेली दुकाने बनाई,
सीधे है जाने न छल-बल को,
वोट दे दो रे भाई! भिखारीमल को।

अहा! कुक्कुट कवि की इस परोपकार-वृत्ति पर सब कवियो ने साधुवाद की सिल सरकानी शुरू की। धन्य है, ऐसे अशरण-शरण-कविराज! देखिए न सेठजी के लिए अपने दराज दिल-दालान मे कैसे-कैसे प्रेम के पीपे भरे पड़े है। वाह! वाह!! खूब!!!

इसके अनंतर सभापतिजी ने कथा-गायक कविरत्न क्रौंचजी से कविता सुनाने को कहा। परन्तु वह बोले---"जब तक मेरे लिए आनंदपूर्वक आसीन होने को विशुद्ध व्यास-गद्दी न दी जायगी, तब तक मै अपनी कथा कदापि नही सुना सकता। हाँ, हारमोनियम और तबले की भी व्यवस्था करनी होगी।" सभापतिजी ने बात की बात मे सब समुचित प्रबंध कर दिया। तब कविजी ने ऊँची आवाज से नीचे लिखी कविता गाकर सुनाई---

तब बोले साधु सुबुध,
सुनो, सभी धर ध्यान,
कथा आज का विषय है
अध्यातम ज्ञान।

संसार दुखो का सागर है,
आओ, मिल-जुल सव स्वर्ग चलें,
सानंद रहे, नंदन-वन मे,
लख-लख हमको सव हाथ मले।
हम धर्म-ध्वजा की धज्जी है,
उपकार 'कार' के टायर है;
कविता-कुरसी के पाये है,
सारगी के सव वायर है।
सव उठो, वॉध लो वस विस्तर
उस अमर पुरी के जाने को,
केशव, तुलसी और सूर जहाँ
आवेगे हाथ मिलाने को।

क्रौच कवि की कविता सुनकर लोग मारे क्रोध के काँपने लगे। "आया कही का कठमुल्ला।" हमे स्वर्ग ले जाना चाहता है! अरे, पहले इस दुनिया का आया-गया तो देख ले; यहाँ तो विजय का वैड वजा दे, तव कही स्वर्ग-नरक का नंवर आवेगा। धिक्कार! धिक्कार!! ऐसी कातिल कविताओ की जरूरत नही। सभापतिजी, वंद कीजिए! वैराग्य के विषैले विषधर विल में ही विलविलाने दीजिए।"

वूढे सभापतिजी को 'क्रौंच' कवि की कविता में वड़ा आनद आया। आपने वार-वार गर्दन हिलाई, तथा चोंच चलाई। परन्तु जनता के वैराग्य-विरोधी होने के कारण क्रौचजी को मुख मढी पर, मजवूरन; '१४४' लिवर का ताला ठोक देना पडा।

इस समय सभापतिजी ने कहा—"महाशयो! विलम्व अधिक हो गया है, इसलिए केवल कविवर कोकिल कुमार और श्रीयुत कुल्लूक जी को अपनी-अपनी कविताएँ सुनाने का और अवसर दिया जायगा। वस, फिर पदक-पुरस्कार की सूचना देकर सम्मेलन समाप्त हो जायगा। अव 'प्रतिविंव-पंथी' कवि कोकिल-कुमारजी अपनी कविता सुनावे।"

श्री कोकिल-कुमारजी ने 'अप-टु-डेट' फैशन-फबीली फसाहत में फँसकर नीचे लिखी अलौकिक कविता पढ़ी—

विरत वाद्य मृदु मंद, अचलता के दृगता अंचल मे,
गुनमित नत विस्मृत तरुणी के अनुनय अन्तस्तल मे—
अभिधा की अनंत आभा मे सुविधा के साधन मे
विभावरी अनुचरी अनिल-मा के उदोत आनन मे।

अहा! कोयल कुमारजी ने अपने काव्य-कल्प-तरु की छवीली छाया में सारे सभ्य समाज को सुख पहुँचाया, अपनी निगूढतम रुचिर रचना को गुना-गुना कर सबको 'अज्ञेयवाद'-वारिधि मे बुडकी लगाने का आनद प्राप्त कराया। आपकी दार्शनिकता देखकर समस्त सभासद दंग रह गये। कवि लोग अपनी अड़ियल अक्ल को धिक्कारते हुए कुमारजी की पुनीत पक्तियो की प्रशंसा करने लगे।

इसी समय कवि-सम्मेलन मे ऐसा धूम-धड़ाका हुआ, ऐसा शोर-गनाका मचा कि अपने राम की निद्रा टूट गई। सारा स्वप्नमय साहित्य-ससार नष्ट हो गया। अदृश्य संसार के छायावाद के बदले दृश्यमान जगत् का जड़वाद दिखाई देने लगा। कवि कारडवो की कल्पना-कुरंगी कुलाँचो के स्थान पर दुरंगी दुनिया सामने आ गई।

सियारामशरण गुप्त

शुष्को वृक्षः

खेत की मेड पर बबूल का एक वृक्ष है। सूखा हुआ है। कही न कही इसमे जीवनरस अब भी प्रवाहित है। पर कहाँ, किस जगह है इसका वह जीवनरस, यह इन आँखो मे नही देखा जा सकता। छाल इसकी स्निग्ध-सचिक्कण नही है। बहुत पहले से नही है। वह जगह-जगह उखडी हुई है। उसे मानो इस बात को किसी तर्क से प्रमाणित करने की आवश्यकता नही कि वह इन अनगिनती काँटो की ही सहोदरा है, अग्रजा है। सूक्ष्म न हो सकने पर भी अपनी स्थूलता मे ही उसने इनके साथ अपनी एकरक्तता प्रकट कर रक्खी है। दूर से इसकी ओर देखने से ही आँखो मे जैसे कुछ चुभता है।

पर आज इसके पास होकर जैसे ही मै निकला, वैसे ही न जाने क्यो इसने मुझे अपनी ओर आकर्षित कर लिया है। मेरे मुँह से अनजान में ही यह प्रसिद्ध वाक्य निकल पडा है—"शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे"। रसिक समालोचक मेरी इस रसहीनता पर हँसे बिना न रहेगे। यह इसलिए कि कोमल कान्त पदावली में मै "नीरसतरुरिह विलसति पुरत." नही कह सका। फिर भी सत्य को छिपा न सकूँगा। उस कठोर वाक्य की आवृत्ति करता हुआ ही आज मैने यह वृक्ष देखा, एकटक बड़ी देर तक चुपचाप खड़े होकर देखा।

खडे-खड़े सहसा उस आख्यायिका की याद मुझे आ गई है। बहुत छुटपन में सस्कृत के किसी विद्वान् से सुनी थी। कादम्बरीकार कवि बाण भट्ट के विषय की बात है। कवि की अमर कृति कादम्बरी अधूरी ही थी और उनकी जीवनलीला समाप्त होने पर आ गई। वे मरणशय्या पर थे; जिस बीमारी ने उन्हे वहाँ लिटाया था, वह अपना काम कर

चुकी थी। अब इसलिए वहाँ उसकी उपस्थिति आवश्यक न थी और वह वहाँ से खिसकने की तैयारी मे थी। कवि के देह का उत्ताप दूर हो चुका था, अंगों की पीडा शान्त थी। यह सब कुछ था, फिर भी कवि की मनोवेदना ऐसी थी कि जिसका कुछ पार नही। तो क्या मृत्यु को सामने देखकर कवि का हृदय भयभीत था, अथवा उसके मन में संसार के प्रति मोह उत्पन्न हो गया था, जो इतर प्रणियो मे ही देखा जाता है? यह बात नही है। जिसकी रसना ने वाग्देवी की वीणा का अमृत जी भर कर पान किया था, अकेले अकेले अपने आप ही नही किया था, वरन् दूसरो को भी उन्मुक्त होकर कराया था, उसे मरण का कैसा भय और कैसी चिन्ता? कवि अच्छी तरह जानता था कि वह जीवन के इने गिने कुछ ही बरसो के लिए इस संसार मे नही आया है। उसका देह ही छूट सकता है, पर वास्तव मे वह जो कुछ है, वह नष्ट न होगा; चिरकाल तक न होगा। पृथ्वी पर धूलि के नये-नये पर्त चढाती हुई एक के बाद दूसरी सदियाँ आती है और आती रहेगी, पर उसके साहित्य का कनक-पद्म सूखे में भी जलाशय की भाँति, सबके ऊपर ही दिखाई देगा। पुरातत्त्ववेत्ताओं को उसके लिए नीचे की भूमि न खोदनी पडेगी। वह चिर नवीन जो है, चिरन्तन जो है। फिर भी कवि वेदना से आतुर था। इस बात का विचार उसे अशान्त कर रहा था कि वह अपना कार्य पूरा नही कर पाया है। वह आया था इस लोक के गद्यात्मक ऊसर मे कवित्व की मधुरिमा खिलाने के लिए। उसके लिए हाथ मे नन्दन कानन के वश की कादम्वरी-वीणा थी। उसके ऊपर उसने जिस अलौकिक आलाप का आरम्भ किया था, वह अभी तक असमाप्त था और वह अमर गायक आज इसी समय जानेवाला है। उसके इस व्रत का उद्यापन कौन करेगा? क्या उसकी कृति इसी तरह अधूरी पड़ी रहेगी?

कवि अशान्त था। किसी उपचार से उसकी वेदना का शमन नही किया जा सका। तब ज्येष्ठ पुत्र ने हाथ जोडकर कहा—आज्ञा कीजिए, किस उपाय से आर्य की पीड़ा शान्त होगी।

कनिष्ठ पुत्र ने भी उसी तरह कहा—आर्य की आज्ञा का पालन प्राण देकर भी किया जायगा। अव यह कष्ट और नही देखा जाता।

प्राण दे डालना सरल है। यदि प्राण दे डालने से ही संसार का काम वन सके तो यहाँ कठिनाई कही रहती ही नही। कवि समाश्वस्त न हो सका। उसे विश्वास न था कि उसके पुत्र उसका कार्य सम्पन्न कर सकेगे। पुत्र कितने ही वडे क्यो न हो जायँ। पिता के निकट वे वच्चे ही रहते है। और सूक्ष्मदर्शी और मनीपी कवि की दृष्टि इस समय पिता की ही थी।

पर यह समय वहुत सोच-विचार के उपयुक्त न था। अपना वात्सल्य-जनित अविश्वास कवि को दवा देना पडा। सम्भव है, उस समय कवि को इस तरह का मोह हो गया हो कि अपनी कृति का उत्तराधिकार पुत्र को ही होना चाहिए। पुत्र ने उसका कार्य पूरा किया तो उसका यश उसी का रहेगा, और कोई उसे न छीन लेगा।

कवि ने कहा—कौन तुममे से कादम्वरी पूरी करेगा? इस समय मेरी वेदना का कारण यही है। यदि मेरी कृति पूर्ण न हुई, तो उस लोक मे मुझे शान्ति न मिलेगी।

दोनो पुत्रो ने कहा—आज्ञा कीजिए, आर्य के आशीर्वाद से हममे कोई भी यह कार्य करने के लिए प्रस्तुत है। आर्य इस समय चिन्तित न हो।

कवि के सामने एक समस्या-सी आ खडी हुई। लिखने के लिए मानो दो सुन्दर भाव एक साथ मन मे उदित हुए हो। अव उनमे से किसे तो स्वीकार किया जाय और किसे नही। निर्णय कुछ सरल न था।

कवि ने सहसा झरोखे के वाहर दृष्टि डालते हुए क्षीण स्वर मे पूछा—वह क्या है? कहो।

यहाँ कुछ दूर पर एक सूखा वृक्ष खड़ा था। कवि की तत्कालीन अवस्था का प्रतिरूप! ज्येष्ठ तनय ने उसे देखकर कहा—शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे।

आह यह वाणी कितनी कर्कश है! कवि ने निराश होकर कनिष्ठ की ओर देखा। उसने कहा—नीरसतरुरिह विलसति पुरतः।

कवि के मुख पर प्रसन्नता की रेखा दिखाई दी। आह इसकी वाणी कितनी ललित है! इस अवस्था में भी इसने अपने शैशव के माधुर्य को सूख नहीं जाने दिया। यह कनिष्ठ भी तो है। कवि ने तुरन्त उसे आज्ञा दी—तुम्ही मेरी कादम्बरी पूर्ण करोगे।

और इस आदेश की पूर्त्ति यथासमय कवि के कनिष्ठ पुत्र ने जिस प्रकार अपना नाम अप्रकट रखकर की, उसके लिए सारे साहित्य-रसिक चिरकाल तक उसके अनुगृहीत रहेगे।

इस सूखे पेड को देखकर आज इसी कथा की याद मुझे आ गई है। पण्डित-मण्डली मे पीढी दर पीढी से इसका प्रचार है। न जाने कब से कितने सुन्दर सायंकाल इस कथा के संयोग से श्रोता-जनो के बीच मे और भी मधुर हुए है! इसके सहारे न जाने कब से कितने आनन्द की वर्षा वाण के कनिष्ठ-तनय पर हुई है और न जाने कितनी वितृष्णा उनके ज्येष्ठ तनय को सहनी पडी है। इसका कुछ हिसाब नही। सुननेवालो ने इस कथा से केवल मनोरंजन ही नही किया, किन्तु उनके ज्ञान की वृद्धि भी इससे हुई है। एक ही बात एक तरह से कही जाने पर अत्यन्त कर्कश जान पड़ती है और दूसरी तरह वही अत्यन्त मधुर, अत्यन्त ललित हो उठती है। एक के हाथ मे खान की सोने की मिट्टी ही पडी, किन्तु दूसरे ने उस मिट्टी को सुवर्ण ही नही बना दिया, वरन् शोभन कण्ठहार का रूप दे दिया है। कवि की परख ऐसे ही अवसर पर होती है। वह कृती कलाकार धन्य है, जिसके कण्ठ से वैसी पदावली बिना किसी प्रयास के निकल पड़ी। "नीरसतरुरिह विलसति पुरतः"—क्या कहना है इसकी कोमलता का।

पर आज इस बबूल के वृक्ष को इस खेत की मेड़ पर देखकर मेरे मुंह से "शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्त्यग्रे" ही निकल रहा है। मन एक साथ विद्रोह करने पर तुल गया है। कण्ठ से किसी तरह कोमल पदावली निकलती नही है। बाण भट्ट जैसे महाकवि का निर्णय इन पंक्तियों के लेखक के विरुद्ध पडेगा। वह जानता है कि रसिक मण्डली की किसी अधूरी कादम्बरी

की पूर्ति करने के उत्तराधिकार से वह सदा के लिए वचित कर दिया जायगा। फिर भी उसके कण्ठ से 'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः' किसी भाँति नही निकलना चाहता है। यह अस्वीकार करने का उपाय नहीं है कि इस पद मे माधुर्य है, सरसता है, स्वर, ताल और सगीत है। यह इसमे सब कुछ है और यही वह कारण है जिससे मेरे मुँह से यह वाक्य इस समय नही निकल रहा है। सामने एक सूखा वृक्ष दिखाई दे रहा है। वृक्ष नही, यह वृक्ष का शव है। त्वचा तक इसकी सूखकर हड्डियो जैसी कठोर हो गई है। इसे देखकर किस तरह मै तान अलापने लगूँ? आज के सिनेमा मे, थियेटर मे, ऐसा दिखाई देता है। वहाँ ऐसा दिखाई देता है, इसलिए मै भी वैसा ही करूँ, यह कोई अच्छी दलील नहीं।

कवि ने अपने पुत्रो की जो परीक्षा ली, उसका अधिकार उन्हे न था, यह कौन कहेगा? वह उन्हे था। उन्होने जो कुछ किया वह एक पारिवारिक वात थी। उसके वीच मे पडने का हमारा प्रयोजन नही है। पर इस घटना के वाद शताब्दियो से हमारे पण्डित समालोचक जो करते रहे है, उसमें अवश्य ही आपत्ति उठाई जा सकती है। उन्होने मानो स्वयं अपने को ही कवि समझकर उन दोनो वन्धुओ की निर्मम परीक्षा ली है, वार वार ली है। वाण भट्ट ने तो एक ही वार थोड़े में अपनी वात समाप्त कर दी होगी। उस समय उनके पास सम्मेलनो में कविता सुननेवालो की तरह 'आह-आह वाह-वाह!' करने का समय ही कव था। पर हमारे इन वने हुए वाण भट्टो को सक्षेप में वात करने की जल्दी कहाँ है। उन्होने वार वार विस्तार के साथ ज्येष्ठ वन्धु की जो निन्दा की है, उसे वार वार पिता के श्रेष्ठ उत्तराधिकार से जो वचित किया है, उसमे न तो न्याय-विचार है और न सहानुभूति ही। कोमल पदावली के रसिक होते हुए भी उनमे यह कठोरता कहाँ से आ गई, यह सोचने की और समझने की वात है।

कनिष्ठ के सौभाग्य के प्रति हमे ईर्ष्या नही है। उसके लिए उसे वधाई भी दी जा सकती है। फिर भी यह कहने मे कोई हिचकिचाहट

नही होती कि ज्येष्ठ के प्रति कठोर अन्याय किया गया है। कवि यदि आसन्न मरणावस्था मे न होते तो उसके इस रूखे सूखे कर्कश वाक्य के लिए वे स्वयं उसका अभिनन्दन करते। कवि होने के कारण वे जानते थे कि प्रमोदन का वर्णन करने के लिए किस रचना रीति की आवश्यकता होती है और युद्ध भूमि की कर्कशता के लिए किसकी। हाँ, यह दूसरी बात है कि किसी दूसरे कारण से कादम्बरी की पूर्ति का भार ज्येष्ठ को न सौपा जाता।

कोमलता अच्छी वस्तु है। आसानी से उसकी ओर हृदय खिच जाता है। यह कोई न चाहेगा कि किसी हरी-भरी लता की छाया में रहना छोडकर इस सूखे वृक्ष का आश्रय ले। लतामण्डल मे जो शीतलता मिल सकती है, वह इसमे कहाँ है? फिर भी दीख यह पडता है कि खुली धूप मे खेत का काम करनेवाले अपना पसीना सुखाने के लिए यही आते हैं। पास मे थोडी दूर पर वह जो उपवन है, उसकी ओर उनका ध्यान तक नही जाता। कर्त्तव्य का आग्रह उनके मन मे इतना तीव्र है कि इस वृक्ष की नाममात्र की छाया से ही उनकी शीतलता की प्यास मिट जाती है। उनकी शीतलता का सच्चा आश्रय उस उपवन मे नही, इस खेत के इन नन्हे-नन्हे पौधो में है, जो यहाँ हिल-डुलकर मन्द पवन के साथ क्रीडा कर रहे है। इन्हे अपनी आँखो की ओट मे वन्य पशुओ के लिए छोडकर वे यदि उस उपवन में चले जायँ तो दूसरा कोई तो क्या, वे स्वय ही अपने आपको क्षमा न कर सकेंगे। कर्तव्य के पिता का आदेश यही रहने के लिए उन्हे है। आश्चर्य का विषय यह है कि जो बात इन लोगो की समझ मे भी आती है, वह हमारे समालोचको की समझ मे नही आई। वे वास्तव के कठोर की उपेक्षा करके कोमलता के उपवन मे विचरण करने चले गये है। इस "शुष्को वृक्षः" में भी जो आनन्द है, उसकी ओर उसकी दृष्टि नही गई।

कवि-पुत्रो का वह आख्यान अब केवल उन्ही की बात नही है। वह हमारी रसज्ञता की कसौटी बन गई है। घर की सीमा को लाँघकर

अव उसने साहित्य के, समाज के आँगन में प्रवेश कर लिया है। निजी वात कहकर उसे टाला नही जा सकता। प्रतीत होता है, मानो हम सभी साहित्य रसिक वही कवि-पुत्र है। आज हमारी परीक्षा का समय है। कठोर और कोमल दो में से किसी एक को हमें चुन लेना है। इधर एक की कठोरता कम नही और दूसरे की कोमलता का प्रलोभन भी वहुत वडा है। साहित्य के मुमूर्षु पिता ने हमे संकेत किया है—देखो सामने का वह सूखा वृक्ष, तुम्हे मुझ-जैसे इस मरते हुए को जीवित करना है, इसमे प्राण का सचार करना है। क्या हम अपना यह कर्त्तव्य सँभाल सकेगे? कला के नीर से सीचकर इसे अमरत्व देना असम्भव नही है। अव भी यह जिलाया जा सकता है। हो सकता है कि ऐसा करने जाकर हम निर्देश कर्त्ता के ही विराग-भाजन वन जायँ। ऐसी आशंका है, तभी तो इस कर्त्तव्य का गुरुत्व और अधिक है। तभी परम गहन है इसका यह कठोर मार्ग। इसलिए भय यही है कि हम कोमल के ही उपवन में जाकर कही भटक जायँगे, इस सूखे वृक्ष को भुलाकर हम किसी रसीली लता को ही सीचने लगेगे। कनिष्ठ वन्धु को इसका जो पुरस्कार मिला है, जो पुरस्कार मिलता रहा है, उसके उदाहरण से इसी की सम्भावना अधिक है।

नही, यह ठीक न होगा। इस सूखे वृक्ष को यहाँ प्रत्यक्ष देखकर ज्येष्ठ वन्धु के कठोर वाक्य का रस मुझे मिल गया है। रस कठोर में भी होता है। सव कोमल पदार्थ सुस्वादु नही होते। इसी से "शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्त्यग्रे" में जो वात है, वह "नीरसतरुरिह" आदि मे नही। इसमे विलास की गन्ध है। इस वृक्ष के लिए "विलसति पुरतः" कहना इसका उपहास है। उपहास भी नीरसता से भरा हुआ सीधा-सपाट चला गया है, प्राण के उच्छ्वास से तरगायित नही हो सका। जान पड़ता है, कनिष्ठ के ऊपर जैसे पिता की आसन्न यात्रा का भार भी उस समय नही था। पितृहीन होने पर भी उसके ऊपर ज्येष्ठ की छत्र-छाया जो थी। उसका यह सौभाग्य अभिनन्दन के योग्य है, चाहने के योग्य है। पर उसके ऊपर कोई भार नही था, कोई दायित्व उसे भीतर से प्रेरित नही कर रहा था, इसी से

उसके वाक्य मे प्राण नही आ सका। उसने पिता के बताये हुए उस सूखे वृक्ष को जैसे देखा ही न हो। उस समय वह, जान पड़ता है, कल्पना लोक की किसी ललित-लता के सरस निकुंज मे जा बैठा था। और वही से जैसे किसी तरह उसने पिता की आज्ञा का पालन कर दिया हो। इसी से उसकी वात में वास्तविकता नही आ सकी। जब तक कही कोई भार न हो, दायित्व न हो, तब तक साहित्य का उद्रेक नही होता। बीज को मिट्टी के नीचे दबना पडता है, अंगो को गला देनेवाली पीडा वहन करनी पडती है। इसके बिना उसमे से किसी माधवीलता का उद्गम भी नही होने पाता।

ज्येष्ठ बन्धु ने उस सूखे वृक्ष को देखा था, उसकी शुष्कता का अपने हृदय मे अनुभव किया था। कल्पना-लोक मे जाकर वह भटका न था, इसी से इतने थोड़े शब्दों में उस वृक्ष का ऐसा विशद चित्र उससे बन पड़ा है। "शुष्को वृक्ष." कहते ही आँखों के आगे नीचे से ऊपर उठता हुआ एक ऐसा वृक्ष दिखाई देने लगता है, जिसमे अब कोई गाँठ-सी पडनेवाली हो। कण्ठ को यहाँ जो झोक सँभालनी पडती है, वह इस वृक्ष की ही है। इसके बाद "तिष्ठति" तक फिर उसके तने को ऊपर उठने का मौका मिलता है। वहाँ से "त्" के द्वित्व की ठोकर खाकर टेढा-मेढा होता हुआ वह फिर ऊपर की ओर बढ जाता है। वाक्य का उच्चारण करते-करते मानस-पट पर अलक्षित रंगो मे सूखे वृक्ष का एक ऐसा चित्र अंकित होता है, जिसे एक बार अन्तर्दृष्टि से देख लेने पर भुलाया नही जा सकता।

भाषा इसकी ऊबड़-खाबड़ है। वह उचित ही है। अर्थ न समझने-वाले को भी वह शुष्कता का बोध कर देगी। उसके कारण वर्णित चित्र ऐसा हो गया है कि नीचे लिखा हुआ परिचयात्मक गद्य पढ़ना आवश्यक नही रहता, चित्र का आशय अपने आप सुस्पष्ट हो जाता है।

कादम्बरी एक से एक सुन्दर चित्रो की मनोरम चित्रशाला है। उसमे कहाँ-कहाँ इतने थोडे मे ऐसे ही अन्य जीवन्त चित्र है, यह बात पण्डितजन ही बता सकेगे। मै तो इस सूखे वृक्ष के नीचे खड़ा होकर उस अनादृत

और लाञ्छित चितेरे कवि के चरणो में अपना नम्र प्रणाम ही निवेदित कर रहा हूँ। उसकी किसी दूसरी अकनचातुरी का फल हमारे साहित्य को प्राप्त नही, यह हमारा दुर्भाग्य है। अपनी इस छोटी और आकस्मिक कृति मे ही सूखे वृक्ष को उसने जो चिरजीवन और सजीवता दे रक्खी है, उसी के लिए हम उसके चिरऋणी रहेगे।



महादेवी वर्मा

बदलू

बदलू अपने बेडौल घडो का निर्विकार निर्माता भी था और अष्टावक्र जैसी रूपरेखावाले बच्चो का निश्चिन्त विधाता भी। न कभी निर्जीव मिट्टी की सजीव विषमता ही उसका ध्यान आकर्षित कर सकी और न सजीव रक्त-मास की निर्जीव कुरूपता ही उसका समाधि भंग करने का सामर्थ्य पा सकी।

मैंने उसे सदा एक ओर कच्चे, पक्के, टूटे, पूरे वर्तनो के ढेर से और दूसरी ओर मैले-कुचेले नंगे, दुवले बच्चो की भीड से घिरा हुआ ही देखा। जैसे मिट्टी के वर्तन कुछ सुखाने, कुछ पकाने और कुछ उठाने-रखने में टूटते रहते थे, उसी प्रकार बच्चे भी कुछ जन्म लेते ही, कुछ घुटनो के बल चलते हुए और कुछ टेढे-मेढे पैरों पर डगमगा कर माता-पिता के काम मे सहायता देते हुए चल बसते थे। पर कभी उनके जन्म या मृत्यु के सम्बन्ध मे बदलू को सुखी या दुखी देखना सम्भव न हो सका। बदलू का चित्र खीच देना किसी भी चित्रकार के लिए सहज नही, क्योकि वह ऐसी परस्पर विरोधी रेखाओ मे बँधा था कि एक को स्पष्ट करने मे दूसरी लुप्त होने लगती थी।

उसकी मुखाकृति साँवली और सौम्य थी, पर पिचके गालो से विद्रोह करके नाक के दोनो ओर उभरी हुई हड्डियाँ उसे ककाल-सहोदर बनाये बिना नही रहती। लंबा इकहरा शरीर भी कभी सुडौल रहा होगा, पर निश्चित आकाशी-वृत्ति के कारण असमय वृद्धावस्था के भार से झुक आया था। उजली छोटी आँखे स्त्री की आँखों के समान सलज्ज थी, पर एकरस उत्साहहीनता से भरी होने के कारण चिकनी काली मिट्टी से गढी मूर्ति मे कौडियो से बनी आँखो का स्मरण दिलाती रहती

थी। काँपते ओठों मे से निकलती हुई गले की खरखराहट सुननेवाले को वैसे ही चौंका देती थी जैसे बाँसुरी मे से निकलता हुआ शंख का स्वर।

बदलू एक तो स्वभाव से ही मितभाषी था, दूसरे मेरे नागरिक की श्रवण-शक्ति की सीमा से अनभिज्ञ; अत. उससे कुछ कहने-सुनने के अवसर कम ही आ सके।

जब कभी जाते-जाते मै, उसके घूमते हुए चाक पर स्थिर-सी उँगलियो का निर्माण-क्रम देखने के लिए रुक जाती तब वह एकबारगी अस्थिर हो उठता। अपनी घबराहट छिपाने के लिए वह बार-बार खाँस-कर गला साफ करता हुआ खरखराते स्वर मे खेदन, दुखिया, नत्थू आदि को मचिया निकाल लाने के लिए पुकारने लगता। जब एक चलती जैसी झरझरी और साढे तीन पायो पर प्रतिष्ठित मचिया का अँधेरी कोठरी से उद्धार करने के लिए वे बच्चे प्रतियोगिता आरम्भ कर देते तब मै वहाँ से बिदा हो जाने ही मे भलाई समझती थी। मेरे बैठने से मचिया की कुशल तो संदिग्ध हो ही जाती थी, साथ ही मटके-मटकियो का भविष्य भी खतरे मे पड सकता था।

वदलू का घर मेरे आने जाने के रास्ते मे पडता था, अतः या तो मुझे लौटनें की जल्दी रहती थी या पहुँचने की। ऐसा अवकाश निकालना कठिन था जिसे वहाँ बिता देने से दूसरो के काम मे व्याघात न पडता हो।

हाँ, जिस दिन रधिया अपने द्वार पर मिट्टी छानती या घर का कोई और काम करते मिल जाती उस दिन कुछ देर रुकना आवश्यक ही नही अनिवार्य हो उठता। उसे कभी बरसती आँखो और कभी हँसते ओठो से, अपने एकरस जीवन की गाथा सुनाना अच्छा लगता था। उसकी आँखें, उसके ओठ, उसके हाथ-पैर सब मानो अपनी-अपनी कथा सुनाने को आतुर थे, इसी से शब्दो मे उसे थोड़ा ही कहना पड़ता था पर वह थोड़ा इतना मार्मिक रहता कि सुननेवाला शीघ्र ही अपने आपको प्रकृतिस्थ नही कर पाता। किसी करुण रागिनी के समान उसकी कथा जितना उसके हृदय का मन्थन करती उतना ही दूसरे के हृदय का, अतः

अनेक बार उस कुम्हार-वधू से अपने आवेग को छिपा लेना मेरे लिए भी कठिन हो जाता था।

रधिया को मूर्त्तिमती दीनता कहना चाहिए। किसी पुरानी धोती की मैली कोर फाडकर कसे हुए रूखे उलझे बाल पर्व-त्योहार पर काली मिट्टी से मैल धो भले ही लिये जायँ पर उन्हे कड़ुये तेल की चिकनाहट से भी अपरिचित रहना पडता था। धोती और उसके किनारे को धूल एकाकार कर देती थी, उस पर उसकी जर्जरता इतनी बढी-चढी थी कि घूंघट खीचने पर किनारी ही उँगलियो के साथ नाक तक खिंची चली आती थी।

दु ख एक प्रकार का शृगार भी वन जाता है, इसी कारण दु खी व्यक्तियो के मुख, देखनेवाले की दृष्टि को बाँधे बिना नही रहते।

रधिया के मुख का आकर्पण भी उसकी व्यथा ही जान पडती थी—वैसे एक-एक करके देखने से, मुख कुछ विशेष चौडा था। नाक आँखो के बीच मे एक तीखी रेखा खीचती हुई ओठ के ऊपर गोल हो गई थी। गहरे काले घेरे से घिरी हुई आँखे ऐसी लगती थी जैसे किसी ने उँगली से दवाकर उन्हे काजल मे गाड दिया हो। ओठो पर पड़ी हुई सिकुड़न ऐसी जान पड़ती थी मानो किसी तिक्त दवा की प्याली के निरन्तर स्पर्श चिह्न हो। इन सब विपमताओ की समष्टि मे जो एक सामंजस्यपूर्ण आकर्पण मिलता था वह अवश्य ही रधिया के दुःख-विगलित हृदय से उत्पन्न हुआ होगा। वह जीवन-रस से जितनी निचुडी हुई थी, दुःख मे उतनी ही भीगकर भारी हो उठी, इसी कारण उसमें न वह शून्यता थी जो दृष्टि को रोक नही पाती और न वह हल्कापन, जो हृदय को स्पर्श करने की शक्ति नही रखता।

घिसकर गोल-से चपटे हो जानेवाले काँसे के कड़े और मैल से रूप-रेखा-हीन लाख की चूडियो के अतिरिक्त और किसी आभूषण से रधिया का परिचय नही, पर वह इस परिचयहीनता पर खिन्न होती नही देखी गई। गठे हुए शरीर और भरे अंगोंवाली वह स्त्री, सन्तान की

अटूट शृंखला और दरिद्रता की अघट छाया के कारण ऐसा ढाँचा-मात्र रह गई थी जिसे चलता-फिरता देखना भी विस्मय का कारण हो सकता था।

इसी वर्ग की स्त्रियों मे जो एक प्रकार की कर्कश प्रगल्भता मिलती है उसका रधिया मे सर्वथा अभाव रहा, सम्भवतः इसी कारण मेरी उदासीनता का कुतूहल मे और कुतूहल का सम्मान में रूपान्तरित होना अनिवार्य्य हो गया। वदलू के प्रति उसका स्नेह गम्भीर और इसी से कोलाहलहीन था। न वह कभी घर की, बच्चो की और स्वयं उसकी चिन्ता करता देखा गया और न रधिया के मुख से उसके गोवरगणेश पति की निन्दा सुनने का किसी को सौभाग्य प्राप्त हो सका। रधिया को विश्वास था कि उसका पति कुम्भकार-शिरोमणि और अच्छा कलावन्त है; केवल लोग उसकी महानता से परिचित नही।

सवेरे उठकर कभी मक्का, कभी जुनरी, कभी वाजरा और कभी जौ, चना पीसकर रधिया जिस कठोर कर्तव्य का आरम्भ करती उसका उपसहार तव होता था जब टिमटिमाते दिये के धुंधले प्रकाश में या फुलझडी के समान पल भर जलकर वुझ जानेवाली सिरकियो के उजाले के सहारे, कुछ उनीदे और कुछ रोते बच्चो में सवेरे की रोटी बँट चुकती।

बच्चे जीवित थे पॉच, पर उनकी सख्या वताते समय रधिया उन्हे भी गिनाये बिना नही रहती जो स्मृतिशेप रह गये थे। मृत तीन बच्चो की चर्चा जीवितो के साथ इस प्रकार घुली-मिली रहती थी कि सुनने-वाला उन्हे जीवित मानने के लिए बाध्य हो जाता। अन्तर केवल इतना ही था कि मृत तो कहानी के नायको के समान केवल कहने-सुनने योग्य वायवी स्थिति मे जीवित थे और जीवित, अपने कलावन्त पिता और मजदूरिन माँ के काम मे सहायता देते-देते मरे जाते थे। मिट्टी खोदने से लेकर हाट मे बर्तन पहुँचाने तक वे अपने दुर्वल नग्न शरीरो का उतना ही उपयोग करते थे जितने से उनके प्राणो को शरीर से

सम्बन्ध-विच्छेद न करने का बहाना मिलता रहे। सबसे छोटा चार-पाँच वर्ष का नत्थू भी जब अपने बढे पेट से दसगुनी बडी मटकी को सर पर लाद कर टेढे-मेढे सूखे पैरों पर अकडता हुआ हटिया जाने का उत्साह दिखाता तब न उसके पुरुपार्थ पर हँसी आती थी न रोना।

वर्तनो के बेचने से पूरा नही पडता, अतः अपने जन्म-जात व्यवसाय से जीविका की समस्या हल न होती देख रधिया आस-पास के खेतो मे काम करने चली जाती थी। कभी-कभी उसके खेत से और बदलू के हाट से लौटने तक छोटे-छोटे जीव बाहर के कच्चे चबूतरे पर या उसके नीचे धूल मे जहाँ-तहाँ लेट कर बेसुध हो जाते। रधिया जब लौटती तव उन्हे भीतर पुरानी मैली धोती के बिछौने पर एक पंक्ति मे सुला देती। उस परिवर्तन-क्रम मे जो जाग उठता था उसे छीके पर धरी हँडिया मे से निकाल कर मोटी रोटी का टुकडा भेट दिया जाता था और जो सोता रहता उसे स्नेह-भरी थपकियो पर ही रात बितानी पड़ती।

बदलू भी उस हँडिया के प्रसाद का अधिकारी था, पर इस सीमित अन्नकोष की अन्नपूर्णा को, कब नीद से अपने एकादशी व्रत का पारायण नही करना पडता यह जान लेना कठिन होगा।

विचित्र ही थे वे दोनो। पति भोजन नही जुटा पाता, वस्त्र का प्रबन्ध नही कर सकता और बच्चो के भविष्य या वर्तमान की चिन्ता नही करता, पर पत्नी को उसके दुर्गुण दुर्गुण ही नही जान पडते, असन्तोष का कोई कारण ही नही मिलता।

रधिया के किसी बच्चे के जन्म के समय कोई कोलाहल नही होता। छोटे लक्खी का जिस रात को जन्म हुआ उसकी सध्या तक मैने रधिया को बडा घडा भरकर लाते देखा। घड़ा रखकर उसने मेरे लिए वही चिरपरिचित साढे तीन पायोवाली मचिया निकाल दी। उस पर बहुत सतर्कता से अपना सन्तुलन करती हुई मै जब बच्चो से इधर-उधर की बाते करने लगी तब रधिया ने अपने धारहीन

हँसिये को चबूतरे के नीचे पडे पत्थर के टुकड़े पर घिस-घिसकर घोना आरम्भ किया। मैंने कुछ हँसी और कुछ विस्मय भरे स्वर में पूछा, "रात में इसका क्या काम है? क्या किसी का गला काटेगी?" उत्तर में रधिया बहुत मलिन-भाव से मुस्करा दी।

दूसरे दिन सोमवती अमावस्या होने के कारण मुझे अवकाश था, इसी से वहाँ पहुँचना सम्भव हो सका। बदलू का चाक सदा के समान उदासीनता मे गतिशील था पर बच्चे घर के द्वार को घेरकर कोलाहल मचा रहे थे। मैंने सकुचाये हुए बदलू की ओर न देखकर दुखिया से उसकी माँ के सम्बन्ध मे प्रश्न किया। वह अपने भाई-बहिनो मे सबसे अधिक बातूनी होने के कारण एक-एक साँस मे अनेक कथायें कह चली। उसके नया भैया हुआ है। माई ने चमारिन काकी को नही बुलाने दिया—एक रुपया माँगती थी। दराती से अपने आप नार काट दिया—उसार के कोने मे गडा है। भइया टिटहरी की तरह पाँव सिकोड़े, आँखे मूँदे पड़ा है। बप्पा ने माई को बाजरे की रोटी दी है, इत्यादि महत्त्वपूर्ण समाचार मुझे कुछ क्षणो मे ही मिल गये। तब भीतर झाँककर देखने का निष्फल प्रयत्न किया, क्योंकि मलिन वस्त्रो मे लिपटी श्यामागिनी रधिया तो मिट्टी की धूमिल दीवारो से अन्धकार मे घुलमिल-सी गई थी। अपने भावी कुम्भकार को निकट आकर देखने का आमन्त्रण पाकर मैंने भीतर पाँव रखा।

कोठरी में व्याप्त धुएँ और तम्बाकू की गन्ध हर साँस को एक विचित्र रूप से बोझिल किये दे रही थी। पिंडोर से पुती पर दीमको से चेंचकरू दीवारें, खड़े-खड़े भारी छप्पर सँभालने मे असमर्थ होकर मानो अब बैठकर थकावट दूर कर लेना चाहती थी। चूल्हे के निकटवर्ती कोने मे नाज रखने की मटमैली और काली मटकियो के साथ चमकते हुए लोटा-थाली आदि, जेल की कठिन प्राचीर के भीतर एकत्र बिना क्लास और ए क्लास के बन्दी हो रहे थे। घर के बीच मे गृहस्वामी के लिए पड़ी हुई झूले जैसी खटिया की लम्बाई सोनेवाले के पैरो

को स्थान देना अस्वीकार कर रही थी। दीवार में बने गड्ढे-जैसे आले में न जाने कब से उपेक्षित पड़ा हुआ धूल-धूसरित दिया मानो अपने नाम की लज्जा रखने के लिए ही एक इंच भर बत्ती और दो बूंद तेल बचाये हुए था।

ऐसे ही घर के पश्चिमवाले खाली कोने मे रधिया अपने नवजात शिशु का, जीवन के साथ-साथ दरिद्रता से परिचय करा रही थी। आँखें मूंदे हुए वह ऐसा लगता था मानो किसी बड़े पक्षी के अंडे से तुरन्त निकला हुआ बिना परो का बच्चा हो। नाल जहाँ से काटा गया था वहाँ कुछ सूजन भी आ गई थी और रक्त भी जम गया था।

मालूम हुआ चमारिन एक रुपये से कम में राजी नही हुई, इसी से फिजूलखर्ची उचित न समझकर उसने स्वयं सब ठीक कर लिया।

पीडा के मारे उठा ही नही जाता था—लेटे-लेटे दराती से नाल काटना पडा इसी से ठीक से नही कट सका पर चिन्ता की बात नही है क्योकि तेल लगा देने से दो-चार दिन मे सूख जायगा। मैंने आश्चर्य से उस विचित्र माता के मलिन मुख की प्रशान्त और सौम्य मुद्रा को देखा।

उसके लिए मै अभी हरीरा, दूध आदि का प्रबन्ध करने जा रही हूँ, सुनकर वह और भी करुण-भाव से मुस्कराने लगी। जो कहा उसका अर्थ था कि मै कहाँ तक ऐसा प्रबन्ध करती रहूँगी; यह तो उसके जीवन भर लगा रहेगा।

चाक के पास निर्विकार-भाव से बैठे हुए बदलू को पुकारकर जब मैंने बनिये के यहाँ से गुड़, सोंठ, घी आदि लाने का आदेश दिया तो वह मानो आकाश से नीचे गिर पड़ा। उसकी दुखिया की माई तो कहती थी कि गुड़ देखकर उबकाई आती है, घी खाने से उसके पेट में शूल उठता है—इसी से तो वह बाजरे की रोटी देकर निश्चिन्त हो जाता है।

वदलू के सरल मुख को देखकर जव मैंने अपने मिथ्यावाद के भार से सिकुडी-सी रधिया पर दृष्टि डाली तव उस दम्पति से कुछ और पूछने की आवश्यकता नही रही। वदलू जिस वस्तु का प्रवन्ध नही कर सकता वह रधिया के लिए हानिकारक हो उठती है यह समझते देर नही लगी। पर अपनें इस दिव्य ज्ञान को छिपाकर मैंने सहज भाव से कहा—जो सब स्त्रियाँ खाती है वह दुखिया की माई को भी खाना पडेगा चाहे उवकाई आवे, चाहे शूल उठे।

उस घर में सन्तान का जन्म जैसा आडम्वरहीन था, मृत्यु भी वसी ही कोलाहलहीन आती थी।

मुलिया तेज वुखार मे इधर-उधर घूमती ही रही। जव चेचक के दाने उभर आयें तव भाई नें पकडकर घर के अँधरे कोने में टूटी खटिया पर डाल दिया। लट से घर वुहारना, नीम पर देवी के नाम से जल चढाना आदि जो कर्त्तव्य रधिया के विश्वास और शक्ति के भीतर थे उनके पालन मे कोई त्रुटि नही हुई, पर चौथें दिन उसने परमधाम की राह ली। उस वालिका पर वदलू की विशेष ममता थी, इसी से जव वह उसे यमुना के गम्भीर जल मे विसर्जित कर लौटा तव उसके शान्त मन मे छिपी मर्मव्यथा का अनुमान कर रधिया ने एक सपने की कथा गढ डाली। सपने मे देवी मइया उससे कह रही थी कि इस कन्या को मैंने इतने ही दिन के लिए भेजा था; अव इसे मुझे लौटा दो। वदलू जैसे वुद्धू व्यक्ति का इस सपने से प्रभावित हो जाना अवश्यम्भावी था। जव स्वय देवी मइया उसकी मुलिया को ले जानें को उत्सुक थी, तव कोई दवा न करना अच्छा ही हुआ। दवा-दारू से लडकी तो बच ही नही सकती थी—उस पर देवी मइया का कोप सहना पड़ता। फिर उस लड़की का इससे अच्छा भाग्य क्या हो सकता था कि स्वय माता उसके लिए हाथ पसारे।

एक वार मैंने रधिया को उसके झूठ वोलने के सम्वन्ध मे सार-गर्भित उपदेश दिया पर उसने अपने मैले फटे अचल से आँखे पोछते

हुए जो सफाई दी वह भी कुछ कम सारगर्भित न थी। उसका आदमी बहुत भोला है। उसका हृदय इतना कोमल है कि छोटी-छोटी चोटों से भी धीरज खो बैठता है। घर की दशा ऐसी नही कि उतने जीवों को दोनो समय भोजन भी मिल सके, इसी से वह अपने और बच्चों के छोटे-मोटे दुख को छिपा जाती है। अब भगवान् उसे परलोक मे जो चाहे दण्ड दें, पर किसी का कुछ छीन लेने के लिए वह झूठ नही बोलती।

रधिया का उत्तर ही मेरे लिए एक प्रश्न बन गया। उसके असत्य को असत्य भी कैसे कहा जाय और न कहे तो उसे दूसरा नाम ही क्या दिया जाय!

अनेक बार मैंने बदलू को समझाया कि यदि वह बेडौल मटको के स्थान में सुन्दर नक्काशीदार झझ्झर और सुराहियाँ बनावे तो वे शहर मे भी बिक सकेगे। पर उसने चाक पर दृष्टि जमाकर खरखराते गले से जो उत्तर दिया उसका अर्थ था कि—उसके बाप-दादा, परदादा सब ऐसे ही घडे बनाते रहे है—वह गँवई-गाँव का कुम्हार ठहरा—उसमे शहराती बर्तन न बन सकेंगे। फिर मैंने अधिक कहना-सुनना व्यर्थ समझा।

एक दिन मै, पढनेवाले बच्चो को कुछ पौराणिक कथाएँ समझाने के लिए कई चित्र ले गई। वे कलात्मक तो नही पर बाजार मे बिकने वाली शिव, पार्वती, सरस्वती आदि असफल प्रतिकृतियो से अच्छे कहे जा सकते थे।

बदलू के बच्चो मे दुखिया ही पढने आ सकती थी। सम्भवतः वही अपने बप्पा को यह सूचना दे आई। पर जब अपनी सारी गम्भीरता भूलकर बदलू दौड़ता हुआ वहाँ आ पहुँचा तब मेरे विस्मय की सीमा नही रही। मैंने उसे सब चित्र दिखा दिये और उसका अर्थ भी यथा-सम्भव सरल करके समझा दिया, फिर भी बदलू बच्चो मे बैठा ही रहा। सरस्वती के चित्र पर उसकी टकटकी बँधी देखकर मुझे पूछना ही पड़ा

'क्या इसे तुम अपने पास रखना चाहते हो?' बदलू की दृष्टि मे संकोच था—इतनी सुन्दर तस्वीर कैसे माँगी जाय! उसके मन का भाव समझकर जब मैंने उसे वह चित्र सौंप दिया तब वह बालको के समान आनन्दातिरेक से अस्थिर हो उठा।

कई दिनो के बाद मैंने बदलू के अँधेरे घर के जर्जर द्वार पर उस चित्र को लेई से चिपका हुआ देखा और सत्य कहूँ तो कहना होगा कि मुझे उस चित्र के दुर्भाग्य पर खेद हुआ।

दीवाली के दिन बहुत से मिट्टी के खिलौने खरीदने का मेरा स्वभाव है। वास्तव में वह ऐसा पर्व है जब मिट्टी के शिल्पियो की कारीगरी का अच्छा प्रदर्शन हो जाता है और उस दिन प्रोत्साहन पाकर वे वर्ष भर अपनी कला के विकास की ओर प्रयत्नशील रह सकते हैं। आधुनिक सभ्य युग ने हमारे उत्सवो का उत्साह ही नहीं छीन लिया वरन् इन शिल्पियो का विकास भी रोक दिया है। विचारो मे उलझी हुई मै खिलौने सजाने के लिए जैसे ही बड़े कमरे मे पहुँची वैसे ही बाहर बदलू का खरखराता हुआ कण्ठ सुनाई दिया। वह तो कभी मेरे यहाँ आया ही नही था इसी से आश्चर्य भी हुआ और चिन्ता भी। क्या उसके घर कोई बीमार है या किसी प्रकार की आपत्ति आई है? बरामदे मे आकर देखा—मैले कपडो मे सकुचाया-सा बदलू एक टूटी डलिया लिए खड़ा है।

कुछ आगे बढ़कर जब उसने डलिया सामने रखकर उस पर ढका हुआ फटे कपड़े का टुकड़ा हटा दिया, तब मैं अवाक् हो रही। बदलू एक सरस्वती की मूर्ति लाया था—सफेद और सुनहले रंगो से चित्रित। मूर्ति की प्रशान्त मुद्रा को उसके शुभ्र वस्त्र, सुनहले बाल, सुनहली वीणा और लाल चोच और पैरवाले सफेद हंस ने और भी सौम्य कर दिया था। एक-एक बाल की लट जितनी कला से बनाई गई थी उससे तो बनानेवाला बहुत कुशल शिल्पी जान पड़ा। पूछा, 'किससे बनवा लाये हो इसे'? जो उत्तर मिला उसके लिए मै किसी प्रकार भी प्रस्तुत

नही थी। वदलू ने सलज्ज आँख नीची कर और सूखे वेडौल हाथ फैलाकर वताया कि उसने अपने ही हाथो से वनाई है। विश्वास करना सहज न होने के कारण म कभी मूर्ति और कभी बदलू की ओर देखती रह गई। क्या यह वही कुम्हार हे जिसने एक वर्ष पहिले सुन्दर घडे वनाने मे भी असमर्थता प्रगट की थी? मुख से निकल गया—तुम तो गाँव के गँवार कुम्हार हो, जव नक्काशीदार घडा वनाना असम्भव लगता था तव ऐसी मूर्ति वनाने की कल्पना कैसे कर सके।

धीरे-धीरे सत्य स्पष्ट हुआ। सरस्वती के चित्र को देखते-देखते वदलू के मन मे कलाकार वनने की इच्छा जाग उठी। जहाँ तक सम्भव हो सका उसने सारी शक्ति लगा कर उस चित्रगत सौदर्य को मिट्टी में साकार करने का प्रयत्न किया। कई वार असफल रहा पर निरंतर अभ्यास से आज वह सरस्वती की ऐसी प्रतिमा वना पाया जो मुझे उपहार में देने योग्य हो सकी।

तव से कितनी ही दिवालियाँ आई, वदलू ने कितनी ही सुन्दर-सुन्दर मूर्तियाँ वनाई और उनम से कितनी ही सम्पन्न घरो में अलकार बन कर रही।

सरला रधिया तो मानो अपने पति को कलावंत वनाने के लिए ही जीवित थी। जैसे ही उसके वेडौल मटको का स्थान सुन्दर मूर्त्तियों ने लिया वैसे ही वह अपनी ममता समेटकर किसी अज्ञान लोक की ओर प्रस्थान कर गई।

वदलू तो ऐसा रह गया मानो, चकवा चकवी के जोड़ मे से एक हो। सवेरे से साँझ तक और साँझ से सबेरे तक वह रधिया के लौट आने की प्रतीक्षा करता रहता था। प्रतीक्षा वैसे ही करुण है, पर जब एक जीवित मनुष्य उस मृत की प्रतीक्षा करने वैठता है जो कभी नही लौटेगा, तब वह करुणतम हो उठती है। मिथ्यावादिनी रधिया उस उदासीन ग्रामीण के जीवन मे कौन सा स्थान रिक्त कर गई है, यह

तब ज्ञात हुआ जब उसने घर बसाने की चर्चा चलानेवाले के सर पर एक मटकी दे मारी।

स्त्री मे माँ का रूप ही सत्य, वात्सल्य ही शिव और ममता ही सुन्दर है। जब वह इन विशेषताओ के साथ पुरुष के जीवन मे प्रतिष्ठित होती है तब उसका रिक्त स्थान भर लेना असम्भव नही तो कठिन अवश्य हो जाता है।

अन्त मे तेरह वर्ष की दुखिया ने छोटा-सा अञ्चल फैला कर अपने बप्पा और भाई-बहनो को उसकी छाया मे समेट लिया। रधिया का प्रतिरूप बनकर वह उसी के समान सबकी व्यवस्था मे अपने आपको गला-गलाकर बडा करने लगी है।

दो वर्ष हो चुके जब बदलू की कला पर मुग्ध होकर उसका एक ममेरा भाई उसे बच्चो के साथ फैजाबाद ले गया था; परन्तु दीवाली के दिन वह एक न एक मूर्ति लेकर उपस्थित होना नही भूलता। केवल इसी वर्ष उसके नियम मे व्यतिक्रम हो रहा है, क्योकि दीवाली आकर चली गई पर बदलू अब तक कोई मूर्त्ति नही लाया। कदाचित् वह रधिया की खोज में चल दिया हो। पर मेरे घर के हर कोने मे प्रतिष्ठित बुद्ध, कृष्ण, सरस्वती, बापू आदि की मूर्तियाँ, पुराने चाक पर बेडौल घड़े गढनेवाले ग्रामीण कुम्भकार का स्मरण दिलाकर मानो कहती ही रहती है—कला तुम्हारा ही पैतृक अधिकार नही, कल्पना तुम्हारी ही क्रीतदासी नही।

रामवृक्ष बेनीपुरी

नींव की ईंट

वह जो चमकीली, सुन्दर, सुघर इमारत है; वह किस पर टिकी है? इसके कँगूरो को आप देखा करते है, क्या कभी आपने इसकी नीव की ओर भी ध्यान दिया है?

दुनियाँ चकमक देखती है, ऊपर का आवरण देखती है; आवरण के नीचे जो ठोस सत्य है, उस पर कितने लोगो का ध्यान जाता है?

ठोस 'सत्य' सदा 'शिवम्' होता ही है; किन्तु, वह हमेशा 'सुन्दरम्' भी हो, यह आवश्यक नही।

सत्य कठोर होता है; कठोरता और भद्दापन साथ-साथ जन्मा करते है।

हम कठोरता से भागते है, भद्देपन से मुख मोडते है—इसी लिए, सत्य से भी भागते है।

नही तो, हम इमारत के गीत, नीव के गीत से प्रारम्भ करते।

वह ईंट धन्य है, जो कट-छट कर कँगूरे पर चढती है और बरबस लोक-लोचनों को अपनी ओर आकृष्ट करती है।

किन्तु, धन्य है वह ईंट, जो जमीन के सात हाथ नीचे जाकर गड़ गई और इमारत की पहली ईंट बनी!

क्योकि इसी पहली ईंट पर, उसकी मजबूती और पुख्तेपन पर ही सारी इमारत की अस्ति-नास्ति निर्भर करती है।

इसी ईंट को हिला दीजिये, कँगूरा बेतहाश जमीन पर आ रहेगा।

× × ×

कँगूरे के गीत गानेवाले हम; आइये, अब हम नीव की ईंट के गीत गाये।

वह ईंट जो जमीन में इसलिए गड गई कि दुनियाँ को इमारत मिले, कँगूरा मिले!

वह ईंट जो सब ईंटो से ज्यादा पक्की थी जो ऊपर लगी होती, तो कँगरे की शोभा सौगुनी कर देती!

किन्तु, जिसने देखा, इमारत की पायदारी उसकी नीव पर मुनहसर होती है; इसलिए उसने अपने को नीव में अर्पित किया।

वह ईंट, जिसने अपने को सात हाथ जमीन के अन्दर इसलिए गाड़ दिया कि इमारत जमीन के सौ हाथ ऊपर तक जा सके।

वह ईंट, जिसने अपने लिए अंधकूप इसलिए कबल किया कि ऊपर के उसके साथियों को स्वच्छ हवा मिलती रहे, सुनहली रोशनी मिलती रहे। वह ईंट, जिसने अपना अस्तित्व इसलिए विलीन कर दिया कि संसार एक सुन्दर सृष्टि देखे।

× × ×

सुन्दर सृष्टि! सुन्दर सृष्टि हमेशा ही बलिदान खोजती है, बलिदान ईंट का हो या व्यक्ति का! सुन्दर इमारत बने, इसलिए कुछ पक्की-पक्की लाल ईंटो को चुप-चाप नीव मे जाना है। सुन्दर समाज बने, इसलिए कुछ तपे-तपाये लोगो को मौन-मूक शहादत का लाल सेहरा पहनना है।

शहादत और मौन-मूक! जिस शहादत को शुहरत मिली, जिस बलिदान को प्रसिद्धि प्राप्त हुई, वह इमारत का कँगूरा है—मन्दिर का कलश है।

हाँ, शहादत और मौन-मूक! समाज की आधार-शिला यही होती है।

ईसा की शहादत ने ईसाई-धर्म को अमर बना दिया, आप कह लीजिये! किन्तु, मेरी समझ से ईसाई-धर्म को अमर बनाया उन लोगो ने, जिन्होने उस धर्म के प्रचार मे अपने को अनाम उत्सर्ग कर दिया!

उनमें से कितने जिंदा जलाये गये, कितने शूली पर चढाये गये, कितने वन-वन की खाक छानते जगली जानवरो के शिकार हुए, कितने उससे भी भयानक जन्तु के—भूख-प्यास के—शिकार हुए।

उनके नाम शायद ही कही लिखे गये हों—उनकी चर्चा शायद ही कही होती हो। किन्तु, ईसाई-धर्म उन्ही के पुण्य-प्रताप से फल फूल रहा है।

वे नीव की ईंट थे, गिरजाघर के कलश उन्ही की शहादत से चमकते है!

आज हमारा देश आजाद हुआ सिर्फ उनके बलिदानों के कारण नही, जिन्होने इतिहास मे स्थान पा लिया है!

देश का शायद ही ऐसा कोना हो, जहाँ कुछ ऐसे दधीचि नहीं पाये गये हों, जिनकी हड्डियों के दान ने ही विदेशी वृत्रासुर का नाश किया।

हम जिसे देख नही सके, वह सत्य नहीं है, यह है मूढ धारणा!

ढूंढने से ही सत्य मिलता है। हमारा काम है, धर्म है ऐसी नीव की ईंटों की ओर ध्यान देना।

× × ×

सदियों के बाद नये समाज की सृष्टि की ओर हमने पहला कदम बढ़ाया है!

इस नये समाज के निर्माण के लिए भी हमें नीव की ईंट चाहिए।

अफसोस, कँगूरा बनने के लिए चारो ओर होड़ा-होड़ी मची है, नीव की ईंट वनने की कामना लुप्त हो रही है!

लाखो लाख गाँवो का नव-निर्माण। कोई शासक इसे सम्भव कर नही सकता! जरूरत है ऐसे नौजवानो की, जो इस काम में अपने को चुपचाप खपा दें।

जो एक नई प्रेरणा से अनुप्राणित हो, एक नई चेतना से अभिभूत; जो चुनावो से दूर हों, दलबन्दियों से अलग।

जिनमें कँगूरा वनने की कामना न हो, कलश कहलाने की जिनमें वासना न हो। सभी कामनाओ से दूर—सभी कामनाओं से परे।

उदय के लिए आतुर हमारा समाज चिल्ला रहा है—हमारी नीव की ईंट किधर है?

देश के नौजवानो को यह चुनौती है।

———

श्रीराम शर्मा

यमदूत से साक्षात्कार

राजनीतिक जीवन का तत्त्व है स्वातन्त्र्य-युद्ध में मोरचा लेना। मनुष्यत्व का सार है दुखी और पीड़ितो की निष्काम सेवा करना, और वीरता तथा साहस की कसौटी है औसान रखते हुए आतकमयी परिस्थिति का मुकावला करना। जो स्वतन्त्रता की कोरी वाते करते है और लड़ाई से दूर भागते है; जो अपनी सेवा की डीग हाँकते है और मरने तथा विरोध करने से हिचकिचाते है, वे है कायर और ढोंगी—त्रेपेंदी के लोटे, जो तनिक-सी विरोध-लहर, कठिनाई और दचोके से गायव हो जाते है, चट्टान पर खड़े पौवे की भाँति जो वरसात के उपरान्त सूर्य-ताप की थोड़ी-सी चोटो के कारण ही सूखकर निर्मूल हो जाते है।

सायकाल को वावू शरत्कुमार घोप अपने वँगले के वरामदे में वैठे हुए थे, जब उनका नौकर रामसिह छुट्टी माँगने आया। रामसिह की वृद्धा माँ करीव के गाँव मे वीमार थी, इसलिए वह एक रात की छुट्टी चाहता था। उसने वड़ी दयनीय आकृति से कहा, "हुजूर! वैसे तो आपको अकेला छोडकर जाने की मेरी तवीयत नही करती; पर मेरी माँ का रोग असाध्य है। वह वचेगी नही। इसलिए मै आज जाना चाहता हूँ।" रामसिह की प्रार्थना इतनी युक्ति-युक्त थी कि घोप वावू से इनकार करते न वना। किसी की माँ मरणासन्न हो तो कौन भला आदमी अपने नौकर को छुट्टी न देगा। पर घोप वावू को अपने नौकर को छुट्टी देने के कारण काफी तकलीफ उठाने की सम्भावना थी। वात यह थी कि घोप वावू का वँगला आवादी से दो-तीन मील दूर था, और उनके अन्य नौकर शाम होते ही अपने घरो को—कई मील दूर चले जाते थे और उस वँगले मे घोप वावू और उनका नौकर रामसिह ही अकेले रात

को रहते थे। बँगला एक बड़े खेत के बीचोबीच था और खेत के चारों ओर जंगल था, जिससे लोग भयभीत थे।

घोष बाबू गरमी के कारण बँगले के किवाड़ खुले छोड़कर सोया करते थे। पर अपनी माँ के पास जाने से पूर्व रामसिंह ने घोष बाबू से आग्रह किया था कि बँगले के किवाड़ रात में खुले न छोड़े जायँ, क्योंकि जंगल मे 'फाड़ू' शब्द उसी दिन सुना गया था। 'फाड़ू' शब्द से लोगों के हृदयों मे कँपकँपी हो जाती थी।

'फाड़ू' एक छोटे जानवर को कहते है, जो बिल्ली के बराबर बड़ा होता ह और उसका नाम उसकी बोली 'फाड़ू' के कारण रखा गया है। लोगो का विश्वास है कि 'फाड़ू' मनुष्य-भक्षी शेर या बघेरे के आगमन का सूचक है—एक प्रकार की लैन डोरी-सी। 'फाड़ू' शेर के साथ क्यों रहता है, सो तो कहना कठिन है; पर देहात के लिए 'फाड़ू' एक दैवी सूचना है, जिससे लोग शेर के उत्पातों से कुछ सचेत हो जाते है।*

'फाड़ू' के विषय में कुछ सन्दिग्ध होने पर भी घोष बाबू ने रामसिंह को आश्वासन दिलाया कि वह उनकी तनिक भी चिन्ता न करे, क्योकि उनकी बन्दूक की गोली किसी भी शेर के स्वागत के लिए काफी थी और इसीलिए उन्होने रामसिंह को आदेश दिया कि जाने से पूर्व वह उनकी बन्दूक और कुछ गोली के कारतूस उनकी चारपाई के निकटवाली अलमारी की दरार मे रख दे।

घोष बाबू का सोने का कमरा कुछ छोटा-सा था। उसमे दो द्वार थे, एक तो बरामदे की ओर और दूसरा भोजन के कमरे की ओर।

---

*'फाड़ू' या 'फियाडली' गीदड़ को छोड़कर और कोई दूसरा जानवर नही है। व्रज के देहातो में फियाडली एक विचित्र जानवर को कहते हैं, जो किसी के मरने से पूर्व गाँवों मे बोलता है—'फेकत्ति है' (देहाती बोली में)। शेर या बघेरे को देखकर डर से गीदड़ फाड या हाव शब्द करता है और उसे ही लोग फाड़ू या फियाडली कहते है। साधारणतः गीदड़ हू-हू हुएँ-हुएँ करता है, पर डरकर वह फाड या हाव शब्द करता है। इन पंक्तियो के लेखक ने इसकी खासी जाँच की है। —लेखक

उनका पलंग बरामदेवाले दरवाजे के सामने के कोने में था। पलंग का सिरहाना और उसका भीतरी भाग दोनो दीवारो से लगभग एक फुट की दूरी पर थे। पलंग से सटी शृंगार-मेज थी, इसलिए पलग के चारों ओर उसके बाहरी भाग को छोडकर—सुकड़-सुकडाकर ही जाया जा सकता था। पलग की खुली ओर को कोने की दीवारो से लगे पलग की ओर के दूसरी ओर को चार फुट की दूरी पर घोष बाबू की दरारो-वाली अलमारी रखी थी, जिसके सबसे नीचेवाले खाने में रामसिंह ने बन्दूक रख दी थी। अलमारी के बगल से लगा बरामदेवाला दरवाजा था।

पलग काफी भारी था। उसके पाये छः इच व्यास के होंगे, और पाटियो तथा सेरवो की मुटाई भी इतने ही व्यास की होगी। इस प्रकार पलंग सात वर्ग फीट का रहा होगा; पर वह बहुत ऊँचा न था। हाँ, उसके नीचे कोई भी आदमी रेंगकर इधर-उधर जा सकता था। पायों से लगे डण्डे थे जिनके ऊपर कोनो से मसहरी के चारो कोने बँधे थे।

घोष बाबू बरामदे के किवाड बन्द करके अपने पलग पर जा लेटे और लगे निद्रादेवी का आह्वान करने। पर गरमी के कारण नीद न आई। रूठी रानी को घोष बाबू ने बहुत मनाया, मिन्नतें की, गिड-गिड़ाये भी और कई घण्टे तक उसके विरह मे तडपे, करवटें बदली; पर सब बेकार। मोहक गन्ध पाकर भौरे फूलो की स्तुति के लिए भागे चले आते है और मन्द समीर के झकोरो से निद्रादेवी थके-माँदे लोगो के आलिगन को दौड़ी आती है तथा आँखो पर जादू फेरकर लोगो को मन्त्र-मुग्ध कर लेती है। पर घोष बाबू के कमरे मे गरमी का साम्राज्य था। निद्रादेवी कैसे आती? अन्त में परेशान होकर और किसी भय की आशंका न करके, उन्होने बरामदे का दरवाजा खोल दिया और पलग पर लेट गये। शीतल वायु के झकोरो ने नीद रानी को गुदगुदाया। गरमी कमरे से भागी और घोष बाबू सुख की नीद के अधीन हो गये।

कितनी देर तक वह सोये, सो तो कहना कठिन है; पर घबराहट और किसी भयंकर दुर्घटना की आशका की भावना से चौंककर जग

गये। कमरे मे कुछ दम घुटानेवाला वातावरण था। हवा गर्म और दुर्गन्धमयी थी, मानो कोई दूसरा वडा जीव भी वहाँ हो। कुछ मिनटों के लिए घोष वावू उनीदे-से तन्द्रावस्था में रहे और उन्होने अपने शरीर को जरा भी हिलाया-डुलाया नही। उनकी अधखुली आँखे ऊपर को थी। उनकी इच्छा थी कि तनिक उठकर या करवट लेकर देखें कि आखिर कमरे में क्या है। पर दम घुटानेवाली हवा ने उनकी तन्द्रावस्था को भग ही न होने दिया। उनकी अर्द्धमूर्च्छित अवस्था अभी भंग न हुई थी कि उन्हें ऐसा भान हुआ, मानो उन्होने अपने पलग के निकट एक गहरी और कर्ण-कटु साँस सुनी हो। आखिर वह ध्वनि क्या थी? फिर, कम होने के वजाय वह प्रतिक्षण अधिक दीर्घ और कडी होती जाती थी। वह डरावनी ध्वनि इतनी कम्पोत्पादक और मोहक थी कि करवट लेने तक का साहस न होता था। तनिक-सी असावधानी, कुछ गड़बड़ और शोरोगुल से न-मालूम कौन-सी मुसीवत आ जाय, इसी विचार से घोष वावू मृतप्राय पडे रहे। उस रहस्यपूर्ण और विचित्र साँस लेने की-सी आवाज से वचने का सरल उपाय यही था कि औसान खता न होने पावे और हिला-डुला न जाय। पर यह जानना भी आवश्यक था कि आखिर वह विचित्र आतकपूर्ण आवाज थी क्या? उसका एक ही ढंग था और वह यह कि सिर धीरे-धीरे उधर फेरा जाय जिधर से—पलंग के बाहर की ओर से आवाज आ रही थी। धीरे-धीरे शरीर को विना हिलाये, अस्पष्ट-सी गति और अधखुले नेत्रो से घोष वावू ने अपना सिर घुमाया। आँखो की सम्पूर्ण ज्योति उस आवाज के मार्ग पर जा रही थी, जैसे कोई अन्धा परिचित मार्ग पर विना किसी गलती के चला जाता हो। कई मिनटो मे जैसे ही आधा सिर उस ओर घूमा, वैसे-ही घोष वावू की अध-खुली आँखो पर विजली-सी गिरी—

कफस के सामने विजली कुछ इस तरह चमकी,
नजर मे फिर गई तसवीर आशियाने की।

घोप वावू ने देखा, उनके पलंग और अलमारी के वीच एक भीमकाय शेर वैठा है! उसका सिर घोष वाबू की ओर था, कान खडे हुए, और आँखें—वे ओज-भरी आँखे घोष वावू पर केन्द्रित थीं। चन्द्रमा की धुंधली रोशनी में शेर की विकरालता और भी वढ गई थी। कुछ देर के लिए घोप वावू सज्ञाहीन हो गये। साक्षात् यमराज, शेर के रूप में, विना किसी नोटिस के समीप ही विराजमान थे! घोप वावू को भान हुआ कि उनके जीवन की कुछ ही घडियाँ शेप है।

थोडी देर के लिए तो उनके शरीर मे रक्त-संचार रुक-सा गया—लकवा-सा मार गया उन्हे। दो मील तक उनकी आवाज को भी सुननेवाला कोई न था, इसलिए चीखना फिजूल था। और वन्दूक? वन्दूक को उन्होने कितना सँभालकर दरारवाली अलमारी में रखा था वक्त जरूरत के लिए। पर यमदूत राम ने पहले से ही प्रवन्ध कर रखा था। अलमारी तक हाथ कैसे पहुँचता! उसके तथा पलग के वीच ही तो शार्दूल डटा था। प्रवन्ध सव ठीक था। वस, अपने जवडे की हथकडी में पकडने भर की देर थी, या फिर एक ही चपेट में घोप वावू की अक्ल दुरुस्त करनी थी। एक ही क्षण में घोप वावू की सारी जीवनचर्या उनके दिमाग में चक्कर काट गई। पर शेर ने उन्हे अव तक छोड़ क्यो रखा था? उसे तो उन्हे सोते में ही उठा लेना चाहिये था। इतनी देर क्यो हुई? यदि किसी प्रकार उसके आक्रमण न करने का कारण मालूम हो जाता, तो शायद उसके उपयोग से घोष वावू की जान वच सकती थी। घोप वावू के पक्ष में एक विशेप वात यह थी कि यमराज के प्रथम दर्शन की प्रतिक्रिया के उपरान्त उन्होने हवास ठीक रखे। और होशहवास की ढाल पर ही वह शेर से निपट सकते थे, पर निहत्थे आदमी का शेर से मुकाविला करने के मानी हैं भुनगे का हाथी से भिडना। क्या मसहरी देखकर शेर सशंकित हो गया था? शायद मसहरी के भीतर निस्तव्ध व्यक्ति को पडा देखकर शेर ने मसहरीयुक्त पलंग को अपने फँसाव के लिए जाल समझा हो। आदमी का आकार वनाकर जाल के भीतर कोई चीज रख दी

हो; और उस पर आक्रमण करते ही शेर किसी दाँव या मृत्यु-पाश मे न फँस जाय, इसी डर से शेर प्रतीक्षा कर रहा था। मसहरी के भीतर यदि कोई जीवित प्राणी होता तो कुछ हिलता-डुलता जरूर! घोष बाबू ने भी समझ लिया कि उनके बचने का केवल एक ही उपाय है, और वह यह कि चुपचाप पडा रहा जाय, टस-से-मस न हुआ जाय ताकि शेर को यह शंका बनी रहे कि उसके पकड़ने और मारने के लिए धोखाधड़ी की गई है।

घोष बाबू इसी लिए गुमसुम एक ही करवट पड़े रहे। एक-एक क्षण पहाड़-सा प्रतीत होने लगा। साधारण स्थिति में, अपनी इच्छा से एक आसन पर कोई घण्टों पड़ा रहे, पर मन मसोसकर मूर्त्तिवत् होकर और सो भी मौत के निकट अचल पड़ा रहना टेढी खीर है। पर मौत का डर स्नायुओं और पट्ठो तक को स्टील-सा बना देता है। मौत के डर से मरघिल्ले लोग भी विकट साहस दिखाते है। पर छीक, खाँसी और खुजलाहट भी वे बलाएँ है कि खुजलाने को उँगलियाँ बरबस चली जाती है, चाहे कोई कितनी ही भयावनी स्थिति मे क्यों न हो। खाँसी और छीक से भुगतना तो और भी कठिन है। गले में सरसराहट होती है। हाथ से गला दबाने और मुँह बन्द करने पर भी भीतर से बारूद फिकती है और खुल्ल तथा ठुल्ल हो ही जाती है। नाक को दबाते दबाते छीक की टी भी निकल जाती है। नाक को कही बुरी तरह पकड़ भी लो, तो छीक आँखो और खोपड़े से निकलने की कोशिश करती है। घोष बाबू पर भी खाँसी ने—गला साफ करने की प्रवृत्ति ने हमला-सा कर दिया और बहुत गला घोटने पर भी तनिक ठुल्ल-सी ध्वनि निकल गयी। उधर शेर की शका-समाधि भंग हुई। वह फौरन खडा हो गया, और घूरकर उसने घोष बाबू की ओर देखा तथा अपना सिर धीरे-धीरे उधर को बढाया। अभी तक उसे कुछ शका बनी रही, इसी लिए उसन एक दम आक्रमण नही किया। पर उसका भारी सिर मसहरी को दबाता हुआ आगे को बढा, मानो वह घोष बाबू के सिर का करीब

से निरीक्षण करना चाहता हो। घोष बाबू ने शेर की भयंकर साँस महसूस की; पर टस-से-मस होने का उनका साहस न हुआ। इतने ही में मसहरी की रस्सी चट से टूट गई और मसहरी झप से घोष बाबू के ऊपर आ गिरी। बिजूका हट गया। मोहपाश कट गया, और शेर के लिए अब मैदान साफ था। पर जैसे ही मसहरी गिरी, शेर कुछ चौकन्ना हुआ और उसी क्षण विद्युत्-गति से घोष बाबू मसहरी से सरककर दीवार के सहारे फर्श पर जा बैठे। मसहरी गिरते ही, एक-दो सेकण्ड बाद ही, शेर कम्पोन्पादक गुर्राहट के साथ पलंग पर कूद पडा—यह समझकर कि उसकी खुराक वहीं पड़ी होगी। शेर को शकोशुबह तो रहा ही न था। अपने शिकार को पलग पर न पाकर उसने पलग को चीरना-फाडना शुरू किया। पलंग पर वह फट ही पडा, मानो वही उसकी रखी-रखाई खुराक निगल गया हो। क्रोध की मूर्त्ति शेर ने कुछ देर तक पलंग को नोचा-खोंचा और फिर अलमारी के करीब कूद पडा। उसकी पूंछ इधर-उधर तड़प रही थी, और मारे क्रोध से भन्नाते हुए होठों को पीछे खीचे हुए वह अपने शिकार को इधर-उधर देख रहा था। जरा देर में ही उसने अपने शिकार को पलग के नीचे दीवार की ओर गठरी-सा बना देखा, और एक भयानक दहाड से उसने अपना सिर पलँग के नीचे घुसेड़ा, पर पलँग की पाटी से वह टकरा गया। क्रोधोन्मत्त शेर ने सिर भीतर करने के लिए ठोकर मारी। सिर के एक धक्के और फिर दूसरे तथा तीसरे धक्के से पलग तो बुरी तरह हिला, पर उसका सिर भीतर न जा सका। तब शेर ने और भी जोर से आक्रमण किया भीतर घुसने को, और उसका सिर पलग के नीचे आ ही गया। उसके माथे की खाल छिल गई थी और खून तेजी से निकल रहा था। पलग की पाटी के किनारों से शेर के सिर में आघात पहुँचा था। शेर ने पलग के नीचे घुसने के लिए फिर जोर लगाया, पर सकीर्ण पलग और अलमारी के बीच उसका भारी शरीर कमान-सा बन गया। भीतर घुसने के लिए, शरीर को भीतर बढ़ाने के लिए पीछे स्थान ही खाली न था।

शिकार और शिकारी आमने-सामने पड़े थे। घोष बाबू ने अपने शरीर को सिकोड़कर दीवार से लगा रखा था, मानों उसे फोड़कर उसमें घुसना चाहते हों। शेर की खूनी और मशाल-सी जलती आँखों का सामना उनसे न होता था। शेर के कीले तो मानों बाबू साहब के शरीर को फाड़ ही रहे थे। शेर की आँखों, दाँतों और आकृति ने मोहिनी-सी फेर दी थी। उन्हें नशा-सा आने लगा। घोष बाबू चूहे की भाँति शेर के शिकंजे से बचने का उपाय कर रहे थे। कुछ मिनट तक दोनों उसी आसन पर डटे रहे। वे मिनट युग के समान बीते। रौरव नरक की यातनाएँ भोग रहे थे घोष बाबू। तेज और रुकी हुई गुर्राहट शेर के भयानक जबड़ो से आ रही थी। वह गुर्राहट केवल क्रोध की ही न थी, वरन् पीड़ा की भी थी। पीड़ा खुरसट और चोट की नही थी, वरन् पाटी का तेज किनारा उसकी गर्दन को भी काट रहा था। जब गर्दन की पीड़ा उसके क्रोध से भी बढ़ गई तब शेर ने सोचा, लानत है इस प्रकार के शिकार से। सिर निकालकर शिकार को किसी दूसरे ढंग से पकड़ना चाहिये, इसलिए उसने अपना सिर बाहर खीचने का प्रयत्न किया। सिर बाहर निकालने को उसने जोर लगाया। घोष बाबू के सामने आशा की एक किरण-सी दिखाई पड़ी। शेर का सिर बाहर निकलता ही न था। वह फँस गया था। शेर ने निकलने के लिए क्रोधपूर्वक जोर लगाया। पलंग डगमगाने लगा। शेर के जोर लग रहे थे गाद-खाद, पलग कर रहा था खटर-खटर और घोष बाबू का दिल धड़क रहा था धक-धक। डर इस बात का था कि शेर के कशमकश से कही पलग न पलट जाय। पलग पलटते ही घोष बाबू के भाग्य का तख्ता भी निस्सन्देह पलट जाता। इसलिए घोष बाबू ने अपनी ओर की पाटी जोर से पकड़ ली, ताकि पलग का बोझ कुछ और बढ जाय। शेर जोर लगा रहा था निकलने को, और घोष बाबू पाटी नीचे खीच रहे थे। पर घोष बाबू का प्रयास कुछ नही के बराबर था। पलग की धमा-चौकडी, ऊपर और नीचे की गति, झूले की-सी जारी थी। शेर का प्रत्येक झटका प्रबल होता जाता था।

पलंग बहुत जोरों से हिलने लगा, मानों घबराकर वह कहीं भाग जाने का प्रयत्न कर रहा हो। सारे शरीर की ताकत इकट्ठी कर और जान की बाजी लगाकर घोष बाबू एकदम पलँग पर आ गये, ताकि वजन ठीक हो जाय और पलँग न पलटे। कुछ देर के लिए पलग की तोल ठीक हो गई। पर प्रश्न यह था कि उस प्रकार की स्थिति कब तक चलेगी! किसी-न-किसी झटके में शेर अपना सिर निकाल सका, तो क्षणभर में ही घोष बाबू की चटनी बना देगा। यदि कहीं बन्दूक हाथ लग जाती, तो शेर को जहन्नुम-रसीद कर दिया जाता। पर बन्दूक तो दरार में बन्द थी, और शेर के पिछले भाग ने दरार को और भी कड़ा कर दिया था। उसका हाथ आना असम्भव था।

शेर ने भी भाँप लिया था कि उसका शिकार आँखो से ओझल होकर उसकी खोपड़ी पर—पलँग पर सवार था। इसलिए अपनी मुक्ति के लिए और भी जोर के झटके लगा रहा था।

हथियार कोई था नही। हाँ, चौके मे एक बडा शिकारी चाकू जरूर था; पर वहाँ तक जाना आसान न था। पलँग से उठते ही कहीं शेर न निकल पडे। घोष बाबू की स्नायुओं की शक्ति भी क्षीण हो रही थी। उनके दम का भी दम निकल रहा था। ईश्वर का नाम लेकर घोष बाबू चुपचाप उठे, सिरहाने की ओर से दबे पाँव फुरती से गये और चौके से बड़ा शिकारी चाकू ले आये।

दोनो हाथो से चाकू की मूँठ थामकर वार करने की कोशिश की, पर हिचकिचाहट-सी हुई। कहीं ओछा वार हुआ और चाकू का फल हद तक न पहुँचा, तो शेर और भी उत्तेजित हो जायगा, भन्नाकर पलग को पलटकर घोष बाबू का खातमा कर देगा। पर मरता क्या न करता! और, साहसी व्यक्ति आती मौत से भिड़ता ही तो है। हाँ, एक बात साफ थी। घोष बाबू की ओर से एक ही वार हो सकता था!

शेर की अगली टाँगें झटका मारने के बाद जैसे ही रुकी, वैसे ही

पीठ में, गर्दन से कुछ हटकर, चाकू का नौ इंची फल खचाक से घुस गया और वह सीधा दिल मे जा बैठा।

जमीन को हिलानेवाली गर्जना हुई, फिर एक तड़प और उसके साथ धड़ाम का शब्द, और उसी के साथ बेहोशी का आलम छा गया।

अगले दिन प्रातःकाल रामसिंह ने उलटे हुए पलग के निकट खून में लथपथ शेर को मरा और घोष बाबू को, बड़ी तलाश के बाद, दीवार से सटे बिस्तरे मे ढका अचेत पाया। बात यह हुई थी कि चाकू के भोंकने से शेर ने वह उछाल ली कि पलंग का सारा टाट-कमण्डल उछलकर पलट गया और घोष बाबू भी गेंद की भाँति पलग के भीतरी ओर को गिरे तथा दीवार से टकरा गये। ऊपर से बिस्तरे ने सम्पूर्ण दृश्य पर परदा-सा डाल दिया।

उस घटना के आतंक से घोष बाबू ने पन्द्रह दिन तक खटिया तोड़ी और जीवन तथा मृत्यु की तरंगों पर प्रवाहित होकर भले-चगे हो गये।

कपिलदेव नारायण सिंह

हिन्दी-काव्य-धारा की लहरें

मनुष्य की भावनाओ का संचित स्वरूप साहित्य है। साहित्य एक दिन की सृष्टि नही प्रत्युत युगो के कठिन परिश्रम का फल हुआ करता है। मनुष्य के हृदय में जिस दिन भावना आई, उसकी कल्पना उसी दिन से साहित्य-सृजन में सलग्न हो गई। साहित्य-सागर को हमारी भाव-सरिता युगो से भरती चली आ रही है, किन्तु आज तक वह पूरा-पूरा नही भर सका। उसकी तरंगें कभी भी सीमा का अतिक्रमण नही कर सकी और वह प्रशान्त ही बना रहा। कोई यह नही वता सकता कि वह सागर इतने दिन के वाद पूर्ण हो जायगा।

पर साहित्य की इस अनन्तकालीन आयु के वीच महान परिवर्तन हुए। कभी वह उन्नति के उत्तुंग शिखर पर विलसता रहा तो कभी अवनति के गर्त में पडा सिसकता रहा। कभी वह वीर-रस की धारा मे वह गया तो कभी भक्त की भावना में आप्लुत रहा। एक ओर तो साहित्य के कारण महाभारत के रणागन में हम अर्जुन के निर्वल हाथों से गाडीव की टकार सुनते है तो दूसरी ओर रीतिकाल के कवियो की छत्रच्छाया मे साहित्य के द्वारा ही हम कितनी विरहिनो को 'परदेशी प्रियतम' के विरह की ज्वाला मे दग्ध होते देखते है।

इस प्रकार हम देखते है कि प्रत्येक युग मे साहित्य का रूप परिवर्त्तन-शील होता है। युग की भावना जिस ओर लक्ष्य करती है, साहित्य की गति उसी ओर होती है। साहित्य का प्रभाव जिस प्रकार समाज पर है उसी प्रकार समाज का भी प्रभाव साहित्य पर पडता है। साहित्य की सृष्टि के मूल में समाज है अतएव जिस समय का समाज जैसा होगा उस समय का साहित्य भी उस के अनुरूप होगा। अगर समाज विलासिता

के नद में तिर रहा है तो उसके साहित्य में भी सुरा और सुन्दरी का रूप दृष्टिगोचर होगा। अगर समाज मे क्रान्ति मची है तो उस समय के साहित्य में बेडियो की झंकार ही झंकृत होगी। साथ ही उस झंकार में बेड़ियों को टूक-टूक कर देने का एक प्रयास भी दीख पडेगा।

हिन्दी साहित्य का अरुणोदय वीरगाथा काल में हुआ था। भारत के इतिहास मे यह काल विदेशी आक्रमणो का था। राजपूतों की नसों मे रक्त की उष्णता क्रमश. ठंढी पड़ती जा रही थी और साथ ही भारत का भाग्य-सूर्य अस्ताचल की ओर ढलता जा रहा था। प्रत्येक राजघराने मे विद्वेष तथा ईर्ष्या की अग्नि प्रज्ज्वलित हो रही थी। दिल्ली के राजसिंहासन पर हिन्दुओ के अन्तिम सम्राट् पृथ्वीराज आसीन थे। गोरी के आक्रमण से सारी प्रजा त्रस्त एवं व्याकुल थी। गाँव के गाँव अग्नि की गोद में चले जा रहे थे और जनता गाजर-मूली की तरह कट रही थी। चारो ओर अत्याचार का नग्न नृत्य हो रहा था। पारस्परिक फूट ने संगठन-शक्ति का नाश कर दिया था और शनैः-शनैः यवनो के पाँव भारत-भूमि पर जमने लग गये थे। इस परिस्थिति में जब कि देश की वीर जाति के शौर्य-बल का ह्रास हो रहा था यह अत्यन्त आवश्यक था कि उनमे नवीन शक्ति तथा स्फूर्ति का संचार किया जाय। युद्ध की आग जो भारत में चारो ओर भभक रही थी उसे वीर काव्य के ईंधन से और भी भड़का देने की आवश्यकता थी। फलस्वरूप कुछ लोगो ने ऐसे साहित्य का सृजन आरम्भ किया, जिसमें शक्ति की उपासना मे वीरता के गीत गाये गये। इन गायको मे 'चन्द' ही प्रथम एवं प्रसिद्ध गायक है। चन्द के रासो के कारण सारे देश में जागृति की एक लहर आ गई। महाराज पृथ्वीराज के हृदय मे उत्साह द्विगुणित हो उठा और उन्होंने अपनी मातृ-भूमि की रक्षा के लिए अपने प्राणो की वलि दे दी।

सवत् १४०० के पश्चात् पठानो की शक्ति का ह्रास हो चला। राजपूत लोग भी कुछ-कुछ सँभले, परन्तु उनमें से अधिकाश मुगलो के अधीन रहकर उनके आधिपत्य मे छोटे-छोटे राज्यो तथा जागीरो का उपभोग

करने लगे। मुगल साम्राज्य स्थापित हो गया। जब तक राजपूतो में थोडा सा जीवन था तब तक वीर काव्य से उन्हे तलवारो की झकार सुनाई पडती रही किन्तु जीवन का जब एकदम ह्रास ही हो गया तो उनके कर्ण-कुहरो को नूपुरो की झंकार सुनने में सुख का अनुभव होने लगा। फिर वीर भाव उनके लिए अनावश्यक सा हो गया। बुझे हुए दीपक मे तेल देने से क्या लाभ होता?

इन्ही कारणो से काव्य की धारा समय के साथ पलटी। निरन्तर युद्ध और यौद्धिक कोलाहल के पश्चात् शान्ति का साम्राज्य स्थापित होने लगा। भयकर झंझावात के बाद वातावरण सयत हो गया और विजेता तथा विजित के हृदय में सद्भावना की जागृति हुई। ऐसे ही शान्त वातावरण मे कविता राम-नाम की चादर ओढ चित्रकूट के घाट पर चन्दन रगड़ने के लिए सतो के बीच जाने का प्रयास करने लगी।

मुसलमानो के जायसी आदि सूफी कवियो ने सूफी भावना का प्रचार करना प्रारम्भ किया और कबीर ने निर्गुण-मडन तथा सगुण-खडन का कार्य आरम्भ कर दिया। सूर और तुलसी ने क्रमशः कृष्ण और राम की शक्ति का वर्णन किया। भक्ति की धारा विभिन्न स्रोतों में फूट निकली। उसकी एक धारा आध्यात्मिक रहस्यवाद की ओर मुडी, दूसरी निर्गुण भक्तिवाद की ओर बहती रही। इन विभिन्न धाराओ की लहरो पर बारी-बारी से कबीर, जायसी, सूर तथा तुलसी जैसे महाकवियो के प्रतिबिम्ब पड़ते रहे। आज तक चिन्तन के क्षेत्र में इन महाकवियो से लोगो को प्रेरणा भी मिलती रही है।

किन्तु भक्ति-भाव के बीच से ही शृंगार का एक उद्दाम स्रोत फूट पडा और उसमे कामिनियाँ राधा का रूप धर-धर कर स्नान करने लगी। राधाओ के सद्य स्नाता रूप ने कवियो को अपनी ओर आकृष्ट किया और ये कविगण उन रूपो को चमत्कृत रूप दे-देकर दरबारो में बेचने लगे। कविता चित्रकूट से राज-दरबार चली आई और कविगण राधा-कृष्ण के पावन प्रेम की ओट में नायक और नायिका को आलबन बनाकर नावक

के तीर छोड़ने लगे। चमत्कार-प्रदर्शन के आधिक्य के कारण भावो का अभाव होने लगा। किन्तु कविता दरबारो की सरस हवा से ओत-प्रोत हो गई। साथ ही दरबारी शान-शौकत एवं विलासिता का भी पूरा प्रभाव कविता पर पड़ने लगा और सारा काव्य-जगत् शृंगारिक हावों-भावों से पूर्ण हो गया। पद्माकर के आते-आते तो रीतिकाल के सरोवर में नायिका के स्नान करने के कारण यत्र-तत्र त्रिवेणी की भी सृष्टि होने लगी। किन्तु साहित्य की धारा जब तालाब के गँदले पानी की तरह बँध गई तब गुलामी की दुःसह वेदना के कारण उसकी धारा को जनता की ओर ले जाने का प्रयास किया श्री भारतेन्दु ने।

भारतेन्दु-काल मे अँगरेजी राज्य का पराक्रम चढाव पर था, किन्तु साहित्य ने इसी काल मे एक नया रूप धारण किया। बुद्धिवाद की प्रधानता इस युग की खास विशेषता रही और साहित्य मे इस वाद के प्रथम प्रवर्त्तक के रूप मे हरिश्चन्द्र ही आये। इन्ही भारतेन्दुजी को गद्यसाहित्य के जन्मदाता के रूप मे भी हम मानते आये है। कविता के क्षेत्र मे भारतेन्दु ठीक रीतियुगीन कवियो के बाद आये और उन्होने अपने काव्य मे रीतियुग और भक्तियुग की चेतना ग्रहण करते हुए नवयुग का सन्देश भी दिया। यह संदेश नवयुग का प्राण था और इस संदेश की शखध्वनि द्विवेदी युग मे आकर और भी जोरो से गूँज उठी--ध्वनि खरतर हो गई। यह धारा जागरण-युग की शक्ति पाकर प्रबल वेग से अपना मार्ग निकालती हुई बह चली। हरिऔधजी ने कृष्ण और राधा का उद्धार रीतियुग के सड़े एव गँदले तालाब से किया और राधा एव कृष्ण को पवित्र कालिन्दी मे स्नान करने का भी अवसर दिया। बाबू मैथिलीशरण ने रामधुन की रट लगाई और आज उनका भक्ति-भाव तुलसी के भक्ति-भाव के साथ मिलकर युग की सारी भावनाओ को उदारता के साथ समेटने मे समर्थ हो सका है।

इन्ही दिनो रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रभाव से कबीर आदि का रहस्यवाद छायावादी बनकर साहित्य मे आ गया और प्रसाद, पत, निराला तथा

महादेवी आदि कविगण इस वादविशेष का प्रतिनिधित्व करने लगे। इन प्रतिनिधियो से द्विवेदी युग के आचार्यगण नाक-भौ सिकोडने लगे किन्तु उसका यह रूप छायावाद का कुछ न बिगाड सका। छायावादी युग को भूत और छायावादी कवियो को यद्यपि पलायनवादी आदि विशेषणों से विभूषित करने की प्रगतिवादी पद्धति चल पडी तथापि छायावादी युग में राष्ट्र और देश के प्रति अनुराग का अभाव नही रहा। माखनलाल-जी, दिनकर, नवीन आदि छायावादी युग के ही पराक्रमशाली एवं स्वदेश-प्रेमी कवि है।

आज कविता का स्वरूप तो वही है किन्तु कुछ तथाकथित साम्यवादी कवि एव आलोचक साहित्य की गागी-यमुनी धारा को वोल्गा की धारा से मिलाना चाह रहे है। भारतवर्ष की भावधारा उन्हे रूस की चिन्तन धारा से निम्नकोटि की प्रतीत हो रही है। उन्हे दिनकर प्रतिक्रियावादी सा लगता है और श्री हजारीप्रसादजी, द्विवेदीजी दकियानूस आलोचक दीखते हैं। प्रगतिवादी कविता-युग को भी दो युगो में बाँट देना अब आवश्यक हो गया है—ये दो युग होगे—राष्ट्रीय भावना का युग और हस-युग। प्रथम युग से तो हम सब परिचित है किन्तु हस-युग की देन के रूप में हमें 'हाथी घोड़ा, पालकी' की ही भेंट मिली है। किन्तु काव्य की आत्मा हाथी-घोडा-पालकी से उतरकर फिर वही चली गई है जहाँ वह राष्ट्र की सेवा कर रही थी—उन्नयन कर रही थी।

इधर कविता मे और भी प्रयोग होने लगे है। यो तो प्रारभ से ही प्रयोग होते रहे हैं फिर भी इस युग ने प्रयोग के साथ भी वाद को सयुक्त कर दिया है। हमे धीरज के साथ इस नये वाद को भी देखना चाहिए क्योंकि टेकनीक मे चाहे जितने प्रयोग हो पर काव्य की आत्मा वही रहेगी जिसका सकेत आदिकवि वाल्मीकि ने दिया था।

———

विश्वमोहन कुमार सिंह

काव्य

ललित कलाओ मे काव्य का स्थान बहुत ऊँचा है। यह सृष्टि की सर्वोत्तम कृति की सर्वोच्च भावव्यंजना है। यह एक ओर भूतल को छूता है तो दूसरी ओर अनन्त आकाश से बाते करता है; यह अचेतन संसार मे पर्यटन कर उसे चेतनता से अनुप्राणित करता है। यह हृदय और जीवन के रहस्यमय प्रदेशो मे घुसकर उनका यथाशक्य उद्घाटन करता है। यह अज्ञेय को भी ज्ञेय बनाने का प्रयास करता है। यह व्यक्तिगत होते हुए भी व्यापक है; शब्दो से बना और स्थूल कागज पर स्थित होते हुए भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। यह माधुर्य है, ज्ञान है, चित्रकला है। यह सबो से भिन्न होते हुए भी सबों हो अपने मे निहित करता है।

यदि आज विकाशक्रम से वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी, सेक्सपियर, मिल्टन, शेली, होमर, दाते, पेट्रार्क; ग्वेटे, हाईने, उहलाड इत्यादि कवियो के नाम निकाल दिये जायँ, तो ससार एकदम सूना और निविड अन्धकाराच्छन्न हो जाय; विकाशक्रम केवल पाशविक वृत्तियों की आवृत्ति और पुनरावृत्ति का दूसरा नाम हो जाय।

काव्य भावपूर्ण सौन्दर्य की पराकाष्ठा है। जब किसी भी वस्तु की सर्वोत्कृष्ट प्रशंसा करनी होती है, तो हम उसे काव्य की सज्ञा देते है। जब हम ताजमहल के सौन्दर्य से अभिभूत हो उसकी प्रशसा करने को व्याकुल हो उठते है, कह उठते है;—"ताज तो संगमरमर से बनी कविता है।" जब हम किसी रमणी की आँखो मे लग जाते है, तो कह उठते है,—"ओहो, उसकी आँखो मे तो कविता है।" जब हमारी आँखे किसी चित्र के कलात्मक सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाती है, तो अनायास ही हमारे मुख से निकल पड़ता है—"यह तो कूचियो से बनी कविता है।" एक अँगरेज लेखक एक

हलवाहे के हल को देख, और उसके सारे अतीत को यादकर कह उठता है—"यह तो मनुष्य के कष्टमय परिश्रमो का महाकाव्य है।" वही लेखक वसन्तकाल में पथों और गलियो को फूलो से लदे देखकर कहता है—"ये पथ और गलियाँ तो मानो विभिन्न रंगो मे गीतिकाव्य रच रही है।" अतएव यह स्पष्ट है कि कविता भावो की परिणति है; ज्ञान और सौन्दर्य की अन्तिम सीमा है। जब इसका स्तर इतना ऊँचा है तो कोई भी तुकान्त वा अतुकान्त रचना कविता नही हो सकती। इसमें ऐसे-ऐसे उपादानो की आवश्यकता है, जो जीवन को भूतल मे उठाकर ज्ञान और सौन्दर्य का आकाश छुला दे। कोई भी लोहे का बना यत्र वायुयान नही हो सकता; उसी प्रकार किसी लय मे कही हुई बाते कविता का स्थान ग्रहण नही कर सकती। काव्य-यंत्र में इतने सूक्ष्म कल-पुर्जे और सूक्ष्म तार लगे है कि उनका ठीक-ठीक विश्लेषण और विवरण अत्यन्त दुष्कर है। पहले तो इसका व्यक्तिगत कवि से सम्बन्ध है, इसका उद्गम कवि के गम्भीर हृदय-सागर से होता है, उस पर उसकी कल्पना की छाप होती है; तदनन्तर इसका उसके वास्तविक जीवन से सम्बन्ध है; इसका उसके सूक्ष्म जीवन से सम्बन्ध है। इसका तत्कालीन वातावरण और परिस्थितियो से सम्बन्ध है। इसका अतीत और भविष्य से सम्बन्ध है। इसका अनन्त और असीम से सम्बन्ध है।

एक कवि जो विश्व को अपनी अँगुलियो पर नचाता हुआ भावान्दोलित हो अपना राग अलापने लगता है, जो पाठक इस विश्वराग की मधुरिमा से परिप्लुत हो उसके अग-प्रत्यंग को विस्मय-विभोर नयनो से पर्यवेक्षण करने लगता है, दोनों ही के कार्य प्रकाश और शक्ति से भरे है। अँधेरी रात में उडता-फिरता जुगनू कुछ क्षण के लिए मन का मनोरंजन कर सकता है; पर न तो उससे प्रकाश होता है, न ताप ही। उसके प्रभाव से न तो फुलवाड़ियो मे वसन्त हो आता, न फलो में परिपक्वता। उसी प्रकार छंदयुक्त रचना वा निम्नश्रेणी की कविता से कुछ क्षण के लिए हमारा मनोरंजन हो सकता है; उसकी गुन-गुन करनेवाली शब्दावली

हमारे कानो को कुछ मधुर लग सकती है, पर सच्चा और उच्च काव्य ही हमे ज्ञान का प्रकाश दे सकता है, हमारे तडपते हृदय को सौन्दर्य का सुखद ताप दे सकता है। हमे काव्य पढना चाहिए, गहरी नीद मे सोने के लिए नही, नशे में चूर हो बेहोश होने के लिए नही, बरन पूर्ण जाग्रत हो एक विशद स्वप्न देखने के लिए, इस जीवन के विस्तार मे और कटकाकीर्ण जगल मे एक परिष्कृत मार्ग पाने के लिए।

यदि ऐसा न हो तो काव्य, काव्य नही, वह कोई अलंकृत भाषा हो सकता है, कोई तोतली बोली हो सकती है, कोई शब्दपुज हो सकता है, कोई स्वर-शृंखला हो सकती है, लेकिन काव्य नही, प्रकाश नही, सौन्दर्य नही, जीवनामृत नही।

वीरेन्द्र श्रीवास्तव

मृत्युदेव

ओह! यह कैसा भोला भाला है! अभी नया नया इस संसार में आया है। कैसी छोटी चचल बाँहे और कैसी ममता भरी आँखे! एकटक देख रहा है। सोचता है, एक बार में ही सारी दुनियाँ को आँखो में भर लूँ। नया अकुर है; नया पल्लव है; नया मुकुल है। अभी इसे दुनियाँ देखनी है। इसे क्या पता कि मै भी कोई दुनियाँ मे घूमता रहता हूँ। अच्छा इसे ले चलूँ कि नही? इसकी चचल देह को शान्त करूँ कि नही? इस अकुर को यही रौंद दूँ कि नही? इस पल्लव को यही मसल दूँ कि नही? इस मुकुल को यही म्लान कर दूँ कि नही? अरे, यह क्या कहता है! "मै तो अभी आया ही हूँ। अभी कल तो मुझे यहाँ स्वर्ग से भेजा गया। मैंने अभी कौन सा संसार का सुख उठाया है जिससे कि तू मुझे उठा लेना चाहता है। मुझ निरीह शिशु से तेरा क्या पेट भरेगा, क्या उपकार होगा? मुझे छोड़ दे। जरा आस-पास खड़े होनेवालो की तरफ तो देख। जरा माता-पिता की आँसू भरी चिन्तित आँखो को तो देख। उन पर रहम खा। उनकी आशाओ पर पानी न फेर। उनको देखकर तो स्वयं क्रूरता भी पिघल पड़ेगी; पाशविकता भी भोली बन जायगी; निर्दयता भी सहम उठेगी। क्या दुनियाँ में मै ही अकेला बचा हूँ जिस पर तेरी दृष्टि पडी है। इतने बूढे खाट तोड़ रहे है, इतने पापी ऊधम मचा रहे है, इतने नास्तिक मेरे बनानेवाले की खिल्ली उडा रहे है। उनको छोड़कर भला मेरी ही तरफ तू क्यो हाथ पसार रहा है? शायद तूने समझा हो कि मुझे अपने जीवन से मोह नही, क्योकि मै अभी अपने पिछले जन्म की कड़वे अनुभवो से भरी कहानी नही भूल पाया हूँ और यह सोचकर आया हूँ कि संसार दुःखो मे भरा पडा है; इससे छूटना

मेरा उद्देश्य है। परन्तु यह बात ठीक नही। तू भ्रान्ति मे है। इस संसार म पैदा होने मे ही न जाने कौन सा जादू है कि वह मोह और ममता को सबसे पहले ला खडा करता है। अगर इस पर विश्वास न हो तो एक बार स्वय पैदा होकर देख ले। फिर यह तुझे भ्रम कभी न होगा और शायद तू मुझ जैसो से फिर उतना ही प्यार करेगा जितना कि ये मेरे पास खडे लोग मुझसे कर रहे हैं। यहाँ आने से पहले तो मेरा विचार अवश्य था कि मै इस संसार को जल्दी से जल्दी छोडकर चला जाऊँगा; पर अब तो कुछ हालत ही बदली नजर आती है। अब तो यह संसार स्वर्ग से भी भला मालूम हो रहा है । कैसा मनोहर दीख रहा है! ऐसा लाड़-प्यार तो मुझे कभी नसीब न हुआ था! अच्छा हो कि मुझे एक बार इसका सुख ले लेने दे, अंकुर बढ लेने दे; पल्लवों को हरा-भरा हो जाने दे और मुकुल को खिल लेने दे। फिर तेरी मर्जी जब चाहे ले जाना।"

कैसी भली बाते कर रहा है। यह कैसी बढिया फिलासफी छाँट रहा है। मैंने समझा था जरा सा बच्चा है, इसे उठा लेने मे कितनी देर लगेगी। इसके पास भला कौन सी युक्तियाँ होगी जो यह मुझे अपना काम करने से रोक सकेगा? पर मै तो देखता हूँ कि इसने ऐसी खासी युक्तियाँ दे दी है कि मै भी चकरा गया हूँ। तो क्या इसे छोड दूँ? नही; अगर ऐसे ऐसे बच्चो की युक्तियाँ मुझ पर असर कर गई तो फिर मुझे अपना डेरा-डंडा उठाकर कही और धूनी रमानी पडेगी। इस दुनियाँ मे तो कम से कम गुजर न हो सकेगी। जब यह जरा सा बच्चा ऐसी मार्के की बाते करता है तो उन बूढे खूसटो का तो पूछना ही क्या जिन्होने सारी उमर दुनियाँ को उल्लू बनाने मे कोई कसर नही छोड़ी—— जिनका सारा समय ही धोखेबाजी में गया है! वे तो पास पहुँचते ही मारे सवालो के मेरी नाक मे दम कर देंगे; नस-नस ढीली कर देंगे और ऐसी धता बतायेगे कि चारो खाने चित होने के सिवाय और कोई रास्ता ही न रहेगा। अच्छा तो फिर अपने को मजबूत बनाया जाय। मेरा नाम मृत्यु है। कैसा नाम है! एक बार सुनते ही बच्चे की तोतली बन्द

हो जाय; जवानी का खून ठण्डा पड जाय और वुड्ढे को अपनी टाँग कब्र में दीख पडे। अच्छा तो बच्चे सँभल जा। एक वार फिर दुनियाँ देख ले। अभी तो तूने इस ससार में किया ही क्या है जिसके लिए डरता है? चल, मजे से चल। इस ससार के झंझटो से तुझे जल्दी ही छुट्टी दिला देता हूँ। आस पास खडे होनेवालो की तू फिक्र न कर। ये तो दो दिन आँसू बहा लेंगे और तीसरे दिन मैं सच कहता हूँ—काश कि तू जिन्दा रहकर यह देख सकता—ऐसे बन जायेंगे जैसे कुछ हुआ ही न हो। वही हँसी-खुशी, जो आज से दो तीन दिन पहले थी, आ जायगी।

हाँ, तूने पूछा था कि मै तो बच्चा हूँ, इतने वुड्ढे खाटो पर पडे है; उन्हे क्यो छोड़ आया हूँ। अगर सच पूछो तो मुझे उन वूढो से नफरत सी है। मै उनके पास जव जाता हूँ, वे जोर से खाँसने लगते है। न जाने कितने दिनो तक मुझे टालते रहते है। और फिर ऐसे लोगों के उठा लेने मे मुझे मजा ही क्या? उन्हे तो खुद उठना ही है। आज नही, चार रोज वाद सही। मुरझाये फूल को गिरना ही है, उसको गिराने मे क्या मजा! और फिर तू तो स्वर्ग की उपज, देवताओ का प्यारा, तुझे न लूँ तो और किसको लूँ? ऐसा सौन्दर्य, ऐसी ममता छोडकर भला वूढे को, जिसे देखकर कुरूपता भी घवडाकर भागे और निर्ममता भी अपना पिंड छुडाने की कोशिश करे, अपनाने मे मुझे क्या आनन्द? इस ससार मे तुझ जैसे अवोध शिशुओ का काम नही। यहाँ तो एक से एक पक्के खिलाडी, एक से एक रँगे सियार, एक से एक दुनियादार की आवश्यकता है। अच्छा चल चलें।

× × ×

मेरा काम कैसा भयकर है। मैने सुना है दुनियाँ में लोग सिकन्दर, नैपोलियन, चगेज खाँ और नादिरशाह का नाम सुनते ही कान पर हाथ रखने लगते है मानो कोई वडी पाप भरी कहानी सुन रहे हो। नीरो और औरगजेव का नाम अव भी लोग वडे डर से लेते है और भगवान् को धन्यवाद देते है कि उनके समय न हुए। युद्ध और लडाई मनुष्य जाति

को बड़े अप्रिय मालूम होते है। रोज चर्चा होती है कि किसी तरह इनका दुनियाँ के तख्ते से नामो-निशाँ मिटा दिया जाय। युद्ध की समाप्ति के लिए नये युद्धो की भूमिका होती है और यह भ्रान्त चक्र बराबर चल रहा है। और तो और, जंगल में शेर और चीते भी कँपकँपी पैदा कर देते है। यह सब क्यो? ध्यान से यदि सोचा जाय तो यह सब मेरे ही कारण से। मै इस संसार मे न रहूँ, यह लोगो की बड़ी प्रबल अभिलाषा है। सुना है, कई वैज्ञानिक मरो को जिन्दा करने की कोशिश में लगे है। पर बच्चो! याद रखना, यह तुम्हारा सब प्रयत्न सफल न हो पायेगा। तुम चाहते हो कि मजे भी मारते जायँ और किरकिराहट भी न लगे? यह कैसे हो सकता है? मैंने सुना है, विज्ञान का सबसे बडा सम्राट् 'नियम' है। मरना भी तो एक अपरिहार्य 'नियम' है। तो यह कैसे हट सकता है? हाँ, उनकी वात मुझे कुछ समझ मे भी आती है जो मरकर अमर होना चाहते है; क्योकि वे पहले मरना तो चाहते है; मेरे राज्य के निवासी तो बनना चाहते है, और मेरी हुकूमत से इनकार तो नही करते। मरने के बाद वे अमर हो जाते है इसमें मुझे सन्देह तो अवश्य है पर इससे मुझे क्या? अगर वे जमीन पर जीवित रहने की धृष्टता रखते होगे तो देख लूँगा। पर मुझे किसी ने बताया है कि वे पृथ्वी पर नही आना चाहते---अर्थात् शरीर धारण नही करना चाहते। यह तो प्रसन्नता की वात है। मेरा काम कुछ हलका हो जायगा। अच्छा है, ऐसा सभी प्रबन्ध कर ले। पर वे सब मेरी महत्ता को तो मानते ही ह।

नैपोलियन, नादिरशाह आदि से सब भय खाते है मगर वे नेपोलियन आदि---जब कि मै उनकी छाती पर चढ बैठता हूँ---कैसे काँपते है? उनकी आँखो के सामने सारे पुराने कारनामे खूनी अक्षरो मे लिखे हुए आ जाते है। कैसा आश्चर्य है! मुझे देखकर वे लोग इस वात से डरते है कि उन्होने मेरी सहायता की थी और परमेश्वर से क्षमा-याचना करते ह कि आगे से किसी को मारेगे नही। चाहिए तो यह था कि वे मुझे देखकर खुश होते और कहते कि हमने तुम्हारी कितनी सहायना की और मेरे

'प्रेमपात्र' बनने का प्रयत्न करते; किन्तु वे भी तो मेरी सूरत से भयाक्रान्त हो उठते है; मेरी भयकरता का अनुभव करते है। पर मै क्या सचमुच भयकर हूँ? कुछ भी ठीक ठीक कह नही सकता। कम से कम कुछ लोग अवश्य है जो मुझसे प्यार करते है। लडाई में लडनेवाले बहादुर या तो दूसरे का गला उडा देते है या अपना गला दे देने की बात करते है। वियोगी अपने साथी से प्रेम बताने के लिए अपनी मौत पसन्द करते है। ससार को घृणा की दृष्टि से देखनेवाले मेरे साथ खिलवाड करने में हिचकते नही। निराशा के बादलो से घिरे हुए को एक मेरी ही आशा रहती है। जो हो पर अधिक आदमी मुझे भयंकर ही समझते है; और तो और अपाहिज से अपाहिज, कोढी, बूढे, बीमार, भूखे तक चाहते है कि किसी तरह मेरे पल्ले न पडें, चाहे उनकी हालत कितनी नाजुक हो जाय। अच्छा तो मै भयकर ही सही।

आज मुझे इसी भयंकरता का परिचय देना है। विधाता ने लिखा हुआ है कि आज मुझे एक हँसमुख नौजवान को, लहलहाते पत्ते को, खिलते फूल को संसार से उठाना है। चलते है। देखें उसकी क्या हालत होती है।

"अरे कितना सुन्दर जवान है; कैसा खिलखिलाता चेहरा है! लोग कहते है, कमल बडा सुन्दर होता है। चाँद जैसा मुखडा तो सबकी जबानो पर सुनाई देनेवाला मुहावरा ही है। पर यह तो कमल और चाँद से सुन्दरता मे कोसो आगे बढा हुआ है। कितने डील-डौलवाला और मजबूत जवान है! इसके साथी कितने तल्लीन और मुग्ध होकर इसके चारो ओर मँडरा रहे है; अपनी प्रेम-कहानी बडे चाव से मूक भाषा में सुना रहे है। पर इन्हे क्या पता कि इनसे भी अधिक इससे प्रेम करनेवाला कोई और है जो इनके हाथ से इसे हमेशा के लिए छीन ले जायगा? ये थोडे दिन सिसकेंगे, रोयेंगे, परमेश्वर के दरबार में फरियाद करेगे पर फिर वही चाँदनी रात होगी और ये किसी और पर मँडरा रहे होगे। अरे दुनियाँ के लोगो, तुम्हे क्या लज्जा नही आती कि तुम जिससे प्रेम करते हो

वह तुमसे छिन गया और फिर भी तुम उसी पथ के पथिक बने जा रहे हो! क्या इस पथ के अतिरिक्त कोई और पथ नही दीखता? सचमुच नही दीखता होगा और दीखता भी होगा तो आखिर हो तो सांसारिक पुरुष ही, कोई वेद उपनिषद् बनानेवाले ऋषि महर्षि तो हो नही! अच्छा भाई, तो इसमे मेरी ही गलती सही कि मैंने तुम्हारे स्वभाव को और वाधा को बिना समझे-बूझे तुम्हे बुरा-भला कह दिया। हाँ, तो फिर इस युवक को तो अब तुम मुझे ही दे दो। अब तो मेरी आँख इस पर गड़ चुकी है। अरे, ये तो आपस मे मखौल कर रहे हैं कि हम जैसो का मौत कर ही क्या सकती है! हम इतने हृष्ट पुष्ट, चढती उमर के नौजवान और कहाँ वे बूढे सिसकते कमजोर आदमी, जो मौत के शिकार वनते है! इनकी बात सुनकर गुस्सा तो इतना आता है कि इनकी अभी जीभ निकाल कर बोलती बन्द कर दी जाय पर साथ इनकी नासमझी पर तरस भी बडी आती है। तो मै अपना काम शुरू करूँ।

दुनियाँ के कारीगरो के पास बडे अच्छे अच्छे औजार अपने काम तैयार करने के लिए होते है। मै भी अपने औजारो पर एक निगाह डाल लूँ कि कौन सा आज काम आयेगा। मुझे अपने उपकरणो को तो कोई खास तैयार करने की आवश्यकता भी नही। मेरे पास ऐसे अनेक अचूक साधन है जिनको उँगली का इशारा ही काफी है। देखते ही काम तमाम हो जाता है। मेरे पास हैजा, प्लेग़, निमोनिया और इसी तरह के अनेको ऐसे अव्यर्थ साधन है जिनके प्रयोग मे आते ही दुनियाँ के सब कारीगर चकरा जाते है। उनकी अक्ल काम नही देती कि इतनी जल्दी से कैसे सबकी सफाई हो जाती है। अच्छे कारीगरो के अच्छे से अच्छे औजार इनके मुकाबिले में कोसो पिछड़ जाते है। ये तो मैंने थोडे से ही साधन गिनाये है। मै तो दुनियाँ की जिस चीज को चाहूँ उसी को अपना साधन बनाकर काम मे ला सकता हूँ। वैज्ञानिक लोग मेरे बड़े पक्के दोस्त बन रहे है—कोई ऐसी तोप बना रहा है जो सैंकडो मील की दूरी से ही ऐसी मार करे कि सारे शहर का सफाया हो जाय। कोई ऐसी गैस बना रहा

है कि जिसके फैलते ही आदमी तो क्या छोटे छोटे कृमि भी महानिद्रा में बेसुध हो जायँ। 'ऐटम बम' और 'हाइड्रोजन बम' बनाकर तो उन्होंने अपने विध्वसात्मक विज्ञान की पराकाष्ठा दिखला दी है। सक्षेप में हर तरह से वे मेरी बडी सहायता कर रहे हैं। साथ ही मजा तो इसमें है कि वे मुझसे भी बचने की कोशिश करते हैं। चाहते है कि दूसरो को मेरे हवाले करके स्वय चैन की बंशी बजायें। पर उन्हे पता नही कि वे स्वयं कॉच के मकान मे खडे होकर दूसरो पर ढेले फेक रहे हैं। अच्छा, तो मै अपना कौन सा हथियार चलाऊँ? इसका साथी बडा डाक्टर बनने की धुन मे है तो उसकी ही परख क्यो न कर ली जाय कि वह कितने पानी में है? अभी हैजे का ताजा पाठ याद करके आ रहा है। तो हैजे से ही इसकी परीक्षा लेता हूँ।

हैजे ने मेरा काम प्रारम्भ कर दिया है। साथी डाक्टर के तो 'सिम्पटम' देखते ही होश गुम हो गये है। परेशानी मे है, क्या करे? बड़े बडे नामी डाक्टर और कविराज अपने सूची-वेधो और राम-बाणो का प्रयोग करके हार रहे है। सभी को मेरा भयंकर स्वरूप सामने दीख रहा है। सब बडे सोच विचार मे पडे हैं कि मुझे कैसे खुश किया जाय। पर घूस तो तब चले जब कि मै स्वय इतना बेईमान हो जाऊँ कि अपना काम छोड दूँ। यह बेचारा सिसकता बीमार खुद हाथ जोड रहा है, विनती कर रहा है कि "मैने कौन से पाप किये हैं जिनका यह फल है। मै तो अभी दुनियाँ में पैर रख ही रहा था। बड़ी बडी अभिलाषाएँ बना रहा था। न जाने कितने लोग मुझ पर आशाएँ बाँधे हुए थे। अपने जौहर तो मुझे अभी दिखाने थे। लोगो से वाहवाही लेनी थी। भाई, मुझे इतनी जल्दी क्यो उठा रहे हो? यह सुख-स्वप्न पूरा हो लेने दो। मुझे कुछ साल और इस संसार मे रह लेने दो। जरा इन पास खडे हुओ पर दया करो। और नही तो उस बेचारी पर तो जरा रहम खाओ जिसने अभी मुझे अपना सर्वस्व बनाया है, और भविष्य में होनेवाले नाना सुखो का जाल तना है। यह विधवा हो जायगी। ससार की दृष्टि मे यह अभागिनी और कलकिनी

बनकर दुत्कारी जायगी। आज की रानी कल दर दर की भिखारिन हो जायगी। इसने क्या किया है जो इसे सता रहे हो? अरे, उन बूढों की तरफ तो जरा देखो। उनकी बुढापे की लकड़ी को छीनकर तुम्हारा क्या भला होगा? और इन चारों तरफ खडे मेरे मित्रो का क्या होगा? ये बेचारे तो बिना मारे ही वियोग की आग में जलकर राख हो जायँगे। मुझे तुम चाहो तो मैं तुम्हारे साथ चलने को किसी तरह तैयार भी हो लूं पर इन बेचारो ने कौन-सा अपराध किया है जो इन्हें ऐसे ही छोड़ जाऊँ। मुझे कुछ दिन और रह लेने दो। जब सबका सहारा लगा दूं, मुझे आकर ले चलना।"

"नही भाई, नही। तुम्हारा तर्क जरूर कुछ जोर रखता है, पर मै तुम्हे छोड नही सकता। तुम यही तो चाहते हो कि तुम्हारे कारण इन्हे कष्ट न हो। यह तुम आगे चलकर देख लोगे कि तुम भ्रान्ति मे थे। और फिर तुम्हारी युक्ति तो हरएक पर लग जायगी। जब इन बूढो को मैं लेने आऊँगा तो ये कहेगे कि मेरे बच्चे को क्यो कष्ट दे रहे हो—मुझे इसके लिए जी लेने दो, नही तो बेचारे बच्चे को शोक खा जायगा। तुम्हारे सभी मित्र तुम्हारे लिए ही यह संसार न छोडना चाहेगे। अगर हरएक की इच्छा मै इस तरह पूरी कर दूं तो फिर मै कहाँ चला जाऊँ? तो भाई, अब तैयार हो जाओ। आओ चले।"

× × ×

'अगर मै न होता' यह प्रश्न दुनिया के हर एक आदमी मे, जिसका दिमाग सही-सलामत है, अवश्य उठता है। जब कभी उनके आस पास मेरा प्रहार होता है तो वे कुछ देर के लिए चौक पड़ते है—और बडे गौर से देखने लगते है कि कही वे भी मेरे चंगुल मे आने तो नही लगे। उन्हे यह विचार आते ही कि लाख सिर पटकने पर भी वे मेरे जाल से न बच सकेंगे, डर लगने लगता है। उनके सामने एक बार वही अवस्था अपने विपय मे चित्रित हो जाती है जिसे कि वे मेरे हाथ मे पडे अपने निकटवर्ती की देखते है। इस जगत् मे मै चाहे कितना तूफान मचा लूँ, कितनों पर

आफत के पहाड ढा दूं, कितनो को रसातल पहुँचा दूं, और कितनो को मिट्टी मे मिला दूं; पर उनके लिए यह सब परिवर्तन रत्ती भर भी महत्त्व नही रखता। उनके कान पर जूं भी नही रेंगती कि मैं भी कोई हूँ। पर ज्योही उनके आस-पास के किसी लगते-पडते पर मैं अपना हाथ अजमाता हूँ कि वे सहम उठते हैं, चौकन्ने हो जाते हैं और तिल का ताड बनाने मे कोई कसर नही छोडते। तब तो सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अब तक की होनेवाली मेरी गुण-गाथाओ को सुना छोडते है। पर कुछ दिन बाद या उससे पहले वे मेरा ख्याल तक नही करते। अगर वे सचमुच मेरा ख्याल करते तो इस तरह जिन्दगी न बसर करते जिस तरह से वे अब करते रहते है। किसी को अपने पास से उठते ही वे कहते हैं कि विधाता करता कि मरना न होता। तो क्या मै यदि सचमुच न होता तो विश्व का कोई कल्याण हो जाता? प्रारम्भ में आभास अवश्य होता है कि अगर मैं न होता तो कितने आराम की नीद दुनियाँ लेती, कितनी चैन की वशी बजती! यह दिन भर का रोना-धोना हमेशा के लिए मिट जाता। और यदि सचमुच ही ससार का लाभ हो तो मैं आत्म-बलिदान भी कर सकता हूँ—चाहे कितनी ही मेरी अनिच्छा हो—कम से कम इस विषय पर विचार तो कर सकता हूँ। पर वास्तव मे तो यह बात नही। यदि सचमुच मै न होता तो दुनियाँ के मजे तमाशे और बची खुची खुशी भी समाप्त हो जाती। जब किसी को मरना ही नही तो खाने-पीने के कष्ट की भी जरूरत क्या? खैर, खाने-पीने मे तो बडा मजा है पर इस मजे के लिए कड़कती धूप मे हल कौन चलाता, बरसात में भीगता हुआ निराई कौन करता, और कड़ी सर्दी मे खेत कौन रखाता? ये सुन्दर-से-सुन्दर भडकीले कपडे कहाँ से आते और यह मजदूर-पूंजीपति का सवाल कहाँ होता? न केवल मजदूर-पूंजीपति पर गुरु-शिष्य, राजा-प्रजा, पिता-पुत्र कोई न होता। सदाचार किस चिडिया का नाम है, इसे कौन जानता। अब तो मै सब की गर्दन पर सवार हूँ इसलिए सबको कुछ पुण्य-कर्म की फिक्र बनी ही रहती है और कर्म-फल जीवित जागृत

मालूम होता हूँ। अर्थात् संक्षेप मे मै न होता तो यह दुनियाँ न होती। अरे, मेरा रहना संसार के लिए कितना आवश्यक है! और फिर जो लोग लँगडे, लूले, अपाहिज, कोढी, भूखें, बीमार है उनको कौन पूछता? उनको दुनियाँ में तो कोई पूछता नही; मै ही उनका एक सहारा हूँ--चाहे वे इस उपकार को घोर अपकार भले ही समझे। ये लोग कितने मूर्ख है; उन्हे यह समझ मे नही आता कि मेरी गोद मे आना उनके लिए श्रेयस्कर है इसकी अपेक्षा कि वे बाहर सडते रहे और ठोकरे खायँ।

देखो सामने एक बूढा पड़ा है। सालो से दमा और खाँसी का शिकार है। सारा दिन और रात खो-खो करके गुजारता है। देखने मे ऐसा लगता है जैसे श्मशान से किसी ने हड्डियाँ इकट्ठी करके उन पर चाम मढ दिया हो। शरीर का एक एक अंग शिथिल हो चुका है। खाने को दिन भर माँगते-माँगते भी कुछ नही मिलता। पेड के तने के साथ दिन भर लगा बैठा रहता है। बाप-दादो के जमानो के कुछ चिथडे ओढे हुए है। सौभाग्य से कोई टुकडा डाल गया तो खा लिया नहीं तो किसी तरह पेट दबाकर सो रहा! दिन भर बेचारा अपने भाग्य को कोसता रहता है कि क्यों नही मै आकर उसके कष्ट हटा देता। पर बेचारे को पता नही जब मै उसके सामने पहुँचूंगा तो उसकी क्या हालत हो जायगी। चलूँ आज इसी की बारी है। इसे देखकर तो इसके पास जाते अच्छा नही लगता है, पर क्या करे? जाना ही होगा। अच्छा बढ्ढे, चल; मै आ गया हूँ। तू मुझे बड़ी देर से याद कर रहा था।

"है, मैंने तुझे कब बुलाया! मै कोई बड़ा आदमी नही; मेरा कोई मकान नही जो मै तुझे निमन्त्रित करता। स्वय मेरे पास तो कुछ है नही, तुझे क्या दूंगा? मै तो हूँ ही तेरी प्रजा, आज नही कल तू मुझे पकड़ ही लेगा। पर यह तो बता, मुझे ले चलने से तेरा होगा क्या? तू मेरा उपकार करने आया है कि मुझे कष्ट न हो, पर सचमुच तुझे देखकर तो ये सारे कष्ट भी स्वर्ग के सुख लगते है। मै तेरे दर्शन नही करना चाहता। अच्छा हो, तू चला जा। कम से कम उन लोगो को तो कुछ और

धर्म कमा लेने दे जो मुझे राह चलते पैसा दो पैसा दे जाते है। कुछ मुझे अभी और दुनियाँ देख लेने दे। मेरे लडके चाहे मुझे भले ही दुत्कार चुके है पर कम से कम कभी मेरी आँखो के आगे तो आकर कुछ सुख दे जाते है, शायद कुछ दिन और मेरी हालत खराब हुई तो कही दयार्द्र ही न हो जायँ? उन्हे दयार्द्र बनकर कुछ पिता की सेवा से धर्म कमाने का तो अवसर दे। सच्ची बात यह है कि मै अभी यहाँ से नही जाना चाहता।"

"ओह! यह बुड्ढा भी कैसी बाते करता है! अब भी मोह ममता नही छोडता, कहता है कि मुझे उठा लेने से क्या लाभ? पर बुड्ढे, मैं तो तेरा लाभ और दुनियाँ का लाभ करने के लिए ही तुझे लेने आया हूँ। देख, तू उठ जायगा तो इस ससार का एक कमजोर, अयोग्य आदमी चला जायगा और तू उठकर फिर नया चोला लेकर उन सुखो को पायगा जो तू अब लाख कोशिश से भी नही पा सकता। और तुझ पर तो बुड्ढे, मेरा अधिकार है। तुझे तो मै अपने सामान्य अधिकार से ही ले चलूंगा। अच्छा आ चल चले।"

× × × ×

आज मेरा सारा गर्व चूर हो गया। मुझे मालूम हो गया कि मेरी वास्तविक सत्ता क्या है। ससार मे इस प्रकार मेरे स्वरूप को समझने-वाले विरले ही व्यक्ति है। सामान्य रूप मे यही समझा जाता रहा है कि जीवन-शक्ति का ह्रास अन्त मे मेरे आने का कारण होता है। यदि इस जीवन-शक्ति को कायम रखा जा सके तो मै शायद चिरकाल के लिए विलीन हो जाऊँ। इसके लिए अनेको प्रयास होते रहे है और हो रहे है। पर अब तक मेरी विभीषिका इस विश्व से न जा सकी। पर आज तो मुझे एक अपूर्व व्यक्ति का सामना करना पडा। उसकी दृष्टि मे मै एक तुच्छ-सी घटना हूँ। अमर आत्मा के साथ शरीर का सम्बन्ध जन्म है और उस शरीर का विच्छेद-मात्र मै हूँ। यह स्वल्पकाल का विच्छेद उस अनन्त अमर शक्ति के सामने है तो बहुत नगण्य सी बात; पर अविद्या

के आवरण ने उस अमर आत्मा और शरीर को एक बनाकर शरीर के विनाश को 'आत्म-विनाश' बना दिया है और मुझे इतना महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान कर दिया है। वह व्यक्ति जीवन-शक्ति को अपनी देह मे नही समझता अपितु अपनी शाश्वत आत्मा के चिरन्तन प्रवोध में। उसने उस अमर ज्योति को अपने मे जगाकर मुझे अन्धकार के एक कण की तरह दूर फेक दिया। मैं तो उसके पास जाने का साहस ही नही कर सकता था। उसकी उज्ज्वल आभा और स्फूर्ति-दायी मुसकराहट के सामने मैं टिक ही नही सकता था। वह फाँसी के तख्ते पर मेरा आह्वान कर रहा था। देश और जाति के लिए अपने प्राणो को निछावर करने के लिए वह उतावला हो उठा था। देश की राजसत्ता की दृष्टि मे उसने विद्रोह का बीज प्रजा मे बोकर अक्षम्य अपराध किया था और उसका एकमात्र प्रतिकार था फाँसी पर चढा देना। उसे लोगो ने समझाया--'क्षमा माँग लो। अपनी वाणी से एक बार कह दो, मुझे माफ करो। सिर को एक क्षण के लिए नीचे झुका दो और अपने आश्रित परिवार को काल के गाल मे जाने से रोक लो।' राजसत्ता ने भी अप्रत्यक्ष रूप मे सब सुविधाओं का, यहां तक कि सम्मानास्पद पद-प्राप्ति का, प्रलोभन भी पेश किया पर वह न झुका तिल भर भी न झुका। उसका मस्तक और गर्व से ऊँचा हो गया। बधिको को ढकेलकर उसे ले जाने की आवश्यकता न पड़ी। वह स्वय कूदता-फाँदता फाँसी के झूले पर झूलने के लिए आ चढा। मेरे विस्मय का कोई ठिकना न रहा। खुशी से उसने मुझे पुकारा, ठिठकने पर ललकारा और हिचकने पर मुझे बढावा दिया। मैंने बहुत चाहा कि मैं क्यो अनिच्छा से उसका वरण करूँ जब कि सारा देश उसे चाहता है। मोह ममता की मेरी सारी युक्तियाँ फेल कर गईं। वह गीता और उपनिषद् का क्रियात्मक विद्यार्थी मुझसे कह उठा कि "तुम मेरा क्या कर सकते हो; मै अच्छेद्य हूँ, अदाह्य हूँ, अविनश्वर हूँ। आओ, तुम्हे इस चोले का दान करता हूँ और नवीन काया-वस्त्र धारणकर अपनी मातृभूमि की पुनः सेवा के लिए उद्यत होता हूँ।" मेरे लिए कोई दूसरा विकल्प न रह

गया। कोई और चारा न था। मैंने उसकी देह को काँपते हुए स्पर्श किया। उस तक मेरी पहुँच कहाँ? वह बन्धन छिन्न कर बन्धन-मुक्त हो गया और सबको मुक्त बनाने के लिए मुक्त हो गया। आज मेरी आँखें खुल गईं। जाति, धर्म, देश, और अपूर्व आदर्श की लगन में झूमते लोगों के लिए मैं कुछ न हूँ, कुछ हूँ तो उन लोगों के लिए जो मुझे समझते नहीं। इस आत्म-बोध और आत्म-परिचय के लिए उन महापुरुषों को शतशः धन्यवाद।

जगन्नाथप्रसाद मिश्र

कला एवं धर्म

भारत की प्राचीन शिल्पकला के सम्बन्ध मे रोमा रोल्याँ ने लिखा है "ऐक्य का आदर्श ही भारतीय शील-साधना का मूल तत्त्व है। श्रेष्ठ सौन्दर्य के वीच विज्ञान एवं धर्म मानो एक ही सत्ता के आश्रित है। विचित्रता के भीतर ही एकता एव जीवन की गम्भीरता उपलब्ध होती है। अनेक के वीच ऐक्य-साधन का जो आदर्श भारतीय साधना में निहित है, वह मनुष्य की जीवनधारा को एक नूतन छन्द से परिपूर्ण करके ऐक्य की ओर ले जाता है। विपरीत विषयो का समन्वय ही मनुष्य के जीवन में सच्चे अर्थ मे छन्द की सृष्टि करता है। वह सर्वमय छन्द ही भारतीय चित्रकला, स्थापत्य एव भास्कर के वीच अपूर्व भाव से प्रस्फुटित हो उठा है।"

प्राचीन युग के शिल्पी असख्य देव-देवियो की मूर्त्तियाँ कठिन पाषाण-गात पर अकित कर गये है। उन्हे इसके लिए प्रेरणा कहाँ से मिली ? वह कौन सा उत्स था जिससे प्राणरस सचय करके उन्होने विराट् एव असीम की कल्पना की और उसे ही रूप दिया अपनी चित्रकला एव मूर्त्ति-कला मे ? छाया की, अमूर्त्त की कल्पना का आश्रय लेकर किस प्रकार इतने रंग-ढंग, रूप और रस का समारोह सभव हुआ ? अजन्ता, एलोरा की गुफाओ मे असख्य देव-देवियो की मूर्त्तियों और आबू पहाड की चित्रा-वली को देखकर मन सम्भ्रम, विस्मय एव श्रद्धा से उच्छ्वसित हो उठता है। चित्रकला मे लालित्य का इतना बड़ा प्रकाश और कहाँ मिल सकता है ? किस देश की अतीत या आधुनिक चित्रकला मे इस प्रकार की सूक्ष्म आलंकारिक निपुणता, इस प्रकार की गम्भीर व्यजना, भाव एवं रस के साथ वर्ण-सुपमा का ऐसा समन्वय मिल सकता है ? एलोरा की गुहा मे प्रवेश करते ही मन मे एक श्रद्धायुक्त विस्मय का भाव उदित हो उठता

ह। कितनी सुन्दर है वे मूर्त्तियाँ! भारत की ये कितनी आश्चर्य-कीर्तियाँ है!

भगवान् ने गीता में कहा है—"यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।" यह सृष्टि भी तो भगवान् का ही प्रतिविकास है इसलिए वह इतनी विराट्, विचित्र एवं नयन-मन-अभिराम है। मनुष्य ने अपने ऊर्ध्व जिन देव-देवियो की कल्पना की है उनका रूप भी तो वैसा ही होना चाहिए। नगण्य मनुष्य भी देवता की कल्पना करके देवता बन जाता है। एलोरा की मूर्त्तियो को देखकर मन में दिव्य भाव की प्रेरणा जगती है। विपुल पाषाणखण्डो को काटकर कितना अमानुषिक प्रयास इन शिल्पियो ने किया था! और यह भी दस-पाँच वर्षों के लिए नही। शताब्दियो तक मूर्त्तिगठन की यह साधना चलती रही। कला के इन उपासको ने एक अक्षय आनन्द मे सुन्दर की आराधना की थी। एक-एक मूर्त्ति कितनी विराट् है। पहाड़ को काट कर यह खोदाई उस युग के लिए कितना दुस्तर कार्य है। बुद्ध, महावीर, शिव, पार्वती, गंगा, यमुना तथा अन्य देवियो की मूर्त्तियाँ। रामायण, महाभारत की कितनी कहानियो को इस रूप में ये शिल्पी उत्कीर्ण कर गये है।

भारतीय शिल्पियो को शिल्प-सृष्टि की यह प्रेरणा धर्म से ही मिली थी। वह धर्म नही जो बाह्य आचार-अनुष्ठान तक ही सीमाबद्ध रहता है और जो तामसिकता का परिपोषक है। वह धर्म है, जो हमारी अन्तर्दृष्टि को उदार बनाता है और जिसका आलोक हमारे अन्तर-मन को उसी प्रकार आकर्षित करता है जिस प्रकार चुम्बक लोहे को। तभी तो प्राचीन युग मे, देश-देश मे, धर्म के उच्छ्वास-परिमण्डल मे कलासृष्टि की महती प्रेरणा जागरूक हुई थी। क्या शिल्प, क्या संगीत, क्या दर्शन, क्या काव्य और भास्कर्य मे प्रति अवतार या महापुरुष के अभ्युदय के बाद ही एक-एक जाति के प्राणों में सात्विक एव राजसिक आलोक दीप्त हो उठा है। भारत, चीन, जापान, यूरोप, अरब, फारस, स्पेन इन सब देशो में एक-एक अवतारी महापुरुष, बुद्ध, ईसा, कनफूसियस और मुहम्मद के बाद साहित्य,

संगीत, दर्शन एवं कला के क्षेत्र में सृष्टि से अदम्य प्रेरणा लेकर शिल्पी एवं कलाकार कला-सृष्टि करते एवं आलोक के आनन्द का गान गाते देखे गये है। युग-युग मे धर्म ने ही विशेष रूप से सुन्दर की प्रेरणा उत्पन्न की है और सौन्दर्य की महिमा से धर्म का रूप और भी उज्ज्वल एवं महत् बन गया है। तामसिकता धर्म की प्रगति के युग मे नही आई है— आई है उसकी अवनति के युग मे—ग्लानि के वातावरण में। जरा कल्पना तो कीजिए कि संसार कितना खो देता यदि कृष्ण, बुद्ध, ईसा और मुहम्मद इस जगत् मे अवतीर्ण नही होते; यदि यहाँ केवल नीरो, चंगेजखाँ, तैमूर लंग नादिरशाह, हिटलर और मुसोलिनी का ही जयजयकार होता। युग-युग में धर्म की महती ग्लानि के समय यदि महापुरुषो का जन्म नही होता तो समाज मे सुनीति एव सुन्दर की, शुभ एव कल्याण की आधार-भूमि कितनी दुर्बल होती! यह ठीक है कि धर्म का व्यभिचार हुआ है, उसके नाम पर अन्याय एवं अनीति, कदर्य एवं कुत्सित को प्रश्रय मिला है; जीवन में सुन्दर के छद्मवेश मे असुन्दर दिखाई पड़ा है, देवता के रूप मे दैत्य-दानव। किन्तु उससे क्या? धर्म के असत्प्रयोग से धर्म की महिमा का मूल्य-निरूपण नही किया जा सकता।

प्राचीन भारत के शिल्पियो ने अपने अन्तरतम मे जिस अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव किया था. उसी को अपनी कला-सृष्टियो में मूर्त रूप देने की चेष्टा की थी। आनन्द की, सौन्दर्यानुभूति की जीवन्त प्रेरणा हुए बिना क्या इस प्रकार की सजीव सृष्टि सम्भव हो सकती थी? ये सब मूर्त्तियाँ मनुष्य के अन्तर की दिव्य साधना की कीर्त्ति है। तभी तो उन्होने मानव जीवन की तामसिकता में दैवी ज्योति का दर्शन दिया था, धूसर पहाड़ मे रूप का मशाल जलाया था, पाषाण में सुन्दर की भागीरथी बहाई थी।

केसरी कुमार

जीवन में हास्य-विनोद का स्थान

हँसी अथवा विनोद जीवन का एक महान् वरदान है। क्या आपने अनुभव किया है कि आप उदास है, कोई चीज आपको अच्छी नही लगती, सब कुछ सूना-सूना लगता है, आप बीमार-सा अनुभव करते है और इसी समय आपका विनोदी मित्र आता है और विनोद की एक ही दो फुलझडियो मे आपकी सारी उदासी मिट जाती है आप स्वस्थ हो उठते है, हर चीज सुहानी लगने लगती है, हर काम मे एक नये उत्साह का अनुभव होने लगता है। इटली के हास्यरसावतार ग्रीवाल्डी का नाम कौन नही जानता। उसकी पुस्तके उदास मे उदास व्यक्ति को भी हँसा देती है। मानसिक चिताओंवाले व्यक्ति के लिए तो उसकी रचनाएँ रामवाण औपधि है। सो, एक वार ग्रीवाल्डी की ही तवियत कुछ खराव हो गई। परिवर्तन के लिए वह देहात चला गया। पर वहाँ भी उसकी तवियत अच्छी नही हुई। तव वह एक डाक्टर के पास पहुँचा। डाक्टर न काफी परीक्षा के वाद कहा कि महाशय, आपको कोई रोग नही। आपको केवल दुश्चिता है। अकारण चिन्ता का वोझ मन पर रखने के कारण आप रोगी-सा अनुभव करते है। इसलिए मन से चिता को विल्कुल दूर कर दीजिए और इसके लिए सरल उपाय यह है कि आप ग्रीवाल्डी की कितावे पढिए। पढते ही लोटपोट हो जाइएगा। डाक्टर की वात सुनकर ग्रीवाल्डी इतना हँसा कि उसके पेट मे वल पड गये। और जव डाक्टर को मालूम हुआ कि यह रोगी ही ग्रीवाल्डी है तो वह भी हँसते-हँसते लोट गया।

वस्तुत. हँसी जिन्दगी की तकलीफो का सवसे वड़ा इलाज है, स्वस्थ रहने का सवसे वडा साधन। जव आप दिल खोलकर हँसते है तो एक क्षण के लिए आप अपने सभी दर्दों को भूल जाते है और एक अपूर्व नैसर्गिक

प्रवाह मे तरंगित होने लगते है। इसका एक बड़ा अनुकूल असर आपकी मानसिक और शारीरिक स्नायुओं पर पडता है। हँसी-विनोद मे एक क्षण के लिए आपके मन और शरीर जैसे दु खों और चिंताओ के भार को फेक कर हल्के हो जाते है, और इस एक क्षण की विश्रान्ति मे ही सुस्ता कर नई शक्ति और उत्साह पा लेते है। सही है कि हँसी से हम मुस्तकिल उलझनो वा समस्याओं को उड़ा नही सकते, मगर विनोद मे जो एक क्षण की मुक्ति मिलती है, उससे उलझे मन को राहत जरूर मिलती है। और मानसिक मुक्ति शक्ति का स्रोत होती है। इसलिए ससार के मानसिक उपचार के शास्त्रियों ने एकमत से मानसिक उपचार मे हँसी का महत्त्वपूर्ण स्थान माना है।

हँसी-विनोद न केवल स्वस्थ शरीर का लक्षण है वरन् स्वस्थ चरित्र का भी। व्यवहार मे आप देखेगे कि जो व्यक्ति हँसोड वा विनोदी होता है उसका चरित्र भी स्वच्छ और विश्वसनीय होता है तथा जिस व्यक्ति का चेहरा मुहर्रमी होता ह, उसका चरित्र भी सन्देहजनक और कभी-कभी खतरनाक होता है। इसलिए कहा गया है कि आदमी की मुखाकृति उसके अन्तर की सूचिका है (Face is an index to the mind)। वस्तुत. विनोदहीनता एक आन्तरिक व्याधि है। रोगी चित्त और स्वभाव-वाला व्यक्ति ही झुंझलाया हुआ, अहकारी, क्रुद्ध अथवा व्यगपूर्ण चेहरा बनाये रखता है।

चूँकि विनोद महच्चरित्र का लक्षण है, आप देखेगे कि ससार की महान् आत्माएँ विनोदप्रिय हुआ करती हैं। भगवान् की अन्य शक्तियो के साथ उसका यह महान् वरदान भी इन्ही सृष्टि के वरपुत्रो को मिलता है। आधुनिक युग के सबसे बडे मसीहा महात्मा गाधी कितन विनोदप्रिय थे यह किसी से छिपा नही है। एक बार आगा खाँ भवन से छूटकर गाधीजी वर्धा मे जमनालालजी बजाज के घर पर आये। उस समय जमनालालजी के भतीजे राधाकृष्णजी जेल मे ही थे। गाधीजी को देखकर बजाजजी की बूढी माँ ने कहा—'बापू! आप तो जेल से छूट गये, अब राधाकृष्ण

को भी छुडा लाइए ।' गाधीजी ने हँसते हुए कहा—'मेरा काम जेल भिजवाना है, जेल से छुडाना नही' और तव सारा घर कहकहे मे गूँज उठा। गाधीजी न केवल विनोदप्रिय थे वरन् सिद्धान्तरूप मे भी हँसी के महत्त्व को मानते थे। एक वार सुप्रसिद्ध अमेरिकन पत्रकार लुई फिशर ने गांधीजी से पूछा कि आप वातवात मे, जटिल से जटिल समस्याओ पर भी, हँस क्यो पडते है? गाधीजी फिर हँस पडे और वोले कि 'हँसी मन की गाँठे वड़ी आसानी से खोल देती है—मेरे मन की नही, तुम्हारे मन की भी।' राजेन्द्र वावू न केवल मसविदा तैयार करने मे मुन्शी है वरन् विनोद करने मे भी। १९५१ की वात है। राष्ट्रपति दिल्ली विश्वविद्यालय मे पधारे थे। उनके चारो ओर हस्ताक्षर लेनेवाले विद्यार्थियो की भीड थी। विद्यार्थियो को छूट थी कि वे चाहे जो लिखकर लाये, राजेन्द्र वावू उस पर दस्तखत कर देंगे। एक विद्यार्थी को शरारत सूझी। उसने छकाने के लिए अपनी नोटवुक मे लिखा लिया कि 'मेरी सरकार वडी खुशी के साथ आपको स्वर्ग का गवर्नर मुकर्रर करती है।' वह वड़ी चुस्ती से राजेन्द्र वावू के सामने आया और राष्ट्रपति ने हस्ताक्षर भी कर दिया। मगर इस वार जव उसने अपनी नोटवुक देखी तो उस पर लिखा था—'मेरी सरकार वडी खुशी से आपको स्वर्ग का गवर्नर मुकर्रर करती है, मगर अभी वहाँ जगह खाली नही है इसलिए आपको नरक का गवर्नर नियुक्त किया जाता है।'

जवाहरलालजी की जिन्दादिली के क्या कहने! एक बार का किस्सा है। किसी मित्र ने उन्हे खाने पर वुलाया था। भोजन के वाद सगीत के कार्यक्रम मे अव सितार वजनेवाला था। पर चूँकि काफी रात हो गई थी, मित्र ने जवाहरलाल से कहा—वहुत थक गये हो, जाओ सो रहो। पर जवाहरलालजी कव माननेवाले थें। वोले—तुम फिक्र न करो। सितार सुने वहुत दिन हो गये। आज तोर सुनूँगा। जवाहरलालजी की यह रसिकता देखकर काशी के राय कृष्णदासजी, जो उस दावत में शामिल थे, उर्दू के प्रसिद्ध कवि गालिव का यह शेर गुनगुनाने लगे—

इश्क ने गालिब निकम्मा कर दिया,
वर्ना हम भी आदमी थे काम के।

जवाहरलालजी की तद्रा जैसे एकाएक फट गई, और बागबाग होकर छूटते ही बोले—ठीक कहते हो—इश्क ने गालिब निकम्मा कर दिया....।

गाधीजी राउण्ड टेबुल कान्फरेन्स के लिए विलायत गये थे। साथ में सरोजिनी नायडू भी थी। गाधीजी को देखने के लिए सडक पर भीड हो गई। उनकी शक्ल और पोशाक देखकर एक लड़के ने जोर से कहा—यह तो जोकर है। और, सरोजिनी नायडू ने तुरन्त जवाब दिया—बिलकुल मिकी माउस की तरह।

वस्तुतः हँसी भगवान् की दी हुई महान् विभूति है। वह व्यक्ति वडा अभागा है जो बेमोल पाई हुई इस वस्तु का उपयोग नही करता। फिर आदमी को क्या हक है कि वह प्रभु द्वारा दिये गये अपने सुन्दर मुखड़े को क्रोध, अहकार, ईर्ष्या इत्यादि से कुरूप बना ले। ससार-प्रसिद्ध जापानी कवि नागूची ने भगवान् से प्रार्थना करते हुए यह आशीर्वाद माँगा था कि 'जब जीवन के किनारे की हरियाली सूख गई हो, चिडियों की चहक मूक हो गई हो, सूर्य को ग्रहण लग गया हो, मेरे मित्र एव स्वजन मुझे काँटों मे अकेला छोडकर कतरा गये हो और आकाश का सारा क्रोध मेरे भाग्य पर बरसनेवाला हो, तब हे भगवान्, तुम मुझ पर इतनी कृपा करना कि मेरे ओठों पर हँसी की एक उजली लकीर खिच जाय।'

क्रातिकारी फ्रेंच लेखक वाल्तेयर ने, फ्रांस की राजधानी में, साहित्यकारो की सभा मे भाषण करते हुए कहा था कि जो हँसता नही, वह आदमी ही नही है और जो आदमी ही नही है वह लेखक नहीं हो सकता। इसलिए, भाइयो, अपनी छाती से ऐसी उद्दाम हँसी फूटने दो कि मनहूस चेहरे भी चमक जाये।

इसलिए आप देखेगे कि साहित्यकार प्राय वडे विनोदी हुआ करते है। हिन्दी के जिन्दादिल कवि भारतेन्दु अप्रेल फूल्स डे मनाने के लिए क्या-क्या करते थे, यह किसी से छिपा नही है। पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी तो

हास्यावतार ही थे। और शिवपूजनजी एवं प्रेमचदजी की हँसी का क्या पूछना। १९३६ की वात है। प्रेमचन्दजी काशी से प्रयाग आये थे, प्रयाग विश्वविद्यालय की साहित्य-परिषद् का सभापतित्व करने। छात्रों द्वारा पूछे गये प्रश्नो के सिलसिले मे एक प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रेमचन्द ने कहा था कि 'मेरी सवसे वडी अभिलाषा है कि भगवान् मुझे मनहूसो से सदैव वचाये रखे। मनहूसियत से मेरा दम घुटता है।' सस्कृत के एक कवि की वह उक्ति लोक-प्रसिद्ध है जिसमे उसने भगवान् से प्रार्थना की थी कि हे भगवान् और चाहे जो हो, मगर मेरे भाग्य मे यह न लिख कि मुझे किसी अरसिक के सामन कविता पढना पडे।

हँसी अथवा विनोद सामाजिक जीवन को वनाये रखने का एक सवल आधार है। इससे परस्पर का मनोमालिन्य मिट जाता है। घनिष्ठता और प्रेम वढता है। घृणा, द्वेष, कटुता और अहकार से सामाजिक जीवन कमजोर हो जाता है। हसी की यह सार्वजनिक उपयोगिता विभिन्न राष्ट्रो मे मनाये जानेवाले विनोद-पर्वो मे देखी जा सकती है। पाश्चात्य देशो मे 'फूल्स डे' अप्रेल की पहली तिथि को मनाया जाता है। हिन्दुस्तान मे होली का त्योहार एक ऐसा ही पर्व है जिसके विनोद मे साल भर की कटुता जैसे घुलकर प्रेम के अवीर मे लाल हो जाती ह। हँसकर अभिवादन करना तो संसार के सभी देशो मे सर्वमान्य शिष्टाचार है।

वैयक्तिक जीवन मे भी हँसी-विनोद से वडा लाभ होता है। विनोद सफलता की कुजी है। आप देखेगे कि एक हँसमुख व्यक्ति भौतिक जगत् में जितना सफल होता है उतना गम्भीर वा रुआँसा चेहरावाला व्यक्ति नही। इन्टरव्यू में हँसमुख व्यक्ति ज्यादा प्रभाव डालता है। रोजगार मे वह ग्राहको को खुश कर ज्यादा विक्री कर लेता है। भाषण में श्रोताओ को मुग्ध कर अपनी ओर खीच लेता है। एक वार ख्यातनामा साहित्यकार किप्लिंग एक दूकान पर किताव खरीदने गये। एक पुस्तक को उठाकर उन्होने दूकानदार से पूछा कि यह कैसी है। दूकानदार ने कहा—मैंने पढी नही। किप्लिंग झुँझलाकर वोले कि खरीदते समय पुस्तक को पढकर

देख क्यों नहीं लेते कि यह चलेगी वा नहीं। दूकानदार ने बड़े इतमीनान से किंचित् मुस्कुराहट के साथ कहा—श्रीमान्, मान लीजिए कि आप दवाई बेचते हैं, तब क्या आप प्रत्येक दवाई को, बेचने के पहले, खाकर देख लेंगे। इस उत्तर से किप्लिंग निरुत्तर हो गये।

एक बार मार्कट्वेन एक सभा में भाषण कर रहे थे। वे एक घंटे तक बोलते रहे और इस विनोदी साहित्यिक के भाषण से सारी सभा झूम रही थी। बड़ा सफल भाषण हुआ। ट्वेन के बाद उनके मित्र को उसी सभा में भाषण देना था। वह ट्वेन से भी अधिक विनोदी था। उसने अपना भाषण शुरू किया—सज्जनो, सभा में आने के पहले मेरे और ट्वेन के बीच यह बात तय हो गई थी कि यहाँ ट्वेन मेरा भाषण आप लोगों को सुना देंगे और उनका भाषण मैं पढ़ दूँगा। ट्वेन ने मेरा भाषण सुना दिया। अब मुझे उनका भाषण पढ़ना है। पर, खेद है कि मुझसे उनके भाषण की पाडुलिपि कहीं खो गई है, अतः कुछ कहने से लाचार होकर मैं अपना स्थान ग्रहण करता हूँ।' फिर तो तालियों से आसमान फटने लगा और मार्क ट्वेन के लम्बे भाषण से कहीं अधिक आनन्द उसके मित्र का यह छोटा-सा विनोद दे गया[१]।

---

१. प्रस्तुत निबंध में वर्णित अनेक घटनाओं के लिए लेखक 'नवनीत' का कृतज्ञ है।

महेश्वरीप्रसाद

अतीत का मूल्य

जीवन मे अतीत की वातों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यो तो इन दिनो लोग भविष्य को ही चिन्तनीय मानते है, पर अतीत कदापि उपेक्षणीय नही है। किसी भी सुदृढ भवन के लिए मजबूत नीव चाहिए ही, अन्यथा एक हल्के धक्के से ही उसकी दीवारो का साबित रहना असभव नही तो कठिन अवश्य है। जब नीव मे कोई कोर-कसर नही हो तो भहराई हुई दीवार भी पुनः सुदृढ रूप से बनाई जा सकती है। जीवन का कुशल इजीनियर नीव की उपेक्षा नही करता।

जीवन व्यक्ति का हो या किसी समाज या राष्ट्र का, अतीत उसके लिए अत्यावश्यक है। स्वभावत. मनुष्य अपने पूर्वजो का गुणगान बडे चाव से करता है। किसी को अपने बाप-दादो के शौर्य का गौरव है तो किसी को उनके दान या त्याग का। कुछ लोगो को तो उनकी कलम, लोक-सेवा, अर्जित धन, शास्त्र-ज्ञान, ब्रह्म-जिज्ञासा, आविष्कार, या जोखिम से भरे कार्यों का घमण्ड होता है। यह बात मनुष्य-प्रकृति के अनुकूल है। रहीम कवि की उक्ति है —

> रहिमन अपने गोत कहँ, सभी वहत उत्साह।
> मृग उछरत आकाश कहँ, भूमि खनत वाराह॥

फलत सभी कोई अपने वश के अतीत गुणों का बखान करने मे अपना ही गौरव समझते है। उदाहरणार्थ यदि क्षत्रियो को विक्रम, भोज, पृथ्वीराज, प्रताप, शिवाजी आदि का गर्व है तो ब्राह्मणो को भी वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य, पराशर, व्यासदेव, शुकदेव आदि का। इधर वैश्य भी चुप नही है। उन्हे भी पुरखाओ के जगत्-सेठ कहलाने का, बडी बडी धर्मशालाएँ और मन्दिरों के निर्माण करने एव सत्र आदि खोलने का गौरव है। शूद्रो

का अभिमान भी उचित ही है कि उनके पूर्वज सच्चे लोकसेवी थे। सही अर्थ मे वे ही 'हरिजन' है।

अव भी वैवाहिक सम्बन्धों के अवसर पर लोग अपर पक्ष के कुल-शील पर पूरा ध्यान रखते हैं। इसके वाद धन-सम्पत्ति, शिक्षा आदि का विचार करते है। जव कि वर या कन्या का वंश उत्तम रहता है तो यह आशा की जाती है कि उसका शील-गुण अच्छा ही होगा; यदि उसकी आर्थिक अवस्था किसी कारण से अभी गिरी हुई हो तो आगे चलकर वह सुधर जायगी। इस युग मे वाहरी टीमटाम पर ही कुछ लोगों का ध्यान सबसे पहले जाने लगा है, पर पुराने समय की वात भिन्न थी। व्यक्ति की कुल-परम्परा का इतिहास जानकर ही उसके गुण, शील, कृत्य और स्वास्थ्य आदि का निश्चय हो जाता था। आनुवंशिकता की यह प्रधानता सतति-प्रवाह से परिपोषित उत्कृष्ट गुणों की धारावाहिकता के ही कारण है। यह धारावाहिकता अतीत के गर्भ से निकलकर वर्त्तमान से एकात्मता निष्पन्न करती है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज अतीत के अनुक्रम का परिणाम है!

राष्ट्र-जीवन मे भी अतीत का स्थान सर्वोपरि है। वे राष्ट्र जिनका लोहा किसी समय संसार मानता था, आज अपने पूर्वजों की धाक और कृत्यो को कह-कह कर मूँछो पर ताव देते है। दुर्भाग्यवश गिरा हुआ ऐसा राष्ट्र किसी भी अनुकूल परिस्थिति को पाकर उन्नत वन सकता है। म्रियमाण व्यक्ति के लिए उपयोगी सुधास्वरूप औषधि की तरह गिरे हुए राष्ट्र के लिए उसका गौरवमय अतीत होता है। प्राय सभी को ज्ञात है कि जब विजेता किसी विजित जाति को सदा गुलामी में रखना चाहते थे तो उसके महिमापूर्ण चिह्नों को—वडी वड़ी इमारतों, पुस्तकालय आदि को—पूर्णतया नष्ट-भ्रष्ट कर देते थे, और तब ही चैन की साँस ले सकते थे। राजनीतिज्ञों का यह कथन सत्य है कि वह दलित जाति किसी भी समय सिर ऊँचा कर सकती है जिसका अतीत गौरवपूर्ण है। ज्यों ही उसे अपने अतीत का पता चल जायगा, एकस्वर मे लोग

चिल्ला उठेंगे—"हम शेर के बच्चे पले है गीदडो की मांद मे", तब फिर किसी की क्या मजाल है कि उनके भविष्य-निर्माण को रोक सके ! निहत्थे लोग भी 'असहयोग' का सहारा लेकर बडी-बडी तोप-तलवार को बे-काबू कर चुके है। आज का इतिहास इसके लिए प्रत्यक्ष प्रमाण है। यदि अतीत को भविष्य का पिता कहा जाय तो कुछ भी अनुचित नही। लोग शिशु को ही मानव का जनक कहते है, क्योंकि मानवता के मूल में शैशव है। किसी भी देश का आदिकाल उसका शैशव होता है जो कुछ ही दिनो मे अतीत का रूप धारण कर लेता है। व्यक्ति के लिए तो शैशव और अतीत एकार्थद्योतक से है। लोग कहते है—'होनहार बिरवान के होत चीकने पात।' बचपन लचीला हरा बाँस है—जिस ओर चाहे उसे मोड देवें। आगे चलकर जब वही कडा हो जायगा तो उसकी मुडी हुई दशा नही बदली जा सकती। ऐसी परिस्थिति में उस बाँस को वैसा ही छोड दीजिए, नही तो बल देने पर वह टूट कर रहेगा। मानव को जैसा बनाना हो, उसके बचपन को वैसी अनुकूल दिशा मे मुडने दें अन्यथा पुनः परिवर्त्तन की बात असम्भव हो जायगी। बचपन की टेव जीवन पर्यन्त बनी रहती है—चाहे वह अच्छी हो या बुरी। आज का वर्त्तमान कल का अतीत हो जायगा। यदि हम चाहते हो कि महान् बनें, अपने देश या जाति को किसी निश्चित उन्नत दिशा की ओर ले जायँ तो इस वर्त्तमान को शिशुवत् समझना ही पडेगा। उसे अपने लक्ष्य की ओर निश्चित गति से आगे बढाना होगा। उसका 'नव अतीत' ही भविष्य का निर्माता बनेगा।

इतिहास, वेद, पुराणादि हमारे अतीत के सरक्षक है। पर्व-त्योहारो मे भी हमारा अतीत सुरक्षित है। उदाहरणस्वरूप होलिका-दहन को ले। पीडित जनता की पुंजीभूत कराह आग थी और अत्याचारो की पुतली थी होलिका। जब वह जल मरी, जग-जीवन को त्राण मिला। हम उसी दिन से नव-वर्ष का प्रारभ मानने लगे, हम मे नवीन जीवन का सचार हुआ। पर ये सब हुए अतीत की भित्ति पर ही। यह कहा जा

सकता है कि एक ओर तो हम भेद-भाव को भूलकर रंग उछालते, पक्वान्नो की तैंयारी करके प्रिय मित्र और नेंग-नातेवालों के साथ मिल-जुलकर खाते-पीते हे और इस तरह आनन्द का बँटवारा कर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का पाठ पढते है; पर दूसरी ओर कुछ लोग नशीली वस्तुओं का व्यवहार करते हे और खुलकर अश्लील गालियाँ बकते हैं; इस परिस्थिति मे तो 'ऐसे त्योहारों द्वारा हमारा अतीत हमें दूषित कर्मों की प्रेरणा देता है।' पर हमारी सम्मति मे यह आनन्द की सीमा का दुरुपयोग है। उस्तरा उपयोगी है अवश्य, पर सदुपयोग के लिए। यदि कोई उससे अपना गला काट ले तो इसमे उस्तरे का क्या अपराध ? समस्त कुण्ठाओं के निराकरण और भावों के अनावरण मे ही मनोविज्ञान स्वस्थ चेतना का विकास मानता है। 'होली' इस मनोविज्ञान के सिद्धान्त पर आश्रित पर्व है। 'अति सर्वत्र वर्ज्जयेत्'—इस नीति की अवमानना ही बुराई का कारण है पर यह अवमानना मूल पर्व की गरिमा को हीन नही कर देती।

अतीत की याद मे ही हम वीर-पूजा करते आयें है। जो भी घटना जन-कल्याण की हुई, वह पूज्य हो गई। उसके विधाता भी पूज्य हो गयें। देव-देवियों की बात तो अलग रही भारत मे पशु, पक्षी तथा वृक्षों तक की पूजा होती है। आज भी शिव, विष्णु आदि देव; सूर्यादि नवग्रह, दुर्गा, सरस्वती, सावित्री आदि देवियाँ, कपिल, व्यास आदि मुनि, कबीर, सूर, तुलसी आदि सन्त, विद्यापति, भारतेन्दु, रविबाबू, प्रसाद, प्रेमचन्द आदि साहित्यकार, राष्ट्र-पिता बापू आदि नेता—सब के सब पूजा के पात्र है। कहाँ तक कहा जाय, लोग हाथी, गौ, पीपल के वृक्ष, अक्षयवट, बोधिवृक्ष आदि की भी पूजा करते है। यह सब है उनकी उपकार वृत्ति के कारण, उनकी अतीत सेवाओ के कारण। एक बात और। लोग व्रत-त्योहारों के मूल ध्येय को भूलते जा रहे है। व्रतों के अवसर पर लोग उनकी कथाएँ सुनते हे, उपवास रखते है। यह सब है इसीलिए कि लोग शरीर-शुद्धि के साथ-साथ उनसे सम्बद्ध महापुरुषों जैसा बनने का प्रण करे और अपना आचरण भी वैसा ही बनावें। अब तो बात ही बदल गई

है। लोग अतीत की कथा को सुन-मात्र लेते है। पेट-पूजा को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। व्रत का अन्त होते ही लोग थालियों पर टूट पड़ते है मानो जीवन भोजन के लिए है, 'भोजन जीवन के लिए' नही।

आज के राजनीतिज्ञ कहते है 'प्राचीन प्रणाली को पुन अपनाना होगा, इसी मे हमारा कल्याण है' ("Back to old age")। इतिहास की पुनरावृत्ति होने लगी है। अब पुराना 'पचायत-राज्य', परिश्रम का फल परिश्रमी को मिले; रग-रूप, जाति-पाँति का भेद अमानुषिक है—आदि आदि आवाजें उठने लगी है। साराश यह है कि पुरानी बातें फिर से अपनाई जाने लगी है। यह प्रतिक्रिया मगलमय अतीत के कारण ही तो हो रही है।

बुढापे मे लोग अपने अतीत कृत्यो की याद करके सन्तुष्ट होते और चैन की नीद सोते है। अतीत की बात मे जो लोग घबडाने लगते है वे शायद दुश्चरित्र व्यक्ति रहे होगे। कुकृत्यो की याद उन्हे नरक-यातना न दे तो क्या दे? सुकृत्यो का स्मरण सदैव आनन्ददाना होता है। हमारा अतीत भला रहे, इसीलिए तो हमे अपने कर्मो पर कठोर शासक की तरह ध्यान रखना पडेगा नहीं तो असयम का फल अन्त मे हलाहल जैसा विषाक्त हो उठेगा और जीवन का अन्त कटुतम होगा। वर्नमान युग का मूल्याकन अर्थ को महत्त्व देता है। 'अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्'—आज का मूल मत्र है। पर क्या यह उचित नही है कि हम सुकृत्य-अर्थ को सचित कर 'अतीत-बैंक' को भरा पूरा करे। जब कभी गाढा अवसर आ पडेगा तो अतीत की यही जमा-पूंजी बडे काम की होगी। यह बैंक कभी भी दिवालिया न होगा। इसका 'बैंक-बैलेन्स' सदा समय पर काम देता रहेगा।

मंगलमय भविष्य के लिए मगलमय अतीत का होना अनिवार्य है। अतीत का मूल्य क्या कम है?

पद्य-भाग

विद्यापति

विद्यापति

विनय के पद

(१)

माधव, बहुत मिनति कर तोय।
दए तुलसी तिल देह समर्पिनु, दया जनि छाडबि मोय।।
गनइत दोस गुन लेस न पाओबि, जब तुहुँ करबि बिचार।
तुहू जगत जगनाथ कहाओसि, जग बाहिर न इ छार।।
किए मानुस पसु पखि भए जनमिए, अथवा कीट पतग।
करम बिपाक गतागत पुनु पुनु, मति रह तुअ परसग।।
भनइ विद्यापति अतिसय कातर, तरइत इह भव-सिधु।
तुअ पद-पल्लव करि अवलम्बन, तिल एक देह दिन-बधु।।

(२)

जोगि भँगवा खाइत भेला रँगिया
भोला बौडलवा।।
सब के ओढावे भोला साल दुसलवा
आप ओढए मृगछलवा।
सबके खिलावे भोला पाँच पकवनमा
आप खाए भाँग धतुरवा।।
कोई चढावे भोला अच्छत चानन
कोई चढावे बेलपतवा।।

जोगिन भूतिन सिव के सँघतिया
भैरो वजावे मिरदगिया।
भन विद्यापति जै जै सकर
पारवती गौरी[1] सँगिया॥

विरह प्रसंग

(१)

माधव हमर रटल दुर देस।
केओ न कहइ सखि कुसल-मनेस॥
युग-युग जीवथु वसथु लाख कोस।
हमर अभाग हुनक नहि दोस॥
हमर करम भेल विहि विपरीत।
तेजलनि माधव पुरुविल पिरीत॥
हृदयक वेदन वान समान।
आनक दु:ख आन नहि जान॥
भनइ विद्यापति कवि जयराम।
दैव लिखल परिनत फल वाम॥

(२)

माधव देखलि वियोगिनि वामे।
अधर न हास विलास सखी सँग।
अहोनिस जप तुअ नामे।
आनन सरद सुधाकर सम तसु
बोलइ मधुर धुनि वानी।
कोमल अरुन कमल कुँम्हिलायल
देखि मन अइलहुँ जानी॥

---

(१) पाठान्तर—रौरी

हृदयक हार भार भेल सुबदनी
नयन न होय निरोधे।
सखि सब आए खेलाओल रँग करि
तसु मन किछुओ न बोधे॥
रगडल चानन मृगमद कुकुम
सभ तेजलि तुअ लागी।
जनि जलहीन मीन जक फिरइछ
अहोनिस रहइछ जागी॥
दूति उपदेस सुनि गुनि सुमिरल
तइखन चलला धाई।
मोदवतीपति राघबसिह गति
कवि विद्यापति गाई॥

—

कबीरदास

कबीरदास

साखी

चार भुजा के भजन मे, भूलि परे सब सत।
कबिरा सुमिरै तासु को, जाके भुजा अनत ॥१॥

जबहि नाम हिरदे धरा, भया पाप का नास।
मानो चिनगी आग की, परी पुरानी घास ॥२॥

कहना था सो कह दिया, अब कछु कहा न जाय।
एक गया दूजा रहा, दरिया लहर समाय ॥३॥

लिखा-लिखी की है नही, देखा-देखी बात।
दुलहा दुलहिन मिल गए, फीकी पडी बरात ॥४॥

प्रेम न बाडी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय ॥५॥

जब मै था तब गुरु नही, अब गुरु है हम नाहि।
प्रेम गली अति साँकरी, तामै दो न समाहि ॥६॥

उठा बगूला प्रेम का, तिनका उडा अकास।
तिनका तिनका से मिला, तिनका तिनके पास ॥७॥

नैनो की करि कोठरी, पुतली पलँग बिछाय।
पलको की चिक डारिके, पिय को लिया रिझाय ॥८॥

हरि से तू जनि हेत कर, कर हरिजन से हेत।
माल मुलुक हरि देत है, हरिजन हरि ही देत ॥९॥

ज्ञान रतन की कोठरी, चुप करि दीन्हा ताल।
पारखि आगे खोलिए, कुंजी बचन रसाल॥१०॥
कथनी मीठी खांड सी, करनी विष की लोय।
कथनी तजि करनी करै, विष से अमृत होय॥११॥
सिर राखे सिर जात है, सिर काटे सिर सोय।
जैसे बाती दीप की, कटि उजियारा होय॥१२॥
गुरु धोबी सिष कापड़ा, साबुन सिरजनहार।
सुरति सिला पर धोइए, निकसै ज्ञानि अपार॥१३॥
वृच्छ कबहु नहि फल भखै, नदी न संचै नीर।
परमारथ के कारने, साधुन धरा सरीर॥१४॥
कबिरा संगत साधु की, हरै और की व्याधि।
संगत बुरी असाध की, आठो पहर उपाधि॥१५॥
निंदक नियरे राखिए, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करै सुभाय॥१६॥
गुरु-गोविंद दोनो खड़े, काके लागूं पांय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविंद दियो बताय॥१७॥
तेरा साँई तुज्झ मे, ज्यों पुहुपन मे बास।
कस्तूरी का मिरग ज्यो, फिर फिर ढूंढे घास॥१८॥
कमोदनी जल मे बसै, चदा बसै अकास।
जो जाही को भावता, सो ताही के पास॥१९॥
जिभ्या में अमृत बसै, जो कोई जानै बोल।
बिस बासुकि का ऊतरै, जिभ्या का इक बोल॥२०॥
रोड़ा भया तो क्या भया, पंथी को दुख देह।
हरिजन ऐसा चाहिए, जिमी जिमी की खेह॥२१॥
खेह भई तो क्या भया, उड़ि-उड़ि लागै अंग।
हरिजन ऐसा चाहिए, पानी जैसा रंग॥२२॥

सिंहन के लेहँडे नहीं, हंसन की नहि पाँत।
लालन की नहिं बोरिया, साधु न चलै जमात॥२३॥

लघुता ते प्रभुता मिलै, प्रभुता ते प्रभु दूरि।
चींटी लै सक्कर चली, हाथी के सिर धूरि॥२४॥

मूँड मुँडाये हरि मिलै, सब कोइ लेयँ मुँडाइ।
बार-बार के मूँडते, भेड न बैकुंठ जाइ॥२५॥

देह धरे का दंड है, सब काहू को होइ।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान तै, मूरख भुगतै रोइ॥२६॥

खोदन सो धरती सहै, काट-कूट बन राइ।
साधु सहै दुरजन-बचन, औरन सहा न जाइ॥२७॥

[illegible] [illegible] [illegible] बचन, रहै सत जन टारि।
चिनगी परै समुद्र मे, कहा सकैगी जारि॥२८॥

जो जल बाढै नाव मे, घर मे बाढे दाम।
दोऊ हाथ उलीचिए, यहि सज्जन को काम॥२९॥

साईं इतना दीजिए, जामे कुटुम समाइ।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाइ॥३०॥

साधु गाँठि न बाँधई, उदर समाता लेइ।
आगे पाछे हरि खडे, जब माँगे तब देइ॥३१॥

धीरे-धीरे, रे मना, धीरे सब कछु होइ।
माली सींचै सौ घडा, रितु आए फल जोइ॥३२॥

कर बहियाँ बल आपनी, छाँडि बिरानी आस।
जा के आँगन है नदी, सो कस मरे पियास॥ ३३॥

साधु कहावन कठिन है, लंबा पेड खजूर।
चढै तो चाखै प्रेम-रस, गिरै तो चकनाचूर॥३४॥

खुलि खेलो ससार मे, बाँधि न सक्कै कोइ।
घाट जगाती क्या करै, जो सिर बोझ न होइ॥३५॥

पद

(१)

राम तेरी माया दुंद मचावै।
गति मति वाकी समझि परै नहि सुर नर मुनिहि नचावै॥
का सेमर के साख बढे ये फूल अनूपम बानी।
केतिक चातक लागि रहे हैं चाखत रुवा उड़ानी॥
कहा खजूर बड़ाई तेरी फल कोई नहि पावै।
ग्रीषम ऋतु जब आइ तुलानी छाया काम न आवै॥
अपना चतुर और को सिखवै कामिनि कनक सयानी।
कहै कबीर सुनो हो संतो राम-चरण रति मानी॥

(२)

अपनपो आप ही बिसरो।
जैसे सोनहा काँच मँदिर मे भरमत भूँकि मरो॥
ज्यो केहरि बपु निरखि कूप जल प्रतिमा देखि परो।
ऐसेहि मदगज फटिक शिला पर दसननि आनि अरो॥
मरकट मुठी स्वाद ना बिसरे घर घर नटत फिरो।
कह कबीर ललनी के सुवना तोहि कौने पकरो॥

(३)

चली मैं खोज मे पिय की। मिटी नहि सोच यह जिय की॥
रहैं नित पास ही मेरे। न पाऊँ यार को हेरे॥
विकल चहुँ ओर को धाऊँ। तबहुँ नहि कंत को पाऊँ॥
धरो केहि भाँति से धीरा। गयो गिर हाथ से हीरा॥
कटी जब नैन की झाँई। लख्यो तब गगन में साँई॥
कबीरा शब्द कहि भासा। नयन मे यार को वासा॥

(४)

तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहि चैन रात नहि निदिया तलफ तलफ के भोर किया॥
तन मन मोर रहँट अस डोलै सून सेज पर जनम छिया।
नैन थकित भए पथ न सूझै साँईं बेदरदी सुध न लिया॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो हरो पीर दुख जोर किया॥

(५)

करमगति टारे नाहि टरी।
मुनि वसिष्ठ से पडित ज्ञानी सोध के लगन धरी॥
सीता-हरन मरन दसरथ को वन मे बिपति परी।
कहँ वह फंद कहाँ वह पारधि कहँ वह मिरग चरी॥
सीया को हरि लैगो रावन सुबरन लक जरी।
नीच हाथ हरिचंद बिकाने बलि पाताल धरी॥
कोटि गाय नित पुन्न करत नृप[1] गिरगिट जोन परी।
पाडव जिनके आपु सारथी तिन पर बिपति परी॥
दुरजोधन को गरब घटायो जदुकुल नास करी।
राहु केतु औ भानु चन्द्रमा बिधी सँजोग परी॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो होनी हो के रही॥

(६)

बहुर नहि आवना या देस।
जो जो गए बहुर नहि आए, पठवत नाहि सँदेस॥
सुर नर मुनि औ पीर औलिया देवी देव गनेस।
धरि धरि जनम सबै भरमे है ब्रह्मा बिष्णु महेस॥

(१) नृग (राजा)

जोगी जगम और सन्यासी दीगवर दरवेस ।
चुंडित मुडित पडित लोई सरग रसातल सेस ॥
ज्ञानी गुनी चतुर औ कविता राजा रक नरेस ।
कोउ रहीम कोउ राम बखानै कोइ कहै आदेस ॥
नाना भेख वनाया सवै मिलि ढूंढि फिरे चहुँ देस ।
कहै कवीर अत ना पैहो विन सतगुरु उपदेस ॥

(७)

भजु मन जीवन नाम सवेरा ।
सुदर देह देख निज भूलो झपट लेत जस वाज वटेरा ।
यह देही को गरव न कीजै उड पछी जस लेत वसेरा ॥
या नगरी मे रहन न पैहो कोइ रह जाग न दूख घनेरा ।
कहै कवीर सुनो भाई साधो मानुख जनम न पैहो फेरा ॥

(८)

गगन घटा घहरानी, साधो गगन घटा घहरानी ।
पूरव दिसि से उठी वदरिया रिमझिम बरसत पानी ।
आपन आपन मेड सम्हारो वँध्यो जात यह पानी ॥
मन कै वैल सुरत हरवाहा जोत खेत निरवानी ।
दुविधा दूव छोल करु वाहर वोव नाम की धानी ॥
जोग जुगुत करि करु रखवारी चर न जाय मृग धानी ।
वाली झार कूट घर लावै सोई कुसल किसानी ॥
पाँच सखी मिल कीन रसोइया एक से एक सयानी ।
दूनो थार वरावर परसे जेवै मुनि अरु ज्ञानी ॥
कहत कवीर सुनो भाई साधो यह पद है निरवानी ।
जो या पद को परिचै पावै ताको नाम विज्ञानी ॥

(९)

रमैया की दुलहिन लूटा बजार।
सुरपुर लूट नागपुर लूटा तीन लोक मचा हाहाकार ।
ब्रह्मा लूटे महादेव लूटे नारद मुनि के परी पछार ॥
श्रृंगी की मिगी करि डारी पारासर कै उदर बिदार ।
कनफूंका चिदकासी लूटे लूटे जोगेसर करत बिचार ॥
हम तो बचिगे साहब दया से सब्द डोर गहि उतरे पार ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो इस ठगनी से रहो हुसियार ॥

मलिक मुहम्मद जायसी

मलिक मुहम्मद जायसी

राजा का वैराग्य

सबन्हि कहा मन समझहु राजा। काल सते कै जूझि न छाजा।
तासौं जूझि जात जौ जीता। जात न किरसुन तजि गोपीता।
औ नहि नेहु काहु सौं कीजै। नाउँ मीठ खाएँ जिउ दीजै।
पहिलेहि सुक्ख नेहु जब जोरा। पुनि होइ कठिन निबाहत ओरा।
अहुठ हाथ तन जैसे सुमेरू। पहुँचि न जाइ परातस फेरू।
गँगन दिस्टि सौं जाइ पहूँचा। पेम अदिस्ट गँगन, सौं ऊँचा।
धुव ते ऊँच पेम धुव उवा। सिर दै पाउ देइ सो छुवा।
तुम्ह राजा औ सुखिया करहु राज सुख-भोग।
एहि रे पथ सो पहुँचै सहै जो दुक्ख बियोग॥१॥

सुअँ कहा मन समुझहु राजा। करत पिरीत कठिन है काजा।
तुम्ह अबही जेई घर पोई। कँवल न बैठि बैठ हहु कोई।
जानहि भँवर जो तेहि पँथ लूटे। जीउ दीन्ह औ दिए न छूटे।
कठिन आहि सिघल कर राजू। पाइअ नाहि राज के साजू।
ओहि पँथ जाइ जो होइ उदासी। जोगी जती तपा सन्यासी।
भोग जोरि पाइत वह भोगू। तजि सो भोग कोइ करत न जोगू।
तुम्ह राजा चाहहु सुख पावा। जोगहि भोगहि कत बनि आवा।
साधन्ह सिद्धि न पाइअ जौ लहि साद्य न तप्प।
सोई जानहि बापुरे जो सिर करहि कलप्प॥२॥

का भा जोग कहानी कथें। निकसै न घिउ बाजु दधि मथे।
जौ लहि आपु हेराइ न कोई। तौ लहि हेरत पाव न सोई।
पेम पहार कठिन बिधि गढा। सो पै चढै सीस सो चढा।

पथ सूरन्हि कर उठा अकूरू। चोर चढ़ै कि चढ़ै ससूरू।
तू राजा का पहिरसि कथा। तोरे घटहि माँह दस पथा।
काम क्रोध तिस्ना मद माया। पाँचौ चोर न छाडहि काया।
नव सेवैं ओहि घर मँझिआरा। घर मूसहि निसि कै उजिआरा।

अबहूँ जागु अयाने, होत आव निसु भोर।
पुनि किछु हाथ न लागहि मूसि जाहि जब चोर॥३॥

सुनि सो बात राजा मन जागा। पलक न मारा पेमचित लागा।
नैनह ढरहिं मोति औ मूँगा। जस गुर खाइ रहा होइ गूँगा।
हिएँ की जोति दीप वह सूझा। यह जो दीप अँधिअर भा बूझा।
उलटि दिस्टि माया सौ रूठी। पलटि न फिरी जानि कै झूठी।
जौ पै नाही अस्थिर दसा। जग उजार का कीजै बसा।
गुरु बिरह चिनगी पै मेला। जो सुलगाइ लेइ सो चेला।
अब कै फनिग भृगि कै करा। भँवर होउँ जेहि कारन जरा।

फूल फूल फिरि पूछौं जौ पहुँचौ ओहि केत।
तन नेवछावर कै मिल्यौ ज्यौं मधुकर जिउ देत॥४॥

तजा राज राजा भा जोगी। औ किंगरी कर गहे बियोगी।
तन बिसँभर मन बाउर रटा। अरुझा पेम परी सिर जटा।
चंद बदन औ चंदन देहा। भसम चढ़ाइ कीन्ह तन खेहा।
मेखल सिंगी चक्र धँधारी। जोग बाट रुद्राख अधारी।
कंथा पहिरि डंड कर गहा। सिद्ध होइ कहँ गोरख कहा।
मुंद्रा स्रवन कंठ जपमाला। कर उदपान काँध बघछाला।
पाँवरि पाँव लीन्ह सिर छाता। खप्पर लीन्ह भेस कै राता।

चला भुगुति माँगै कहँ साजि कया तप जोग।
सिद्ध होउँ पदुमावति पाएँ हिरदै जेहि क बियोग॥५॥

गनक कहहिं करु गवन आजू। दिन लै चलहि फरै सिधि काजू।
पेम पंथ दिन घरी न देखा। तब देखै अब होइ सरेखा।
जेहि तन पेम कहाँ तेहि माँसू। कया न रकत न नयनन्हि आँसू।

पँडित भुलान न जानै चालू। जीउ लेत दिन पूँछ न कालू।
सती कि बौरी पूँछै पाँडे। औ घर पैठि समेटै भाँड़े।
मरि जो चलै गाँग गति लेई। तेहि दिन घरी कहाँ को देई।
मै घर बार कहाँ कर पावा। घर काया पुनि अंत परावा।
हौ रे पँखेरू पंखी जेहि बन मोर निबाहु।
खेलि चला तेहि बन कहँ तुम्ह आपन घर जाहु।।६।।

(पदमावत)

सूरदास

सूरदास

विनय

चरन-कमल बंदौं हरि-राइ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे कौं सब कछु दरसाइ।
बहिरौ सुनै, गूँग पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार बार बंदौं तिहि पाइ॥१॥

अब कैसैं पैयत सुख माँगे?
जैसोइ बोइयै तैसोइ लुनिऐ, कर्मन भोग अभागे।
तीरथ-ब्रत कछुवै नहि कीन्हौं, दान दियौ नहि जागे।
पछिले कर्म सम्हारत नाही, करत नही कछु आगे।
बोवत बबुर, दाख फल चाहत, जोवत है फल लागे।
सूरदास तुम राम न भजिकै, फिरत काल संग लागे॥२॥

आजु हौं एक-एक करि टरिहौं।
कै तुमही कै हमही, माधौ, अपने भरोसैं लरिहौं।
हौं तौ पतित सात पीढिनि कौ, पतितै ह्वै निस्तरिहौं।
अब हौं उघरि नच्यौ चाहत हौं, तुम्हैं बिरद बिन करिहौं।
कत अपनी परतीति नसावत, मैं पायौ हरि हीरा।
सूर पतित तबही उठिहै, प्रभु, जब हँसि दैहौ बीरा॥३॥

हमारे प्रभु, औगुन चित न धरौ।
समदरसी है नाम तुम्हारौ, सोई पार करौ।
इक लोहा पूजा मैं राखत, इक घर बधिक परौ।
सो दुबिधा पारस नहिं जानत, कंचन करत खरौ।

इक नदिया इक नार कहावत, मैलो नीर भरो।
जब मिलि गए तब एक वरन ह्वै, गंगा नाम परो।
तन माया, ज्यौं ब्रह्म कहावत, सूर सु मिलि बिगरो।
कै इनको निरधार कीजियै, कै प्रन जात टरो ॥४॥

बाल-लीला

कहाँ लौं बरनौं सुंदरताई ?
खेलत कुँवर कनक-आँगन मैं नैन निरखि छवि पाई।
कुलही लसति सिर स्याम सुंदर कै, बहु बिधि सुरँग बनाई।
मानौ नव घन ऊपर राजत मघवा धनुष चढ़ाई।
अति सुदेस मृदु हरत चिकुर मन मोहन-मुख बगराई।
मानौ प्रगट कंज पर मंजुल अलि-अवली फिरि आई।
नील, सेत अरु पीत, लाल मनि लटकन भाल रुनाई।
सनि, गुरु-असुर, देवगुरु मिलि मनु भौम सहित समुदाई।
दूध-दंत-दुति कहि न जाति कछु अद्भुत इक उपमाई।
किलकत-हँसत दुरति प्रगटति मनु, घन मैं बिज्जु छटाई।
खंडित बचन देत पूरन सुख अलप-अलप जल पाई।
घुटुरुनि चलत रेनुतन-मंडित, सूरदास बलि जाई ॥१॥

खेलत मैं को काको गुसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस हीं कत करत रिसैयाँ।
जाति-पाँति हमतैं बड़ नाहीं, नाही बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातैं अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ।
रूहठि करै तासौं को खेलै, रहे बैठि जहँ-तहँ सब ग्वैयाँ।
सूरदास प्रभु खेल्यौइ चाहत, दाउँ दियौ करि नंद-दुहैयाँ ॥२॥

सखा सहित गए माखन-चोरी।
देख्यौ स्याम गवाच्छ-पथ ह्वै, मथति एक दधि भोरी।

फेरि मथानी धरी माट तैं, माखन हो उतरात।
आपुन गई कमोरी माँगन, हरि पाई ह्याँ घात।
पैठे सखनि सहित घर सूनै, दधि माखन सब खाए।
छूँछी छाँडि मटुकिया दधि की, हँसि सब बाहिर आए।
आइ गई कर लिए कमोरी, घर तैं निकसे ग्वाल।
माखन कर, दधि मुख लपटानौ, देखि रही नँदलाल।
कहँ आए ब्रज-बालक सँग लै, माखन मुख लपटान्यौ।
खेलत तैं उठि भज्यौ सखा यह, इहि घर आइ छपान्यौ।
भुज गहि लियौ कान्ह इक बालक, निकसे ब्रज की खोरि।
सूरदास ठगि रही ग्वालिनी, मनहरि लियौ अँजोरि॥३॥

भ्रमर-गीत

समुझि न परति तिहारी ऊधौ।
ज्यौं त्रिदोष उपजै जक लागत, बोलत बचन न सूधौ।
आपुन कौ उपचार करौ अति तब औरनि सिख देहु।
बड़ौ रोग उपज्यौ है तुमकौ भवन सबारै लेहु।
ह्यां भेषज नाना भाँतिन के, अरु मधु-रिपु से बैद।
हम कातर डरपति अपनै सिर, यह कलक है खेद॥
साँची बात छाँडि अलि तेरी, झूठी को अब सुनिहै।
सूरदास मुक्ताहल भोगी, हंस ज्वारि क्यौं चुनिहै॥१॥

अँखियाँ हरि दरसन की भूखी।
कैसे रहति रूप-रस राँची, ये बतियाँ सुनि रूखी॥
अवधि गनत, इकटक मग जोवत, तब इतनौ नहि झूखी।
अब यह जोग सँदेसो सुनि-सुनि, अति अकुलानी दूखी॥
बारक वह मुख आनि दिखावहु, दुहि पय पिवत पतूखी।
सूर सुकत हठि नाव चलावत, ये सरिता है सूखी॥२॥

लै चलि ऊधौ अपनै देस।
मदनगुपाल मिलन मन उमग्यौ, कौन बसै ह्याँ जदपि सुदेस ॥
वह मूरति मो हृदै बसति है, मुरलि अधर-पुट कुतल केस।
कुडल लोल तिलक मृगमद रुचि, गावत नृत्यत नटवर वेस ॥
कहा करौं मोपै रह्यौ न जाइ छिन, सब सुखदायक बसत विदेस।
सूरत स्याम मिलन कब ह्वैहै, दूरि गमन ब्रजनाथ नरेस ॥३॥

काहे कौ रोकत मारग सूधौ।
सुनहु मधुप निरगुन कटक तै, राजपथ क्यौं रूँधौ ॥
कै तुम सिखि पठए हौ कुबिजा, कह्यौ स्याम घनहूँ धौं।
वेद पुरान सुमृति सब ढूँढौ, जुवतिनि जोग कहूँ धौं ॥
ताकौ कहा परेखौ कीजै, जानै छाँछ न दूधौ।
सूर मूर अक्रूर गयौ लै, ब्याज निवेरत ऊधौ ॥४॥

मन की मन ही माँझ रही।
कहिए जाइ कौन पै ऊधौ, नाही परत कही ॥
अवधि अधार आस आवन की, तन-मन बिथा सही।
अब इन जोग सँदेसनि सुनि-सुनि, बिरहिनि बिरह दही ॥
चाहति हुती गुहारि जितहि तै, उत तै धार बही।
सूरदास अब धीर धरहि क्यौं, मरजादा न लही ॥५॥

अपने स्वारथ के सब कोऊ।
चुप करि रहौ मधुप रस-लपट, तुम देखे अरु ओऊ ॥
जो कछु कह्यौ कह्यौ चाहत हौ, कहि निरवारौ सोऊ।
अब मेरैं मन ऐसियै षटपद, होनी होउ सु होऊ ॥
तब कत रास रच्यौ वृन्दावन, जो पै ज्ञान हुतोऊ।
लीन्हे जोग फिरत जुवतिनि मैं, बड़े सुपत तुम दोऊ ॥
छुटि गयौ मान परेखौ रे अलि, हृदै हुतौ वह जोऊ।
सूरदास-प्रभु गोकुल बिसर्‌यौ, चित चिंतामनि खोऊ ॥६॥

ऊधौ सुधि नाही या तन की।
जाउ कहौ तुम कित हौ भूले, हमदुव भई वन-बन की॥
इक वन ढूंढि सकल वन ढूंढे, वन बेली मधुबन की।
हारी परी वृंदावन ढूंढत, सुधि न मिली मोहन की॥
किए बिचार उपचार न लागत, कठिन बिथा भइ मन की।
सूरदास कोउ कहै स्याम सौं, सुरति करै गोपिनि की॥७॥

मीराबाई

मीराबाई

पद

भज मन चरण-कँवल अबिनासी।
जे ताइ दीसे धरण-गगन-बिच, तेताई सब उठजासी॥
कहा भयो तीरथ-ब्रत कीन्है, कहा लिये करवत कासी।
इस देही का गरब न करना, माटी मे मिल जासी॥
यों संसार चहर की बाजी, साँझ पड्या उठ जासी।
कहा भयो है भगवा पहर्याँ, घर तज भये सन्यासी॥
जोगी होये जुगति नहिं जानी, उलटि जनम फिर आसी।
अरज करों अबला कर जोरे, स्याम तुम्हारी दासी।
मीराँ के प्रभु गिरधर-नागर, काटो जम की फाँसी॥१॥

नहिं ऐसो जन्म बारम्बार।
क्या जाणू कछु पुन्य प्रगटे मानुसा-अवतार॥
बढ़त पल-पल घटत छिन-छिन चलत न लागे बार।
बिरछ के ज्यों पात टूटें लागैं नहिं पुनि डार॥
भौ-सागर अति जोर कहिये विषय ओखी धार।
सुरत का नर बाँधे बेड़ा वेगि उतरै पार॥
साधु सन्ता ते महन्ता चलत करत पुकार।
दास 'मीराँ' लाल गिरधर जीवना दिन चार॥२॥

मै बिरहिणि बैठी जागूं जगत सब सोवै री आली।
बिरहिणि बैठी रंगमहल मे मोतियन की लड पोवै॥
इक बिरहिणि हम ऐसी देखी अँसुवन की माला पोवै।
तारा गिण गिण रैण बिहानी सुख की घड़ी कब आवै॥
'मीराँ' के प्रभु गिरधर नागर मिल के विछुड न जावै॥३॥

मैं हरि विनि क्यूं जिवूं री माई।
पिय कारण बौरी भई, ज्यूं काठहि घुन खाइ।
ओखद मूल न सचरैं, मोहि लाग्यो बौराइ।
कमठ दादुर वसत जल मे, जलहि तैं उपजाइ।
मीन जल के विछुरैं तन, तलफ करि मरि जाइ।
पिव ढूंढण वन वन गई, कहुँ मुरली धुन पाइ।
मीराँ के प्रभु लाल गिरवर, मिलि गये सुखदाइ ॥४॥

सखी मेरी नीद नसानी हो।
पिय को पथ निहारत, सिगरी रैण विहानी हो॥
सव सखियन मिलि सीख दई, मन एक न मानी हो।
विनि देख्याँ कल नाँहि पड़त, जिय ऐसी ठानी हो।
अँगि अँगि व्याकुल भई, मुखि पिय पिय वानी हो।
अन्तर वेदन विरह की, वह पीड न जानी हो।
ज्यूं चातक घन कूं रटै, मछरी जिमि पानी हो।
मीराँ व्याकुल विरहणी, सुध वुध विसरानी हो ॥५॥

कोई कहियौ रे प्रभु आवन की
आवन की मनभावन की, कोई०॥
आप न आवै लिख नहिं भेजै, वाँण पडी ललचावन की।
ए दोइ नैंण कह्यौ नहिं मानैं, नदिया वहै जैसे सावन की।
कहा करूँ कछु नहि वस मेरो, पाँख नही उड जावन की।
मीराँ कहै प्रभु कव रे मिलोगे, चेरी भइ हूँ तेरे दाँवन की ॥६॥

मोहि लागी लगन गुरु चरनन की।
चरन विन कछुवै नाहि भावै, जगमाया सव सपनन की।
भवसागर सव सूखि गयो है, फिकर नही मोहिं तरनन की।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, आस वही गुरु सरनन की ॥७॥

गोस्वामी तुलसीदास

गोस्वामी तुलसीदास

रावण-अङ्गद-सम्वाद

कह दसकंठ कवन तै बंदर। मैं रघुवीर दूत दसकंधर॥
मम जनकहि तोहि रही मिताई। तव हित कारन आएउँ भाई॥
उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती। सिव बिरंचि पूजेहु बहु भाँती॥
बर पाएहु कीन्हेहु सब काजा। जीतेहु लोकपाल सब राजा॥
नृप अभिमान मोह बस किंवा। हरि आनेहु सीता जगदंबा॥
अब सुभ कहा सुनहु तुम्ह मोरा। सब अपराध छमिहि प्रभु तोरा॥
दसन गहहु तृन कंठ कुठारी। परिजन सहित संग निज नारी॥
सादर जनकसुता करि आगे। यहि विधि चलहु सकल भय त्यागे॥

दो०—प्रनतपाल रघुवंसमनि, त्राहि त्राहि अब मोहि।
आरत गिरा सुनत प्रभु, अभय करैगो तोहि॥१॥

रे कपिपोत बोलु संभारी। मूढ न जानेहि मोहि सुरारी॥
कहु निज नाम जनक कर भाई। केहि नाते मानिए मिताई॥
अंगद नाम बालि कर बेटा। तासों कबहुँ भई ही भेटा॥
अंगद बचन सुनत सकुचाना। हा बाली वानर मैं जाना॥
अंगद तही बालि कर बालक। उपजेहु बंस अनल कुल घालक॥
गर्भ न गएउ व्यर्थ तुम्ह जाएहु। निज मुख तापस दूत कहाएहु॥
अब कहु कुसल बालि कहँ अहई। बिहँसि बचन तब अंगद कहई॥
दिन दस गए बालि पहिं जाई। बूझेहु कुसल सखा उर लाई॥
राम बिरोध कुसल जसि होई। सो सब तोहि सुनाइहि सोई॥
सुनु सठ भेद होइ मन ताके। श्री रघुवीर हृदय नहिं जाके॥

दो०—हम कुलघालक सत्य तुम्ह कुलपालक दससीस।
अधौ बधिर न अस कहहिं नयन कान तव बीस ॥२॥

सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥
तासु दूत होइ हम कुल बोरा। अइसहुँ मति उर बिहर न तोरा॥
सुनि कठोर बानी कपि केरी। कहत दसानन नयन तरेरी॥
खल तव कठिन बचन सब सहऊँ। नीति धर्म मैं जानत अहऊँ॥
कह कपि धर्मसीलता तोरी। हमहुँ सुनी कृति परत्रिय चोरी॥
देखी नयन दूत रखवारी। बूड़ि न मरहु धर्म ब्रत धारी॥
कान नाक बिनु भगिनि निहारी। छमा कीन्हि तुम्ह धर्म बिचारी॥
धर्मसीलता तव जग जागी। पावा दरसु हमहुँ बड भागी॥

दो०—जनि जल्पसि जड़ जंतु कपि सठ बिलोकु मम बाहु।
लोकपाल बल बिपुल ससि ग्रसन हेतु सब राहु॥
पुनि नभ सर मम कर निकर कमलन्हि पर करि बास।
सोभत भएउ मराल इव संभु सहित कैलास॥३॥

तुम्हरे कटक माँझ सुनु अंगद। मो सन भिरिहि कवन जोधा बद॥
तव प्रभु नारिबिरह बलहीना। अनुज तासु दुख दुखी मलीना॥
तुम्ह सुग्रीव कूलद्रुम दोऊ। अनुज हमार भीरु अति सोऊ॥
जामवंत मंत्री अति बूढ़ा। सोकि होइ अब समर अरूढ़ा॥
सिल्पिकर्म जानहिं नल नीला। है कपि एक महा बलसीला॥
आवा प्रथम नगरु जेहि जारा। सुनि हँसि बोलेउ बालि कुमारा॥
सत्य बचन कहु निसिचर नाहा। साँचेहु कीस कीन्ह पुर दाहा॥
रावन नगर अल्प कपि दहई। को अस झूंठ सुनै को कहई॥
जो अति सुभट सराहेहु रावन। सो सुग्रीव केर लघु धावन॥
चलइ बहुत सो बीर न होई। पठवा खबरि लेन हम सोई॥

दो०—अब जानेउँ पुर दहेउ कपि बिनु प्रभु आयेसु पाइ।
फिरि न गएउ निज नाथ पहिं तेहि भय रहा लुकाइ॥

सत्य कहहि दसकंठ सब मोहि न सुनि कछु कोह।
कोउ न हमरे कटक अस तो सन लरत जो सोह ॥
प्रीति बिरोध समान सन करिअ नीति असि आहि।
जौं मृगपति बध मेडुकन्हि भल कि कहइ कोउ ताहि ॥
जद्यपि लघुता राम कहुँ तोहि बधे बड दोस।
तदपि कठिन दसकंठ सुनु छत्र जाति कर रोष ॥
बक्र उक्ति धनु बचन सर हृदय दहेउ रिपु कीस।
प्रति उत्तर सड़सिन्ह मनहु काढ़त भट दससीस ॥
हँसि बोलेउ दसमौलि तब कपि कर बड गुन एक।
जो प्रतिपालै तासु हित करै उपाय अनेक ॥४॥

धन्य कीस जो निज प्रभु काजा। जहँ तहँ नाचै परिहरि लाजा ॥
नाचि कूदि करि लोग रिझाई। पति हित करै धर्म निपुनाई ॥
अंगद स्वामिभक्त तव जाती। प्रभु गुन कस न कहसि येहि भाँती ॥
मै गुन गाहक परम सुजाना। तव कटु रटनि करौं नहि काना ॥
कह कपि तव गुनगाहकताई। सत्य पवनसुत मोहि सुनाई ॥
बन बिधंसि सुत बधि पुर जारा। तदपि न तेहि कछु कृत अपकारा ॥
सोइ बिचारि तव प्रकृति सुहाई। दसकंधर मैं कीन्हि ढिठाई ॥
देखेउँ आइ जो कछु कपि भाषा। तुम्हरे लाज न रोष न माषा ॥
जौं असि मति पितु खाएहि कीसा। कहि अस बचन हँसा दससीसा ॥
पितहि खाइ खातेउँ पुनि तोही। अबही समुझि परा कछु मोही ॥
बालि विमल जस भाजनु जानी। हतौं न तोहि अधम अभिमानी ॥
कहु रावन रावन जग केते। मैं निज स्रवन सुने सुनु जेते ॥
बलिहि जितन एकु गएउ पताला। राखा बाँधि सिसुन्ह हयसाला ॥
खेलहिं बालक मारहिं जाई। दया लागि बलि दीन्ह छोडाई ॥
एकु बहोरि सहसभुज देखा। धाइ धरा जिमि जंतु बिसेषा ॥
कौतुक लागि भवन लै आवा। सो पुलस्ति मुनि जाइ छोडावा ॥

दो०—एक कहत मोहि सकुच अति रहा वालि की काँख ।
इन्ह महु रावन तें कवन सत्य वदहि तजि माख ॥५॥

सुनु सठ सोइ रावनु वलसीला । हरगिरि जान जासु भुज लीला ॥
जान उमापति जासु सुराई । पूजेउँ जेहि सिर सुमन चढाई ॥
सिर सरोज निज करन्हि उतारी । पूजेउँ अमित वार त्रिपुरारी ॥
भुज बिक्रम जानहिं दिगपाला । सठ अजहूँ जिन्हके उर साला ॥
जानहिं दिग्गज उर कठिनाई । जव जव भिरौं जाइ वरिआई ॥
जिन्ह के दसन कराल न फूटे । उर लागत मूलक इव टूटे ॥
जासु चलत डोलत इमि धरनी । चढत मत्त गज जिमि लघु तरनी ॥
सोइ रावनु जग विदित प्रतापी । सुनेहि न स्रवन अलीक प्रलापी ॥

दो०—तेहि रावन कहुँ लघु कहसि नर कर करसि वखान ।
रे कपि वर्बर खर्व खल अव जाना तव ज्ञान ॥६॥

सुनि अगद सकोप कह वानी । वोलु सँभारि अधम अभिमानी ॥
सहसवाहु भुज गहन अपारा । दहन अनल सम जासु कुठारा ॥
जासु परसु सागर खर धारा । वूडे नृप अगनित वहु वारा ॥
तासु गर्व जेहि देखत भागा । सो नर क्यो दससीस अभागा ॥
राम मनुज कस रे सठ वगा । धन्वी कामु नदी पुनि गगा ॥
पसु सुरधेनु कल्पतरु रूखा । अन्न दान अरु रस पीयूखा ॥
वैनतेय खग अहि सहसानन । चितामनि पुनि उपल दसानन ॥
सुनु मतिमद लोक वैकुठा । लाभ कि रघुपति भगति अकुठा ॥

दो०—सेन सहित तव मान मथि वन उजारि पुर जारि ।
कस रे सठ हनुमान कपि गएउ जो तव सुत मारि ॥७॥

सुनु रावन परिहरि चतुराई । भजसि न कृपासिधु रघुराई ॥
जौं खल भएसि राम कर द्रोही । ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही ॥
मूढ वृथा जनि मारसि गाला । राम वयर होइहि अस हाला ॥
तव सिर निकर कपिन्ह के आगे । परिहहि धरनि राम सर लागे ॥

ते तव सिर कंदुक सम नाना । खेलिहहिं भालु कीस चौगाना ॥
जबहिं समर कोपिहि रघुनायक । छुटहहिं अति कराल बहु सायक ॥
तबकि चलिहि अस गाल तुम्हारा । अस विचारि भजु राम उदारा ॥
सुनत बचन रावन परजरा । जरत महानल जनु घृत परा ॥

दो०—कुंभकरन अस बंधु मम सुत प्रसिद्ध सक्रारि ।
मोर पराक्रम नहिं सुनेहि जितेउँ चराचर झारि ॥८॥

कवितावली

अवधेस के द्वारे सकारे गई सुत गोद कै भूपति लै निकसे ।
अवलोकि हौं सोचविमोचन को ठगि सी रही जे न ठगे धिक से ॥
तुलसी मन-रंजन रंजित-अंजन नैन सुखंजन जातक से ।
सजनी ससि मे समसील उभै नव नील सरोरुह से विकसे ॥१॥

तन की दुति स्याम सरोरुह लोचन कंज की मंजुलताई हरै ।
अति सुन्दर सोहत धूरि भरे छवि भूरि अनंग को दूरि धरै ॥
दमकै दतियाँ दुति दामिन सी किलकै कल बाल विनोद करै ।
अवधेस के बालक चारि सदा, तुलसी मन मंदिर में बिहरै ॥२॥

वरदंत की पंगति कुन्द कली अधराधर पल्लव खोलन की ।
चपला चमकै घन बीच जुगै छवि मोतिन माल अमोलन की ॥
घुघुरारि लटै लटकै मुख ऊपर कुण्डल लोल कपोलन की ।
नेवछावर प्राण करै तुलसी बलि जाऊँ लला इन बोलन की ॥३॥

पग नूपुर औ पहुँची करकंजनि, मंजु बनी मनिमाल हिये ।
नव नील कलेवर, पीत झँगा झलकै, पुलकै नृप गोद लिये ॥

अरविंद सो आनन, रूप-मरंद अनदित लोचन-भृंग पिये।
मन मो न वस्यो अस बालक जो 'तुलसी' जग में फल कौन जिये ॥४॥

दूलह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुन्दरि मंदिर माही।
गावति गीत सबै मिलि सुन्दरि, वेद जुवा जुरि विप्र पढाही॥
राम को रूप निहारति जानकि कगन के नग की परिछाहीं।
यातें सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारति नाही ॥५॥

पुर ते निकसी रघुवीर-वधू, धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकी भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गए मधुराधर वै॥
फिर बूझति है "चलनो अब केतिक, पर्णकुटी करिहौ कित ह्वै"?
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चली जल च्वै ॥६॥

जल को गए लक्खन, है लरिका, परिखौ पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढे।
पोछि पसेउ बयारि करौं, अरु पाँय पखारिहौं भूभुरि-डाढे॥
'तुलसी' रघुवीर प्रिया स्रम जानि कै बैठि विलव लौ कटक काढे।
जानकि नाह को नेह लख्यौ पुलको तनु वारि विलोचन वाढे ॥७॥

विनय-पद

मेरो मन हरि जू हठ न तजै।
निसिदिन नाथ देउँ सिख वहु विधि करत सुभाउ निजै॥
ज्यौं जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै।
ह्वै अनुकूल विसारि सूल सठ पुनि खल पतिहि भजै॥
लोलुप भ्रमत गृहपसु ज्यो जहँ-तहँ सिर पदत्रान वजै।
तदपि अधम विचरत तेहि मारग कवहुँ न मूढ़ लजै॥
हौ हार्‌यौ करि जतन विविध विधि अतिसै प्रवल अजै।
'तुलसिदास' वस होइ तवहि जव प्रेरक प्रभु वरजै ॥१॥

हरि तुम बहुत अनुग्रह कीन्हो।
साधन धाम विबुध दुरलभ तनु मोहि कृपा करि दीन्हों॥
कोटिहुँ मुख कहि जात न प्रभु के एक-एक उपकार।
तदपि नाथ कछु और माँगिहौं दीजै परम उदार॥
विषय वारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।
ताते सहौं विपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक॥
कृपा डोरि बनसी पद-अंकुस परम प्रेम मृदु चारो।
एहि विधि वेधि हरहु मेरो दुख कौतुक राम तिहारो॥
हैं स्रुति विदित उपाय सकल सुर केहि केहि दीन निहोरे।
'तुलसिदास' यहि जीव मोह-रजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरै॥२॥

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपाल कृपा ते संत-सुभाव गहौंगो॥
यथा-लाभ सतोष सदा काहू सो कछु न चहौंगो।
परहित-निरत निरंतर मन-क्रम-बचन नेम निबहौंगो॥
परुष वचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावन न दहौंगो।
विगत-मान सम-सीतल मन. पर-गुन, नहि दोष कहौंगो॥
परिहरि देह जनित चिंता दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
'तुलसिदास' प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरि-भक्ति लहौंगो॥३॥

———

रहीम खानखाना

रहीम खानखाना

नीति के दोहे

'रहिमन' बात अगम्य कै, कहन सुनन कै नाहिं।
जो जानत सो कहत नहिं, कहत सो जानत नाहिं॥१॥

आप अहै तो हरि नही, हरि तो आपन नाहि।
'रहिमन' गलि है साँकरी, दोनो नहि ठहराहि॥२॥

'रहिमन' अपने गोत कहँ, सबै चहत उत्साह।
मृग उछरत आकाश कहँ, भूमि खनत वाराह॥३॥

मान सहित बिप खाइकै, संभु भये जगदीस।
बिना मान अमृत पियो, राहु कटायो सीस॥४॥

'रहिमन' पानी राखिये, बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरे, मोती मानुष चून॥५॥

'रहिमन' अँसुवा नैन ढरि, जिय दुख प्रगट करेइ।
जाको घर ते काढ़िये, क्यो न भेद कहि देइ॥६॥

काज परे कछु और है, काज सरे कछु और।
'रहिमन' भाँवर के भये, नदी सिरावत मौर॥७॥

मीन काटि जल धोइये, खाये अधिक पियास।
'रहिमन' प्रीति सराहिये, मुयेउ नीर कै आस॥८॥

जाय समानी उदधि मे, गंग नाम भयो धीम।
काकी महिमा ना घटी, पर घर गये रहीम॥९॥

'रहिमन' रिस की छाड़ि कै, करौ गरीबी भेस।
मीठी बोली, नै चलो, सबै तुम्हारो देस॥१०॥

तरुवर फल नहिं खात हैं, सरवर पियहिं न पान।
कहि रहीम पर काज हित, सम्पति सुचहिं सुजान ॥११॥
रीति प्रीति सब सो भली, वैर न हित मित गोत।
'रहिमन' याही जनम की, बहुरि न संगति होत ॥१२॥
जो 'रहीम' मन हाथ है, मनसा कहुँ किन जाहि।
जल में जो छाया परी, काया भीजति नाहि ॥१३॥
कहि रहीम संपति सगे, बनत बहुत बहुरीत।
विपति कसौटी जे कसे, तेई साँचे मीत ॥१४॥
रहिमन देख बड़ेन को, लघु न दीजिये डारि।
जहाँ काम आवै सुई, कहा करे तरवारि ॥१५॥
धनि रहीम गति मीन की, जल बिछुरत जिय जाय।
जियत कंज तजि अंत बसि, कहा भौंर को भाय ॥१६॥
अमर वेलि बिन मूल की, प्रतिपालत है ताहि।
'रहिमन' ऐसे प्रभुहिं तजि, खोजत फिरिये काहि ॥१७॥
दीरघ दोहा अरथ के, आखर थोरे आहिं।
ज्यें 'रहीम" नट कुंडली, सिमिट कूद कढि जाहिं ॥१८॥
'रहिमन' जाचकता गहे, बड़े छोट ह्वै जात।
नारायण हू को भयो, बावन आँगुर गात ॥१९॥
सर सूखे पंछी उड़ै, औरे सरन समाहिं।
दीन मीन बिन पच्छ के, कहु रहीम कहँ जाहिं ॥२०॥
कहु रहीम कैसे निभै, वेर केरु को सग।
वे डोलत रस आपने, उनके फाटत अंग ॥२१॥
खीरा के मुँह काटि के, मलियत लोन लगाय॥
'रहिमन' करुये मुखन को, चहिये यही सजाय ॥२२॥
नैन सलौने अधर मुख, कहु रहीम घटि कौन।
मीठो भावे लोन पर, अरु मीठे पर लौन ॥२३॥

बिहारीलाल

बिहारीलाल

दोहावली

मोहत ओढे पीत पट, स्याम सलोने गात।
मनो नील मनि सैल पर, आतप पर्‌यो प्रभात ॥१॥

अधर धरत हरि के परत, ओठ दीठ पट जोति।
हरित बाँस की बाँसरी, इन्द्र धनुष सी होति ॥२॥

या अनुरागी चित्त की, गति समझै नहिं कोय।
ज्यो ज्यो बूडै स्याम रग, त्यो त्यो उज्ज्वल होय ॥३॥

नैना नेकु न मानही, कितौ कहौ समझाय ॥
तन मन हारे हू हँसै, तिनसों कहा बसाय ॥४॥

लाज लगाम न मानही, नैना मो बस नाहिं।
ये मुंह जोर तुरंग लौ, ऐचत हू चलि जाहिं ॥५॥

इन दुखिया अँखियान को, सुख सिरजोई नाहिं।
देखत वनै न देखते, विन देखे अकुलाहिं ॥६॥

थोरेई गुन रीझते, बिसराई वह बानि।
तुमहू कान्ह मनो भये, आज कालि के दानि ॥७॥

कीजै चित सोई तरे, जिहि पतितन के साथ।
मेरे गुन औगुन गनन, गनो न गोपीनाथ ॥८॥

कोऊ कोटिक संग्रही, कोऊ लाख हजार।
मो सम्पति जदुपति सदा, विपति विदारनहार ॥९॥

करौ कुवत जग कुटिलता, तजौ न दीनदयाल।
दुखी होहुगे सरल चित, बसत त्रिभंगीलाल ॥१०॥

हौं अनेक अवगुन भरी, चाहै याहि वलाय।
जो पति सम्पति हू विना, जदुपति राखे जाय॥११॥

अलि इन लोचन को कछू, उपजी वडी वलाय।
नीर-भरे नित प्रति रहै, तऊ न प्यास वुझाय॥१२॥

कहत सवै वेदी दिये, आँकु दसगुनो होत।
तिय-लिलार वेंदी दिये, अगनित वढतु उदोत॥१३॥

कुटिल अलक छुटि परत मुख, वढिगो इतो उदोतु।
वक विकारी देत ज्यो, दाम रुपैया होतु॥१४॥

अजौ तर्‌योना ही रह्यो, स्रुति सेवक इक-रग।
नाक-वास वेसरि लह्यो, वसि मुकुतन के सग॥१५॥

गिरिते ऊँचे रसिक मन, वूडे जहाँ हजार।
वहै सदा पसु-नरन को, प्रेम-पयोधि पगार॥१६॥

वतरस-लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै भौंहनि हँसै, दैन कहै, नटि जाइ॥१७॥

लाज लगाम न मानही, नैना मो वस नाहि।
ये मुँह-जोर तुरग लौं, ऐंचत हूँ चलि जाहि॥१८॥

छप्यौ छवीली मुख लसै, नीले अचल चीर।
मनौ कलानिधि झलमलै, कालिंदी के नीर॥१९॥

दृग अरुझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हिये, दई नई यह रीति॥२०॥

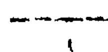
छतौ नेह कागद हिये, भई लखाइ न टाँक।
विरह तचे उघर्‌यो सु अव, सेहुँड़ कैसो आँक॥२१॥

मानहुँ विधि तन अच्छ छवि, स्वच्छ राखिवे काज।
दृग-पग पोछन को कियो, भूपन - पायदाज॥२२॥

तन्त्री नाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े तरे, जे बूड़े सब अंग॥२३॥

कहा भयौ जौ बीछुरे, मो मनु तो मनु साथ।
उड़ी जाय कितहूँ तऊ, गुड़ी उड़ायक - हाथ॥२४॥

या भव - पारावार कौ, उलँघि पार को जाइ।
तिय छवि छाया ग्राहिनी, ग्रहै बीच ही आइ॥२५॥



रसखान

रसखान

देव-गुण-गान

घूरि-भरे अति सोभित स्यामजू, तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।
खेलत-खात फिरै अँगना, पग पैजनी बाजती, पीरी कछौटी॥
वा छबि को 'रसखानि' बिलोकत, बारत काम-कलानिधि कोटी।
काग के भाग कहा कहिए, हरि-हाथ ते लै गयो माखन-रोटी॥१॥

सोहत है चँदवा सिर मोर के, जैसिये सुंदर पाग कसी है।
तैसिये गोरज भाल बिराजति, जैसी हिये बनमाल लसी है॥
'रसखानि' बिलोकति बौरी भई, दृग मूँदि कै ग्वारि पुकारि हँसी है।
खोलि री घूँघट, खोलौ कहा, वह मूरति नैननि माँझ बसी है॥२॥

द्रौपदि औ गनिका गज गीध, अजामिल सो कियो सो न निहारो।
गौतम-गेहिनी कैसे तरी, प्रह्लाद को कैसे हर्‌यौ दुख भारो॥
काहे को सोच करै "रसखानि" कहा करि है रविनद बिचारो।
कौन की सक परी है जु माखन-चाखनहारो है राखनहारो॥३॥

यह देखि धतूरे के पात चबात, औ गात सो धूरि लगावतु है।
चहुँ ओर जटा अटकै, लटकै सुभ सीस फनी फहरावतु है॥
'रसखानि' जोई चितवै चितदै, तिनके दुख-दुद भजावतु है।
गजखाल, कपाल की माल बिसाल, सो गाल बजावतु आवतु है॥४॥

बैद की औषधि खाइ कछू, न करै कछु संजम री, सुनि मोसे।
तो जलपान कियौ, 'रसखानि' संजीवनि जानि लियौ सुख तोसे॥
एरी सुधामयी भागीरथी! सब पथ्य-कुपथ्य बनै तोहि पोसे।
आक धतूर चबात फिरै, विष खात फिरै सिव तोरे भरोसे॥५॥

भूषण

भूषण

कविता

(१)

जा दिन जनम लीन्हो भू पर भुसिल भूप,
ताही दिन जीत्यो अरि-उर के उछाह को।
छठी छत्रपतिन को जीत्यो भाग अनायास,
जीत्यो नामकरण मे करन-प्रवाह को॥
'भूषण' भनत बाल-लीला गढकोट जीत्यो,
साहि के सिवाजी, करि चहूँ चक्क चाह को ।
बीजापुर-गोलकुंडा जीत्यो लरिकाई ही मे,
ज्वानी आए जीत्यो दिल्लीपति पातसाह को॥

(२)

कवि कहैं करन, करनजीत कमनैत,
अरिन के उर माहिं कीन्ह्यो इमि छेव है।
कहत धरेस सब, धराधर सेस ऐसो,
और धरा-धरन को मेट्यौ अहमेव है॥
'भूपन' भनत महाराज सिवराज तेरो,
राज-काज देखि कोऊ पावत न भेव है।
कहरी यदिल, मौज लहरी कुतुब कहै,
बहरी निजाम को जितैया कहै देव है॥

(३)

कामिनी कंत सो, जामिनी चद सो, दामिनी पावस-मेघ घटा सो।
कीरति दान सों, सूरति ज्ञान सो, प्रीति वडी सनमान महा सो।

'भूपन' भूपन सो तरुनी, नलिनी नव पूपन देव प्रभा सो।
जाहिर चारिहु ओर जहान लसै हिन्दुवान खुमान सिवा सो॥

(४)

देसन देसन नारि नरेसन 'भूपन' यो सिख देहि दया सो।
मगन ह्वै करि दत गहो तिन, कत तुम्है है अनंत महा सो।
कोट गहौ कि गहौ वन ओट कि फौज की जोट सजौ प्रभुता सो।
और करौ किन कोटिक राह सलाह विना वचिहौ न सिवासो॥

(५)

ऊँचे घोर मदर के अदर रहनवारी ऊँचे घोर मदर के अदर रहाती है।
कद मूल भोग करै कद मूल भोग करै, तीन वेर खाती सो तौ तीन वेर खाती है।
भूपन शिथिल अग भूपन सिथिल अग विजन डुलाती तेअव विजन डुलाती है।
'भूपन' भनत सिवराज वीर तेरे त्रास नगन जड़ाती ते व नगन जडाती है॥

(६)

केतिक देस दल्यो दल के वल दच्छिन चगुल चाँपि कै चाख्यो।
रूप-गुमान हर्‌यो गुजरात को सूरत को रस चूसि कै नाख्यो।
पजन पेलि मलिच्छ मले सव सोई वच्यो जेहि दीन ह्वै भाख्यो।
सो रग है सिवराज वली जेहि नौरँग मै रँग एक न राख्यो॥

(७)

सक्र जिमि सैल पर, अर्क तम फैल पर, विघन की रैल पर लवोदर लेखिये।
राम दसकंध पर, भीम जरासंघ पर, 'भूपन' ज्यो सिघु पर कुंभज विसेखिये।
हर ज्यों अनंग पर, गरुड भुजंग पर, कौरव के अग पर पारथ ज्यो पेखिये।
वाज ज्यो विहंग पर, सिंह ज्यो मतंग पर, म्लेच्छ चतुरंग पर सिवराज देखिये॥

(८)

राजत अखड तेज छाजत सुजस बडो,
गाजत गयद दिग्गजन हियसाल को।
जाहि के प्रताप सो मलीन आफताप होत,
तापतजि दुजन करत बहु ख्याल को।
साज सजि गज तुरी पैदर कतार दीन्हे,
'भूषन' भनत ऐसे दीन प्रतिपाल को।
आर राव राजा एक मन मै न ल्याऊँ अब,
साहू को सराहौ कै सराहौ छत्रसाल को॥

(९)

आपस की फूट ही ते सारे हिन्दुवान टूटे,
टूट्यो कुल रावन अनीति अति करते।
पैठिगो पताल वलि बज्रधर-ईरषा ते
टूट्यो हिरनाक्ष अभिमान चित्त धरते।
टूट्यो शिशुपाल वासुदेवजूसो वैर करि,
टूट्यो है महिष दैत्य अधम बिचरते।
रामकर छुवन ते टूट्यो ज्यो महेश चाप
टूटी पातसाही सिवराज सग लरते॥

(१०)

कारो जल जमुना को काल सो लगत आली,
छाइ रह्यो मानो यह विष काली नाग को।
वैरिन भई है कारी कोयल निगोडी यह,
तैसो हि भँवर कारो बसि बन वाग को।
'भूपन' भनत कारे कान्ह को वियोग हियै,
सब दुखदाई जो करैया अनुराग को।
कारो घन घेरि घेरि मार्‌यो अब चाहत है,
एते पर करति भरोसो कारे काग को॥

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

गंगा-छवि-वर्णन

नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच-बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता-मनि पोहति॥
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नर-गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत॥

सुभग स्वर्ग-सोपान-सरिस सब के मन भावत।
दरसन मज्जन पान त्रिविध भय दूर मिटावत॥
श्रीहरि - पद-नख-चंद्रकांत-मनि-द्रवित सुधारस।
ब्रह्म - कमंडल - मंडन, भव - खंडन सुर-सरवस॥

शिव - सिर - मालति - माल, भगीरथ नृपति-पुन्य-फल।
ऐरावत-गज गिरि-पति-हिम-नग-कंठहार कल॥
सगर-सुवन सठ सहस परस जल मात्र उधारन।
अगनित धारा रूप धारि सागर संचारन॥

कासी कहँ प्रिय जानि ललकि भेंट्यो जग धाई।
सपने हू नहि तजि, रही अंकम लपटाई॥
कहूँ बँधे नव घाट, उच्च गिरिवर-सम सोहत।
कहुँ छतरी, कहुँ मढ़ी, बढ़ी मन मोहत जोहत॥

धवल धाम चहुँ ओर फरहरत धुजा पताका।
घहरत घटा धुनि धमकत धौंसा करि साका॥
मधुरी नौबत बजत, कहूँ नारी-नर गावत।
वेद पढ़त कहुँ द्विज, कहुँ जोगी ध्यान लगावत॥

कहुँ सुदरी नहात नीर कर-जुगल उछारत ।
जुग अंबुज मिलि मुक्त गुच्छ मनु मुच्छ निकारत ॥
धोवत सुदरि वदन करन अति ही छवि पावत ।
वारिधि नाते ससि कलक मनु कमल मिटावत ।
सुदरि-ससि-मुख नीर मध्य इमि सुदर सोहत ।
कमल वेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत ॥
दीठि जही जहँ जात रहत तितही ठहराई ।
गंगा छवि हरिचद कछू वरनी नहिं जाई ॥

स्फुट पद्य

आजु व्रज होत कोलाहल भारी ।
नंदराय घर मोहन प्रकटे भक्तन के सुखकारी ॥
जित तित ते धाई टीको लै अति आकुल व्रजनारी ।
निरखन कारन स्याम नवल ससि उमँगी सजि सजि सारी ।
गावत गोप चोप भरि नाचत दै दै कै कर-तारी ।
वाजे वजत उड़त दधि माखन छीर मनहुँ धनवारी ।
दान देत नँदराय उमँगि रस रतन धेनु विस्तारी ।
'हरिचद' सो निरखि परम सुख देत अपनपौ वारी ॥२॥

आजु भौन वृषभानु के प्रगटी श्री राधा ।
दूरि भई है री सखी त्रिभुवन की वाधा ॥
को कवि जो छवि कहि सकै कछु कहि नहिं आवै ।
आनँद अति परगट भयो दुख दूरि वहावै ॥
डारहिं सव व्रज-गोपिका तन-मन-धन वारी ।
'हरीचद' श्री राधिका-पद पै वलिहारी ॥२॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

पावस वर्णन

सरस-सुन्दर सावन-मास था।
घन रहे नभ मे घिर-घूमते।
विलसती बहुधा जिनमें रही।
छविवती - उड़ती बक- मालिका ॥१॥

घहरता गिरि-सानु समीप था।
बरसता छिति-छू नव-वारि था।
घन कभी रवि-अंतिम-अंशु ले।
गगन मे रचता बहु-चित्र था ॥२॥

नव-प्रभा परमोज्वल-लीक सी।
गति-मती कुटिला - फणिनी- समा।
दमकती दुरती घन-अक मे।
विपुल केलि-कला-खनि दामिनी ॥३॥

विविध-रूप धरे नभ मे कभी।
विहरता वर-वारिद-व्यूह था।
वह कभी करता रस-सेक था।
बन सके जिससे सरसा-रसा ॥४॥

सलिल-पूरित थी सरसी हुई।
उमड़ते पड़ते सर-वृन्द थे।
कर सुप्लावित कूल प्रदेश को।
सरित थी सप्रमोद प्रवाहिता ॥५॥

वसुमती पर थी अति-शोभिता।
नवल कोमल-श्याम-तृणावली।
नयन-रजनता मृदु-मूर्ति थी।
अनुपमा-तरु-राजि - हरीतिमा ॥६॥

हिल, लगे मृदु-मन्द-समीर के।
सलिल-बिंदु गिरा मुठि अक से।
मन रहे किसका न विमोहते।
जल-धुले दल पादप - पुंज के ॥७॥

विपुल मोर लिये बहु-मोरिनी।
विहरते सुख से स-विनोद थे।
मरकतोपम पुच्छ-प्रभाव से।
मणि-मयी कर कानन कुंज को ॥८॥

वन प्रमत्त-समान पपीहरा।
पुलक के उठता कह पी कहाँ।
लख वसंत-विमोहक मंजुता।
उमग कूक रहा पिक-पुंज था ॥९॥

स-रव पावस - भूप - प्रताप जो।
सलिल में कहते बहु भेक थे।
विपुल - झींगुर तो थल मे उसे।
धुन लगा करते नित गान थे ॥१०॥

सुखद - पावस के प्रति सर्व की।
प्रकट सी करती अति-प्रीति थी।
वसुमती - अनुराग - स्वरूपिणी।
विलसती - बहु - वीर - बहूटियाँ ॥११॥

परम-म्लान हुई बहु-वेलि को।
निरख के फलिता अति पुष्पिता।
सकल के उर में रम सी गई।
सुखद-शासन की उपकारिता ॥१२॥

विविध आकृति औ' फल फूल की।
उपजती अवलोक सु-बूटियाँ।
प्रकट थी महि-मण्डल मे हुई।
प्रियकरी प्रतिपत्ति पयोद की ॥१३॥

रस-मयी भव-वस्तु विलोक के।
सरसता लख भूतल-व्यापिनी।
समझ है पडता बरसात में।
उदक का रस नाम यथार्थ है ॥१४॥

मृतक-प्राय हुई तृण-राजि भी।
सलिल से फिर जीवित हो गई।
फिर सु-जीवन जीवन को मिला।
बुध न जीवन क्यों उसको कहे ॥१५॥

बूँदियाँ

थी बरसना चाहती, छाई घटा,
किन्तु, तो भी थी बहुत बूंदे अडी।
बेतरह उनमे मची थी खलबली
देख यह कुछ बूंदियाँ यो कह पडी ॥१॥

किसलिए बहनो बता दो हो अड़ी,
तुम सबो ने क्यो गँवा साहस दिया।
क्या कहेगें, लोग दिल मे सोच लो,
जो न धरती को बरस कर तर किया ॥२॥

है यहाँ मिलती बडी सुथरी हवा,
है यहाँ कुछ और ही न्यारी छटा।
श्याम रगत की बडी मनमोहिनी,
बादलो की है यहाँ बाँकी अटा ॥३॥

खूब चंचल दौडने वाली बडी,
जो बहुत ही हम सबो से है हिली।
घूमती दिन-रात है जिस पर चढी,
मन-चली घोड़ी हवा की है मिली ॥४॥

साडियाँ देती पिन्हा है सतरंगी,
सामने पड़ रँग-बिरंगी रवि-किरन।
चित्त किसका मोह जाता है नहीं,
देखकर जिनकी बडी न्यारी फबन ॥५॥

है यहाँ पर मिल रहे सुख नित नये,
पर न तब भी आपदा सकती है टल।
है डरा देते गरज करके जलद,
कौंध कर बिजली बनाती है विकल ॥६॥

फिर सहमना हो नहीं सकती भला,
जोहती है हम सबो का मुख धरा।
पा हमे पौधे बडे होगे सुखी,
कितने ही सूखा बदन होगा हरा ॥७॥

है यहाँ पर भी नही सुख की कमी,
फूल खिलकर गोद में लेंगे हमे।
मोतियो की-सी दमक दिखलायेंगे,
नोक पर तृण की हमारे कन थमे ॥८॥

जो नही हम सब दिखायेगी दया,
हो सकेगा किस तरह शीतल अचल।
बढ़ सकेगी किस तरह नदियाँ घटी,
सूखता सर किस तरह होगा सजल॥९॥

प्यास धरती की बुझेगी किस तरह,
कर सकेगा ऊसरों को कौन तर।
जी सकेगी ये बिचारी दूब क्यो,
चातकों का किस तरह होगा बसर॥१०॥

है सदा से ही जगत की रीति यह,
काम एक का दूसरे से है चला।
भूमिवालो की भलाई के लिए,
धूल मे मिल जायँ तो भी है भला॥११॥

काम इतनी बात से ही हो गया,
भरभरा कर साथ सब बूँदें गिरी।
हो गई आनन्द-पूरित सब धरा,
मोद की सब ओर डौड़ी-सी फिरी॥१२॥

मैथिलीशरण गुप्त

मैथिलीशरण गुप्त

गीत

(१)

मुझे फूल मत मारो !
मैं अवला वाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो !
होकर मधु के मीत मदन, पटु, तुम कटु गरल न गारो,
मुझे विकलता, तुम्हे विफलता, ठहरो, श्रम परिहारो।
नहीं भोगिनी यह मैं कोई, जो तुम जाल पसारो,
वल हो तो सिन्दूर-विन्दु यह—यह हर-नेत्र निहारो !
रूप-दर्प कन्दर्प तुम्हे, तो मेरे पति पर वारो,
लो, यह मेरी चरण-धूलि उस रति के सिर पर धारो !

(२)

अब जो प्रियतम को पाऊँ!
तो इच्छा है, उन चरणो की रज मैं आप रमाऊँ।
आप अवधि वन सकूँ कही तो क्या कुछ देर लगाऊँ,
मैं अपने को आप मिटाकर, जाकर उनको लाऊँ।
ऊषा-सी आई थी जग मे, सन्ध्या-सी क्या जाऊँ ?
श्रान्त पवन-से वे आवे, मैं सुरभि-समान समाऊँ!
मेरा रोदन मचल रहा है, कहता है, कुछ गाऊँ,
उधर गान कहता है, रोना आवे तो मैं आऊँ!
इधर अनल है और उधर जल, हाय ! किधर मैं जाऊँ ?
प्रवल वाष्प, फट जाय न यह घट, कह तो हा हा खाऊँ ?

फा० २२

(३)

कूक उठी है कोयल काली!
ओ मेरे वनमाली!

चक्कर काट रही है रह-रह, सुरभि मुग्ध मतवाली,
अम्बर ने गहरी छानी यह, भूपर दुगुनी ढाली।
ओ मेरे वनमाली!

समय स्वयं यह सजा रहा है डगर-डगर में डाली,
मृदु समीर-सह बजा रहा है नीर तीर पर ताली,
ओ मेरे वनमाली!

लता कण्टकित हुई ध्यान से ले कपोल की लाली,
फूल उठी है हाय! मान से प्राण भरी हरियाली।
ओ मेरे वनमाली!

ढलक न जाय अर्घ्य आँखो का, गिर न जाय यह थाली,
उड न जाय पंछी पाँखो का, आओ हे गुणशाली!
ओ मेरे वनमाली!



कुणाल गीत

तत्त्व तल से ही निकलता,
देख लो, यह रहट चलता।

चकित हरिणी-सी न चौंको, निकट जाओ, डर नही है,
वृषभ वाहन मुण्डमाली वह विकट यह हर नही है।
शुद्ध शंकर रूप है यह प्रकट प्रलयंकर नही है,
गम्य मे है वास इसका घोर मरघट घर नही है।
लोक इससे फूल फलता,
देख लो, यह रहट चलता।

हर घटा की घन घटा का यह घरर घर्घर नही है,
मधुर मर्मर से अधिक क्या यह चरर चर्मर नही है।
हरि कहूँ या विधि, झरित क्या सुर-सरित झर-झर नही है,
प्रकट धन्वन्तरि चला क्या अमृत-घट भर भर नही है।
दूर हो वाधा विकलता,
देख लो, यह रहट चलता!

यन्त्र है यह, पर नही कुछ पाप या उपपाप इसमे,
सहज शीतलता भरी है, फिर रहे क्यो ताप इसमे।
डूब बहता है प्रखरतर काल का अभिशाप इसमे,
खोजता-सा दीखता है आप अपना आप इसमे।
और पालक अन्न पलता,
देख लो, यह रहट चलता।

धन्य तू अयि यन्त्र-घटिके, क्या करूँ तेरी बडाई,
एक साथ उडेल सब रीती गई, भर लौट आई।
कह, कहाँ आवागमन की यह अनोखी युक्ति पाई?
नियत बन्धन में पडी भी मोल ली तू मुक्ति लाई।
धन्य है तेरी कुशलता,
देख लो; यह रहट चलता!

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

उद्धव का ब्रज में पहुँचना

(१)

दुख-सुख ग्रीषम औ सिसिर न व्यापै जिन्है,
छापै छाप एकै हिये ब्रह्म-ज्ञान-साने मैं।
कहै रत्नाकर गँभीर सोई ऊधव कौ,
धीर उधरान्यो आनि ब्रज के सिवाने मैं ॥
औरै मुख-रंग भयो सिथिलित अंग भयौ,
वैन दवि दंग भयौ गर गरुवाने मैं।
पुलकि पसीजि पास चाँपि मुरझाने काँपि,
जानै कौन बहति बयारि बरसाने मैं ॥

(२)

भेजे मन भावनके ऊधव के आवन की,
सुधि ब्रज-गाँवनि मैं पावन जबै लगी।
कहै रत्नाकर ग्वालिनि की झौरि-झौरि,
दौरि-दौरि नद-पौरि आवन तबै लगी ॥
उझकि-उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै,
पेखि-पेखि पाती छाती छोहनि छबै लगी।
हमकौ लिख्यौ-है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमकौ लिख्यौ है कहा, कहन सबै लगी ॥

(३)

दीन दसा देखि व्रज-बालनि की ऊधव कौ,
    गरि गौ गुमान ज्ञान गौरव गुठाने से।
कहै रतनाकर न आये मुख बैन, नैन,
    नीर भरि ल्याये, भाये सकुचि सिहाने से॥
सूखे से, स्रमे से, सकबके से, सके से, थके,
    भूल से, भ्रमे से, भभरे से, भकुवाने से।
हौले से, हले से, हूल हूले से, हिये मैं हाय,
    हारे से, हरे से, रहे हेरत हिराने से॥

(४)

सोई कान्ह, सोई तुम, सोई सब ही है लखौ,
    घट-घट अंतर अनत स्यामघन कौ।
कहै रतनाकर न भेद-भावना सौ भरौ,
    बारिधि औ बूंद के बिचारि बिछुरन कौ॥
अविचल चाहत मिलाप जौ विलाप त्यागि,
    जोग-जुगती करि जुगाऔ ज्ञान-धन कौ।
जीव आतमा कौ परमातमा मैं लीन करौ,
    छीन करौ तन कौ, न दीन करौ मन कौ॥

गंगावतरण

वचन बद्ध त्रिपुरारि ताकि सन्नद्ध निहारत।
दियो ढारि विधि गंग-वारि मगल उच्चारत॥
चली विपुल-बल-वेग वलित वाढ़ति ब्रह्मद्रव।
भरति भुवन भय भार मचावति अखिल उपद्रव॥
निकसि कमडल तैं उमगि नभ मंडल खडित।
धाई धार अपार वेग सौ वायु विहंडित॥

भयौ घोर अति शब्द धमक सौ त्रिभुवन तर्जे।
महामेघि मिलि मनहु एक संगहि सब गर्जे ॥
भरके भानु-तुरंग चमकि चलि मग सौ सरके।
हरके वाहन रुकत-नैक नहि बिधि हरि हर के ॥
दिग्गज करि चिक्कारि नैन फेरत भय थर के।
धुनि प्रतिधुनि सौ धमकि धराधर के उर धरके ॥

कढ़ि-कढि गृह सौ बिबुध बिबिध जाननि पर चढि-चढि।
पढि-पढ़ि मगल पाठ लखत कौतुक कछु बढि-बढि ॥
सुर सुन्दरी ससंक बक दीरघ दृग कीने।
लगी मनावन सुकृत हाथ कानन पर दीने ॥

निज दरेर सौ पौन-पटल फारति फहरावति।
सुर-पुर के अति सघन घोर घनि घसि घहरावति ॥
चली धार धुधकारि धरा दिसि काटति कावा।
सगर-सुतनि के पाप-ताप पर बोलति धावा ॥

विपुल वेगि सौ कवहुँ उमगि आगे कौ धावति।
सौ सौ जोजन लौ सुढार ढरतहि चलि आवति ॥
फटिकसिला के वर-बिसाल मन विस्मय बोहत।
मनहु विसद छद अनाधार अबर मैं सोहत ॥
स्वाति-घटा घहराति मुक्ति पानिप सौ पूरी।
कैधौं आवति झुकति सुभ्र आभा रुचि रूरी ॥
मीन-मकर-जल-व्यालिनी की चल-चिलक सुहाई।
सो जनु चपला चमचमाति चंचल छबि छाई ॥

रुचिर रजतमय कै बितान तान्यौ अति बिस्तर।
झिरति बुंद सो झिलमिलात मोतिन की झालर ॥
ताके नीचे राग रग के ढंग जमाए।
सुर बनितनि के वृन्द करत आनन्द-बधाए ॥

वर - विमान - गज -वाजि चढे जो लखत देवगन ।
तिनके तमकत तेज दिव्य दमकत आभूपन ।।
प्रतिविम्वित जव होत परम प्रसरित प्रवाह पर ।
जान परत चहुँ ओर उए नव विमल विभाकर ।।

रामनरेश त्रिपाठी

रामनरेश त्रिपाठी

देश-सुषमा

छूता हुआ गाँव की सीमा अति निर्मल जलवाला।
बहता है अविराम निरन्तर कल कल स्वर से नाला।
अनतिदूर पर हरियाली से लदी खडी गिरिमाला।
किन्तु नही इससे हृदयो मे है आनन्द-उजाला॥१॥

कही श्याम चट्टान, कही दर्पण-सा उज्ज्वल सर है।
कही हरे तृण खेत, कही गिरि-स्रोत प्रवाह प्रखर है।
कही गगन के खम्भ नारियल तार-भार सिर धारे।
रस-रसिको के लिये खडे ज्यो सुप्त नकार इशारे॥२॥

घेर रही है जिसे पल्लवित लता सुगन्धित झाडी।
छाया-शयित सघन आच्छादित कुंचित पन्थ पहाड़ी।
सर्वोपरि उन्नत मन की-सी लक्षित अचल उँचाई।
एक घडी को भी न किसी के लिए हुई सुखदायी! ॥३॥

ऊँचे से झरने झरते हैं, शीतल धार धवल है।
यहाँ परम सुख-शान्ति-समन्वित नित आनन्द अटल है।
कही धार के पास शिला पर बैठ लोग क्षण भर को।
पा सकते है शाति, मिटा सकते है जी के ज्वर को॥४॥

वार-वार वक-पक्ति-गमन के उज्ज्वल फूलोवाली।
मेघपुष्प-वर्षा से धूमिल घटा क्षितिज पर काली।
लहराती दृग की सीमा तक धानो की हरियाली।
वारिज-नयन गगन-छवि-दर्शक सर की छटा निराली।।५।।

कदली-वन से हरी धरा को देख न आँख अघाती।
क्यो यह नही गाँववालो के जी की जलन मिटाती!
गेहूँ चने मटर जौ के है खेत खडे लहराते।
क्या कारण है जो ये मन का कुछ न विषाद मिटाते।।६।।

निम्ब कदम्ब अम्ब इमली की श्याम निरातप छाया।
सेवन कर फिर लोक-शोक की याद न रखती काया।
वैठ वाग की विशद मेड़ पर कोमल अमल पवन मे।
आँख मूँद करता किसान है श्रम का अनुभव मन मे।।७।।

कोकिल का आलाप, पपीहे की बिरहाकुल वानी।
तोता मैना का विवाद, बुलबुल की प्रेम-कहानी।
मधुर प्रेम के गीत तरुणियाँ गाती खेत निराती।
क्या ये क्षण भर को न किसी के मन का कष्ट भुलाती? ।।८।।

विमलोदक पुष्कर मे बिकसे चित्र-विचित्र कुसुम है।
खडे चतुर्दिक् शात-भाव से लतिकालिगित द्रुम है।
देख सलिल-दर्पण में शोभा वे फूले न समाते।
दे प्रसून उपहार सरोवर को निज हर्ष जनाते।।९।।

सुन्दर सर है, लहर मनोरथ-सी उठकर मिट जाती।
तट पर है कदम्ब की विस्तृत छाया सुखद सुहाती।

लटक रहे है धवल सुगन्धित कन्दुक-से फल फूले।
गूँज रहे है अलि पीकर मकरन्द मोद मे भूले ॥१०॥

वजुल मजुल सदा सुसज्जित मज्जित छदन-बिसर से।
अलिकुल आकुल वकुल मुकुल सकुल व्याकुल नभचर से।
आस-पास का पथ सुरभित है महक रही फुलवारी।
विछा फूल की सेज, वज रही वीणा है सुखकारी ॥११॥

नालों का सयोग, साँझ का समय, घना जगल है।
ऊँचे नीचे खोह कगारे निर्जन बीहड थल है।
रह-रह कर सौरभ समीर मे है वन-पुष्प उडाते।
ताप-तप्त जन यहाँ क्यो न आकर क्षण एक जुड़ाते ॥१२॥

सन्ध्या समय चतुर्दिक् से वहु हर्ष-निनाद सुनाते।
विविध रूप-रगो के पक्षी झुण्ड-झुण्ड मिल आते।
वैठ पल्लवो पर सव मिलकर गान मनोहर गाते।
अद्भुत वाद्य-यत्र पादप को है प्रतिदिवस बनाते ॥१३॥

प्रात काल ममत्व-हीन वे कहाँ-कहाँ उड जाते।
जग को हैं अनित्य मेले का रोचक पाठ पढाते।
यह सव नही देख क्यो मन मे उत्तम भाव समाते ?
लोग यहाँ पर वैठ घड़ी-भर क्यो न सीख कुछ जाते ॥१४॥

अति निस्तब्ध निशीथ तमावृत मौन प्रकृति-कुल सारा।
शान्त गगन मे झिलमिल करते है नित नीरव तारा।
निद्रित दिशा, समीर, सुकोमल उदयोन्मुख हिमकर है।
क्या सब शोक भुलाने का यह नही एक अवसर है ॥१५॥

चारो ओर तुषार-धवल पर्वत चुपचाप खडा है।
प्रकृति-मुकुर-सा एक सरोवर उसके मध्य जडा है।
तट पर एक शिला सुन्दर है, बैठ यहाँ यदि जाते--
तो क्या एक घडी न किसी के दृग, मन, प्राण जुडाते ॥१६॥

लीची, श्रीफल, सेव, आम, बादाम, दाख, बेदाना।
रस से भरे विविध मेवो की रुचि आकृति है नाना।
सब प्रभु की अद्भुत रचना का दृश्य विचित्र दिखाते।
दिव्य अयाचित दया प्राप्त कर क्यो न लोग सुख पाते ! ॥१७॥

गिरि, मैदान, नगर, निर्जन मे एक भाव मे माती।
सरल कुटिल अति तरल मृदुल गति से वहु रूप दिखाती।
अस्थिर समय समान प्रवाहित ये नदियाँ कुछ गाती।
चली कहाँ से, कहाँ जा रही, क्यो आयी, क्यो जाती ? ॥१८॥

इन्हे देखकर क्यो न लोग आश्चर्य प्रकट करते है।
इनके दर्शन से निज मन का कष्ट क्यो न हरते है ?
जहाँ लता तृण मे है केवल फोग प्रतिष्ठा पाते।
टीबे ही टीबे बालू के जहाँ दृष्टि मे आते ॥१९॥

मधुर मतीरे जहाँ कलेजे की है तपन मिटाते।
गाधि-पुत्र की याद जहाँ है ऊँट भरूँट दिलाते।
मृग-तृष्णा के दृश्य जहाँ पर नित्य देख पड़ते है।
इने-गिने सावन-भादो मे वारि-बुन्द झड़ते है ॥२०॥

कोमल पथ है, दिशा शान्त है, वायु स्वच्छ सुखकर है।
गान भृंग का, नृत्य मोर का, दृश्य बड़ा सुन्दर है।

ऐसी विविध विलक्षणता से सजा प्रकृति का तन है।
होते क्यो न देखकर इनको हर्ष-विमोहित जन है! ॥२१॥

पंकज, रम्भा, मदन, मल्लिका, पोस्त, गुलाब-मुकुल का।
रक्तक, कुन्द-कली, पिक, किशुक, नरगिस, मधुकर-कुल का।
संग्रह है चम्पक, शिरीष का धर्म-सुरभिमय नारी।
मानो फूल रही है सुन्दर घर-घर मे फुलवारी ॥२२॥

माखनलाल चतुर्वेदी

माखनलाल चतुर्वेदी

नाश का त्योहार

नाथ, मुझसे नेक बोलो, इस जलन मे स्वाद क्यो है?
एक अमर लुभावने से, पतन मे आह्लाद क्यो है?
क्यो न फिसलन मे पुराना-पन कभी आता बताओ?
और चढने मे थकावट का प्रबल अवसाद क्यो है?

बावली लतिका, बता यह फूलने का मोह कैसा?
फूल नश्वर, अमर काँटे, उन्ही से जग-द्रोह कैसा?
टपक पडने के दिनो को न्योतना है फूल-डाली।
मिलन-तरु का आमरण फल, यह विषाद-विछोह कैसा?

है मधुर कितना, कि भू मे अकुरो का उपज आना,
मोर-पखो-सा, कि पल्लव-रूप का बाना सजाना।
एक लहर उठी कि माथा भूमि पर झुक-झूम जाना,
और जोर बढा कि काले ककडो तक चूम जाना।

एक दिन जो फेक देना है कि मधुर दुलार क्यो है?
कुचलने के बाद, हाहाकार का शृगार क्यो है?
एक झोका वायु से ले, सिर हिलाकर तुनक जाना,
और मीरा का मनोहर नृत्य बनकर छुमक जाना;

भूमि से विद्रोह!—ऊँचा सिर उठाना, खूब ऊँचा!
पत्तियो की ताल बन कर फिर स्वरो पर चुमक जाना।
अये, किस दिन के लिए पतझड बना व्यापार क्यो है?
लाडिली, दुःखद बनाकर नाश का त्योहार क्यो है?

पल्लवो के वीच से, कलिका उठी क्यो सिर उठाये ?
क्यो उदार विनाश-वेला के भ्रमर ने गीत गाये ?
क्यो वताओ, क्षणिक फलो ने अमर काँटे सजाये ?
और खिलकर द्रुमो ने वे कौन से उपहार पाये ?

एक मिट्टी से उठी रेखा कि कलियो तक खिंची थी !
जगत आशिक था कि जब तक फल की आँखे मिची थी ?
किन्तु धनुषाकार गिरकर धूल पर जब फूल आया——
रोकने को राह मे, निन्दित विचारा शूल आया ?

पूछ कर ठिका, कुसुम ! चढना कहाँ तू भूल आया ?
फूल रोया——नाश मे, मै यार, छन भर भूल आया !
नाश के इस खेल मे, ये प्यार-सुम आते भला क्यो ?
नाश के सकेत तरु पर ऊगने जाते भला क्यो ?

पतन की महिमा सजग, सुन्दर लपकती जा रही है,
एक अनहोनी-सी कहानी टपकती जा रही है।
देखकर भी पुतलियाँ हँस-हँस झपकती जा रही है,
और नाश-नरेश पर नव मुकुट-मणियाँ आ रही है।

जरा वतला दो, कि क्षण-क्षण जलन मे यह स्वाद क्यों है ?
और अमर लुभावने इस पतन मे आह्लाद क्यो है ?
नाश का ही खेल है——तो विरह दु:ख अगाध क्यो है ?
नाश का ही खेल है——तो मस्त फिर एकाध क्यो है ?

नाश का ही खेल है——तो यह पहेली जरा खोलो,
हर अमर तम नाश पर, झट ऊगने की साध क्यो है ?
एक और——कि वस्तु जिसकी है उसी के चरण तल पर——
फूल-फूल विखर गई तो नाथ ! यह अपराध क्यो है ?

बलिपन्थी से

मत व्यर्थ पुकारे शूल-शूल,
कह फूल-फूल, सह फूल-फूल।
हरि को ही-तल मे बन्द किये,
केहरि से कह नख हूल-हूल।

कागो का सुन कर्त्तव्य-राग,
कोकिल कलरव को भूल-भूल।
सुरपुर ठुकरा, आराध्य कहे,
तो चल रौरव के फूल-फूल।

भूखंड बिछा, आकाश ओढ,
नयनोदक ले, मोदक प्रहार।
ब्रह्माड हथेली पर उछाल,
अपने जीवन धन को निहार।

———

जयशंकर प्रसाद

जयशंकर प्रसाद

गीत

(१)

उस दिन जब जीवन के पथ मे,
छिन्न पात्र ले कम्पित कर मे,
मधु-भिक्षा की रटन अधर मे,
इस अनजाने निकट नगर मे,
आ पहुँचा था एक अकिञ्चन।

उस दिन जब जीवन के पथ मे,
लोगो की आँखे ललचाई,
स्वयं माँगने को कुछ आई।
मधु-सरिता उफनी अकुलाई,
देने को अपना सचित धन।

उस दिन जब जीवन के पथ मे,
फूलो ने पखुरियाँ खोली,
आँखे करने लगी ठिठोली,
हृदयो ने न सम्हाली झोली;
लुटने लगे विकल पागल मन!

उस दिन जब जीवन के पथ में,
छिन्न पात्र मे था भर आता—
वह रस बरबस था न समाता,

स्वयं चकित-सा समझ न पाता,
कहाँ छिपा था ऐसा मधुवन !

उस दिन जब जीवन के पथ मे,
मधु-मगल की वर्षा होती,
काँटो ने भी पहना मोती,
जिसे बटोर रही थी रोती—
आशा, समझ मिला अपना धन !

(२)

आह ! वेदना मिली विदाई !
मैने भ्रम-वश जीवन-सञ्चित, मधुकरियो की भीख लुटाई।

छल छल थे सध्या के श्रमकण,
आँसू-से गिरते थे प्रतिक्षण,
मेरी यात्रा पर लेती थी नीरवता अनन्त अँगडाई।
आह ! वेदना मिली विदाई !

श्रमित स्वप्न की मधुमाया मे,
गहन-विपिन की तरु-छाया में,
पथिक उनीदी श्रुति मे किसने यह विहाग की तान उठाई ?
आह ! वेदना मिली विदाई !

लगी सतृष्ण दीठ थी सब की,
रही बचाये फिरती कब की ?
मेरी आशा, आह ! बावली तूने खो दी सफल कमाई !
आह ! वेदना मिली विदाई !

चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर,
प्रलय चल रहा अपने पथ पर;

मैंने निज दुर्बल पद-बल पर, उससे हारी, होड़ लगाई।
आह! वेदना मिली विदाई!

लौटा लो यह अपनी थाती,
मेरी करुणा हा-हा खाती!
विश्व! न सँभलेगी यह मुझ से, इसने मन की लाज गँवाई।
आह! वेदना मिली विदाई!

आँसू

बाँधा था विधु को किसने
इन काली जंजीरों से?
मणिवाले फणियों का मुख
क्यों भरा हुआ हीरों से?

काली आँखों में कितनी
यौवन के मद की लाली,
मानिक-मदिरा से भर दी
किसने नीलम की प्याली?

तिर रही अतृप्ति-जलधि में
नीलम की नाव निराली,
काला-पानी वेला सी
है अञ्जन-रेखा काली!

अंकित कर क्षितिज-पटी को
तूलिका-बरौनी तेरी,
कितने घायल हृदयों की
बन जाती चतुर चितेरी।

कोमल कपोल पाली मे
सीधी सादी स्मित - रेखा
जानेगा वही कुटिलता
जिसने भौं मे वल देखा !

विद्रुम सीपी सम्पुट मे
मोती के दाने कैसे ?
है हंस न, शुक यह, फिर क्यो
चुगने को मुक्ता ऐसे ?

विकसित सरसिज वन-वैभव
मधु-ऊषा के अञ्चल मे,
उपहास करावे अपना
जो हँसी देख ले पल मे !

मुख - कमल समीप सजे थे
दो किसलय से पुरइन के,
जल-विन्दु सदृश ठहरे कब
उन कानो में दुख किसके ?

थी किस अनग के धनु की
वह शिथिल शिञ्जिनी दुहरी,
अलबेली वाहु-लता या
तनु छवि-सर की नव लहरी ?

चञ्चला स्नान कर आवे
चन्द्रिका पर्व मे जैसी,
उस पावन तन की शोभा
आलोक मधुर थी ऐसी !

छलना थी, तब भी मेरा
उसमे विश्वास घना था,
उस माया की छाया मे
कुछ सच्चा स्वय बना था।

वह रूप, रूप था केवल
या हृदय रहा भी उसमे,
जडता की सब छाया थी,
चैतन्य समझ कर मुझमे।

मेरे जीवन की उलझन
विखरी थी उनकी अलके,
पी ली मधु मदिरा किसने,
थी वन्द हमारी पलके!

ज्यो ज्यो उलझन बढती थी
बस शान्ति विहँसती बैठी,
उस बंधन मे सुख बँधता,
करुणा रहती थी ऐठी।

जागरण

अब जागो जीवन के प्रभात!
वसुधा पर ओस बने विखरे,
हिमकण आँसू जो क्षोभ-भरे,
ऊपा बटोरती अरुण गात!

अब जागो जीवन के प्रभात!
तूम नयनो की ताराएँ सब—
मुँद रही किरण दल मे है अब,
चल रहा सुखद यह मलय वात!

अब जागो जीवन के प्रभात!
रजनी की लाज समेटो तो,
कलरव से उठकर भेंटो तो,
अरुणाचल में चल रही बात!
अब जागो जीवन के प्रभात!

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

यमुना के प्रति

यमुने, तेरी इन लहरो मे किन अधरो की आकुल तान?
पथिक-प्रिया-सी जगा रही है उस अतीत के नीरव गान?
बता कहाँ अब वह वंशीवट? कहाँ गए नट नागर श्याम?
चल-चरणों का व्याकुल पनघट कहाँ आज वह वृन्दाधाम?

कभी यहाँ देखे थे जिनके श्याम-विरह से तप्त शरीर,
किस विनोद की तृषित गोद मे आज पोछती वे दृगनीर?
मुग्धा के लज्जित पलकों पर तू यौवन की छवि अज्ञात
आँख-मिचौनी खेल रही है किस अतीत शिशुता के साथ?

किस अतीत सागर-संगम को बहते खोल हृदय के द्वार
बोहित के हित सरल अनिल-से नयन-सलिल के स्रोत अपार?
उस सलज्ज ज्योत्सना-सुहाग की फेनिल शय्या पर सुकुमार,
उत्सुक, किस अभिसार-निशा मे, गई कौन स्वप्निल पर मार?

मत्त-भृंग-सम संग सग तम तारा मुख-अम्बुज-मधु-लुब्ध,
विकल विलोडित चरण-अंक पर शरण-विमुख नूपुर-उर क्षुब्ध;
वह संगीत विजय-मद-गर्वित नृत्य-चपल अधरो पर आज,
वह अतीत-इंगित मुखरित-मुख कहाँ आज वह सुखमय साज?

वह अपनी अनुकूल प्रकृति का फूल, वृन्त पर विकच अधीर,
वह उदार संवाद विश्व का वह अनन्त नयनो का नीर,

वह स्वरूप मध्याह्न-तृषा का प्रचुर आदि-रस, वह विस्तार
सफल प्रेम का, जीवन के वह दुस्तर सर-सागर का पार;

वह अञ्जलि कलिका की कोमल वह प्रसून की अन्तिम दृष्टि,
वह अनन्त का ध्वंस सान्त, वह सान्त विश्व की अगणित सृष्टि;
वह विराम-अलसित पलकों पर सुधि की चञ्चल प्रथम तरंग,
वह उद्दीपन, वह मृदु कम्पन, वह अपनापन, वह प्रिय-संग,

वह अज्ञात पतन लज्जा का स्खलन शिथिल घूंघट का देख
हास्य-मधुर निर्लज्ज उक्ति वह, वह नव-यौवन का अभिषेक;
कहाँ छलकते अब वैसे ही व्रज-नागरियो के नागर?
कहाँ भीगते अब वैसे ही बाहु, उरोज, अधर, अम्बर?

बँधा बाहुओं मे घट क्षण-क्षण कहाँ प्रकट बकता अपवाद?
अलको को, किशोर पलको को कहाँ वायु देती सवाद?
कहाँ सूर के रूप-बाग के दाडिम, कुन्द, विकच अरविन्द,
कदली, चम्पक, श्रीफल, मृग-शिशु, खञ्जन, शुक, पिक, हंस, मिलिन्द।

एक रूप में कहाँ आज वह हरि-मृग का निर्वैर विहार,
काले नागो से मयूर का बन्धु-भाव, सुख सहज अपार!
पावस की प्रगल्भ धारा मे कुञ्जों का वह कारागार
अब जग के विस्मित नयनो मे दिवस-स्वप्न-सा पड़ा असार।

टूट रहे हैं पलक-पलक पर तारो के ये जितने तार
जग के अब तक के रागो से जिनमें छिपा पृथक् गुञ्जार,
उन्हे खीच निस्सीम व्योम की वीणा मे करकर झंकार,
गाते हैं अविचल आसन पर देवदूत जो गीत अपार

कम्पित उनके करुण करो मे तारक तारो की-सी तान
बता, बता, अपने अतीत के क्या तू भी गाती है गान?

गीत

(१)

मरण को जिसने बरा है

मरण को जिसने वरा है, उसी ने जीवन भरा है।
परा भी उसकी, उसी के, अंक सत्य यशोधरा है।
सुकृत के जल से विसिंचित, कल्प-किंचित, विश्व-उपवन,
उसी की निस्तन्द्र चितवन, चयन करने को हरा है।
गिरिपताक उपत्यका पर हरित तृण से घिरी तन्वी
जो खडी है वह उसी की पुष्पभरणा अप्सरा है।
जव हुआ वंचित जगत मे, स्नेह से, आमर्ष के क्षण,
स्पर्श देती है किरण जो, उसी की कोमलकरा है।

(२)

कल्पना के कानन की रानी!
आओ; आओ मृदु-पद, मेरे
मानस की कुसुमित वाणी!
सिहर उठे पल्लव के दल, नव अंख;
वह सुप्त परिमल की मृदुल तरंग;
जागे जीवन की नवज्योति अमन्द;
हिले वसन्त-समीर-स्पर्श से
वसन तुम्हारा धानी।
मार्ग मनोहर हो मेरे जीवन का;
खुल जाये पथ रूँधा कण्टक-वन का;
धुल जाये मल मेरे तन का मन का;
देख तुम्हारी मूर्ति मनोहर
रहे ताकते ज्ञानी।

मेरे प्राणो के प्याले को भर दो;
प्रिये, दृगो के मद से मादक कर दो;
मेरी अखिल पुरातन-प्रियता हर दो;
मुझको एक अमर वर दो,
मैंने जिसकी हठ ठानी।

सुमित्रानन्दन पंत

सुमित्रानन्दन पंत

जागरण गान

ग्रहण करो फिर असि-धारा व्रत
भारत के नव यौवन,
धरा-चेतना मे अब फिर से
छिड़ा तुमुल आन्दोलन।
यह रण-क्षेत्र पुरातन रे चिरनूतन,
यहा विकट जड़-चेतन का संघर्षण,

युग-युग के अधि-श्रृंग ढह रहे,
यह मानस-भू कंपन,
टूट रहे आदर्श तारकों से,
धँसता भू-प्रांगण !
वीर, करो फिर क्षुब्ध मनोदधि मंथन,
मानव का यह कठिन परीक्षा का क्षण,

क्या न करोगे तुम विद्युत
अणु-अश्वों पर आरोहण ?
महानाश के प्लावन में
कर दोगे फूल विसर्जन !
वृद्ध धरा पर छाया धूम भयानक
धक् धक् करता महाप्रलय का पावक,

विश्व ग्लानि मे क्या न करोगे
मन. सगठन भूजन ?
मानवीय क्या नही वनाओगे
जन भू का जीवन ?
उठे जूझने विश्व समर मे दुर्धर
लोक-चेतना के युग शिखर भयंकर,
विश्व सभ्यता रुग्ण हृदय में
व्याप्त हलाहल भीषण,
अमृत मेघ भारत क्या छिडकेगा
न प्राण संजीवन ?
वीर करो भूजन हिताय व्रत धारण,
सार्थक हों युग-युग के जप-तप साधन,
वाँधो मानव की वाहों मे
जड-चेतन का जीवन,
मनुज चेतना गढे मूल भूतों से
नव मानवपन !
विश्व सृजन का यह विनाश परिचायक,
गर्जन भरता उर मे रुद्र वलाहक,
उतर रहा गत तड़ित ज्वलित
निर्झर-सा युग परिवर्तन,
आज गहनतम उपचेतन
भुवनों मे जगता गुंजन !

चाँदनी

नीले नभ के शतदल पर
वह बैठी शारद हासिनि,

मृदु करतल पर शशि-मुख धर,
नीरव, अनिमिप, एकाकिनि !

वह स्वप्न-जडित नत चितवन
छू लेती अग जग का मन,
श्यामल, कोमल, चल चितवन
लहरा देती जग-जीवन !

वह बेला की फूली वन
जिसमें न नाल, दल, कुड्मल,
केवल विकास चिर निर्मल
जिसमें डूबे दश दिशि-दल !

वह सोई सरित-पुलिन पर
सांसों में स्तब्ध समीरण,
केवल लघु-लघु लहरों पर
मिलता मृदु-मृदु उर-स्पन्दन !

अपनी छाया में छिपकर
वह खडी शिखर पर सुन्दर,
लो नाच रही शत-शत छवि
सागर की लहर-लहर पर !

दिन की आभा दुलहिन बन
आई निशि निभृत शयन पर,
वह छवि की छुई मुई-सी
मृदु मधुर लाज से मर-मर

जग के अस्फुट स्वप्नों का
वह हार गूँथती प्रतिपल,

चिर सजल-सजग करुणा में
उसके आँसू का अंचल!

वह मृदु मुकुलों के मुख में
भरती मोती के चुम्बन,
लहरों के चल करतल में
चाँदी के चंचल उडुगण!

वह परिमल के लघु घन-सी
जो लीन अनिल में अविकल,
सुख के उमड़े सागर-सी
जिसमें निमग्न तट के स्थल।

वह स्वप्निल शयन-मुकुल-सी
है मुँदे दिवस के द्युति-दल,
उर मे सोया जग का अलि,
नीरव जीवन गुंजन कल!

वह नभ के स्नेह-श्रवण मे
दिशि की गोपन-सम्भाषण,
नयनो के मौन-मिलन मे
प्राणों की मधुर समर्पण!

वह एक बूँद ससृति की
नभ के विशाल करतल पर,
डूबे असीम सुखमा मे
सब ओर-छोर के अन्तर!

झंकार विश्व-जीवन की
हौले-हौले होती लय,

वह शेष; भले ही अविदित,
वह शब्द मुक्त, शुचि आशय !

वह एक अनन्त प्रतीक्षा
नीरव, अनिमेष विलोचन,
अस्पृश्य, अदृश्य विभा वह,
जीवन की साश्रु-नयन क्षण !

वह शशि-किरणों से उतरी
चुपके मेरे आँगन पर,
उर की आभा मे खोई
अपनी ही छवि से सुन्दर !

वह खडी दृगो के सन्मुख
सब रूप रेख, रग ओझल,
अनुभूति-मात्र-सी उर मे
आभास शान्त, शुचि उज्जवल !

वह है, वह नही, अनिर्वच
जग उसमे, वह जग मे लय,
साकार-चेतना सी वह,
जिसमे अचेत जीवाशय !

'मानव से'

आज बनो तुम फिर नव मानव !
चुन-चुन सार प्रकृति से अतुलित
जीवन-रूप धरो हे अभिनव !

नभ से शान्ति, कांति शशि से हर,
भूतों में नव चेतनता भर,
निस्तलता जलनिधि से लेकर
भव से विभव, मरुत से ले जव ।

सुमनों से स्मित विहगों से स्वर
शशि से छवि मधु से यौवनवर
सुन्दरता, आनन्द, प्रेम का (भू पर चिर-चिर)
करो नव उत्सव ।

आज त्याग, तप, संयम, साधन,
सार्थक हों पूजन, आराधन,
नीरस दर्शन दर्शनीय—
मानव-वपु पाकर मुग्ध करे भव !

निखिल-ज्ञान विज्ञान समीक्षा—
करता भव-इतिहास प्रतीक्षा
मूर्तिमान नव संस्कृति बन
आओ नव मानव ! युग-युग संभव !

———

महादेवी वर्मा

महादेवी वर्मा

गीत

(१)

प्रिय चिरन्तन है सजनि,
क्षण क्षण नवीन सुहागिनी मैं !

श्वास मे मुझको छिपाकर वह असीम विशाल चिरघन,
शून्य मे जब छा गया उसकी सजीली साध-सा बन,
छिप कहाँ उसमे सकी
बुझ-बुझ जली चल दामिनी मै !

छाँह को उसकी सजनि नव आवरण अपना बनाकर,
धूलि मे निज अश्रु बोने मे पहर सूने बिताकर,
प्रात में हँस छिप गई
ले छलकते दृग यामिनी में !

मिलन-मंदिर मे उठा दूँ जो सुमुख से सजल गुण्ठन,
मै मिटूँ प्रिय मे मिटा ज्यों तप्त सिकता मे सलिल-कण,
सजनि मधुर निजत्व दे
कैसे मिलूँ अभिमानिनी मै !

दीप-सी युग-युग जलूँ पर वह सुभग इतना बता दे,
फूंक से उसकी बुझूँ तब क्षार ही मेरा पता दे !
वह रहे आराध्य चिन्मय
मृण्मयी अनुरागिनी मै !

सजल सीमित पुतलियाँ पर चित्र अमिट असीम का वह,
चाह एक अनन्त बसती प्राण किन्तु ससीम सा वह,
रज-कणो मे खेलती किस
विरज विधु की चाँदनी मे ?

गीत

(२)

शलभ मैं शापमय वर हूँ।
किसी का दीप निष्ठुर हूँ।
ताज है जलती शिखा
चिनगारियाँ शृंगारमाला,
ज्वाल अक्षय कोष सी
अगार मेरी रगशाला;
नाश मे जीवित किसी की साध सुन्दर हूँ !
नयन मे रह किन्तु जलती
पुतलियाँ आगार होगी,
प्राण मे कैसे बसाऊँ
कठिन अग्नि-समाधि होगी।
फिर कहा पालूँ तुझे मैं मृत्यु-मदिर हूँ।
हो रहे झरकर दृगो से
अग्नि-कण भी क्षार शीतल,
पिघलते उर से निकल
निश्वास बनते धूम श्यामल,
एक ज्वाला के बिना मैं राख का घर हूँ !

कौन आया था न जाने
स्वप्न मे मुझको जगाने ;
याद मे उन अँगुलियो की
है मुझे पर युग बितानें ;

रात के उर मे दिवस की चाह का शर हूँ !

शून्य मेरा जन्म था,
अवसान है मुझको सबेरा;
प्राण आकुल के लिये
संगी मिला केवल अँधेरा ;

मिलन का मत नाम ले मै विरह मे चिर हूँ!

गीत

(३)

बीन भी हूँ, मै तुम्हारी रागिनी भी हूँ।

नीद थी मेरी अचल निस्पन्द कण-कण मे,
प्रथम जागृति थी जगत के प्रथम स्पन्दन मे;
प्रलय मे मेरा पता, पदचिह्न जीवन मे,
शाप हूँ जो बन गया वरदान बंधन मे,

कूल भी हूँ, कूलहीन प्रवाहिनी भी हूँ!

नयन मे जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ,
शलभ जिसके प्राण मे वह निठुर दीपक हूँ ;
फूल को उर मे छिपाए विकल बुलबुल हूँ,
एक होकर दूर तन से छाँह वह चल हूँ ;

दूर तुमसे हूँ, अखण्ड सुहागिनी भी हूँ।

आग हूँ जिससे ढुलकते विन्दु हिमजल के,
शून्य हूँ, जिसको विछे हैं, पाँवडे पलकें;
पुलक हूँ वह जो पला है कठिन प्रस्तर में,
हूँ वही प्रतिविम्व जो आधार के उर में;

नील घन भी हू, सुनहली दामिनी भी हूँ!

नाश भी हूँ, मैं अनन्त विकास का क्रम भी;
त्याग का दिन भी, चरम आसक्ति का तम भी;
तार भी आघात भी, झंकार की गति भी,
पात्र भी, मधु भी, मधुप भी, मधुर विस्मृति भी;

अधर भी हूँ, और स्मित की चाँदनी भी हूँ!



मोहनलाल महतो 'वियोगी'

मोहनलाल महतो 'वियोगी'

आँसू

हे मेरी आखो के आँसू ! हे इस जीवन के इतिहास।
छलक पडो, मत रहो अत तक उमडे इस दुखिया के पास।।
हे करुणा के चिह्न ! अहो अभिलाषा की नीरव भाषा।
मत छलको, है टँगी हुई तुम पर ही मेरी शुभ आशा।।
हृदय-वेदना के परिचायक ! निराधार के हे आधार।
अन्तस्तल को धोनेवाले ! हे मेरे मुमूक उद्गार।।
हे मेरी अगणित भूलो के मूर्तिमान सच्चे अनुताप।
शीतल करते रहो सदा इस दग्ध हृदय का भीषण ताप।।
हे कितनी घटनाओ की स्मृति ! हे मेरी आँखों की लाज।
क्या जाने क्या तुम्हे छलकता देख कहेगा क्षुब्ध समाज।।
कितने शोक, स्नेह के हो उपहार तुल्य तुम मेरे पास।
बात-बात मे यों मत छलको, उठ जावेगा फिर विश्वास।।
मन न उठे सहसा, जिससे वह बना रहे सुखदायक शान्त।
रखना है प्रज्जवलित प्रेम को तुममे डुबा अहो उद्भ्रात।।
बार बार इस नीरस जग को अपना रूप न दिखलाओ।
ऊषाकाल के तारागण से इन नयनों मे छिप जाओ।।
हे मेरे इस जीवन भर की कठिन कमाई छिपे रहो।
आवश्यकता नही तुम्हारी आई, भाई छिपे रहो।।
नही सफाई देने की बारी आई है छिपे रहो।
नही झलक अब तक प्रियतम ने दिखलाई है छिपे रहो।।
यों ही ढलक पडोगे तो मिट्टी मे मिल जाओगे प्यारे !
'लोचन-जल रहु लोचन-कोना' यही विनय है बारम्बार।।

प्रभात-वर्णन

(१)

फैल गयी लाली रम्य पूरब क्षितिज पर
जागे खग नीडों मे सजग जग हो गया।
गंधवह आया मंद-मंद इठलाता-सा,
मधु गंध लोभी मधुकर पद्म-कोश से
जागकर वन-कलियों की चले खोज में।
झडके पराग लघु पंखों से द्विरेफ के
शान्त सरसी के स्वच्छ जल पर छा गया।
अंधकार-गज भागा गहन विपिन में
दिनपति प्रकटा सरोष मृगराज-सा,
केसर-सी किरणे विकीर्ण हुईं नभ मे
भाग के मृगांक छिपा अस्ताचल ओट में
भय था कि मृग चिह्न देख कही केसरी
टूटे मत,—भाग गयी रजनी किराती-सी,
आँचल मे भर के नखत-गुंजा भय से।

(२)

रात शेष हो गयी, उमंग भरे मन मे
आयी उषा नाचती लुटाती कोष सोना का।
चाँदी रम्य चन्द्रमा लुटाता चला हँसता
और निशारानी मोदपूरिता मनोहरा
सीपज लुटाती चली अँजली मे भर के।
त्रिविध समीर आया सौरभ विखेरता

पन्छियों ने गीत और गीतों ने मधुरिमा
अपनी लुटाई—धन्य-धन्य किया निज को।
और निज महिमा लुटा के तम लज्जा से,
भाग छिपा कायरों के मन में हताश हो।

जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'

जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज'

अभाव की पूजा

जीवन के पहले प्रभात में—

मिला तुम्हीं से था मुझको

प्रिय, यह पावन 'उपहार—'

जिसे कहते तुम आज 'अभाव'

लिए नयनों में करुणा-नीर;

और करने को जिसका अन्त—

(व्यथित हो, होकर परम अधीर—)

रहे हो मेरे चारों ओर

विभव की दारुण ज्योति पसार।

ज्योति यह दारुण है, हाँ देव!

क्यों कि मैं हूँ चिर-तम का दास।

सुखी रहता दुख ही में डूब,

कहाँ जाऊँ—किस सुख के पास?

सम्हाले सम्हलेगा भी कभी

किसी का मुझसे इतना प्यार?

वासना में विष है, है आग

लालसा में, सुख में संताप।

पुण्य पालूँगा मैं किस भाँति?

कहाँ जायेगा मेरा-पाप?

विश्व की पीडाओं को कहाँ

मिलेगा प्रश्रय, मधुर दुलार?

विरति-पथ है कोलाहल-हीन;
इसी पर चलने दो चुप-चाप।
साथ मे दुर्वलताये रहे;
प्रलोभन का न मिले अभिशाप।

वहुत सुन्दर लगता है मुझे,
यही मेरा 'सूना—ससार'।

जनम भर तप करने के वाद,
मिला है मुझको यही 'अभाव'
इसी मे है मेरा—सर्वस्व,
न है कुछ पाने का अव चाव।

विछाकर मोहक माया-जाल,
सावना का न करो संहार।

लिये जो हलचल अपने साथ,
यहाँ आये हो—मेरे पास—।
उसे दे—पाऊगा किस भाँति
इसी छो`से घर मे वास?

लूट लेगे मुझको ये लोभ,
समेटो इनकी भीड अपार।

दाह अति शीतल है यह, है न
कही इसमे ज्वाला का नाम।
वरसने दो करुणा-घन को न,
न है इसका अव कोई काम।

जला, जल चुका वहुत चुपचाप
पडा हूँ अव तो 'वन कर' छार।

वि[illegible]-विह्वल थी जब मधु-धार,
किया प्याले अधरों न पान।
तुन[illegible] इस मादकता की ओर
[illegible]दों उत्कण्ठ ले जाने को न।

लुढ़क जाऊँगा, हो हत-चेत,
रहे रंग क्यों बरबस यों ढार।

जगाओ अब न हिये की भूख,
न भड़काओ चाहों की प्यास?
इसी 'सूनेपन' में है शान्ति,
शान्ति, सुख, संयम, हर्ष हुलास।

कहाँ अब वे आँखे हैं, हाय।
निहारूँ जिनसे यह शृंगार?

रहो निर्लिप्त मत झाँको, देव!
दिखाओ न 'कुछ देने का चाव'!
साधना की वेदी पर बैठ,
घुलने दो यह 'अमर' अभाव!

इसी मे हो तुम, हूँ मैं; और
इसी मे भरा तुम्हारा प्यार!

हरिवंशराय 'बच्चन'

हरिवंशराय 'बच्चन'

गीत

(१)

तम ने जीवन-तरु को घेरा

टूट गिरीं इच्छा की कलियाँ,
अभिलाषा की कच्ची फलियाँ,

शेष रहा जुगनूँ की लौ मे

आशामय उजियाला मेरा।
तम ने जीवन-तरु को घेरा।

पल्लव-मरमर गान कहाँ अब
कोकिल-पञ्चम तान कहाँ अब!

कौन-गया निश्चय से सोने,

देखेगा फिर जाग सवेरा?
तम ने जीवन-तरु को घेरा।

स्वप्नों ही ने मुझको लूटा
स्वप्नों का, हा, मोह न छूटा,

मेरे नीड़-नयन मे आओ,

कर लो, प्रेयसि, रैन-बसेरा।
तम ने जीवन-तरु को घेरा।

(२)

तारक-दल छिपता जाता है।

कलियाँ खिलती, फूल बिखरते,
मिल सुख-दुख के आँसू झरते,
जीवन और मरण दोनो का
राग विहगम-दल गाता है।

तारक-दल छिपता जाता है।

इसे कहूँ मै हास पवन का
या समझूँ उच्छ्वास पवन का?
अवनि और अम्बर दोनों से
प्रात-समीरण का नाता है।

तारक-दल छिपता जाता है।

रवि ने अपना हाथ बढाकर,
नभ-दीपो का तेज लिया हर,
जग मे उजियाला होता है,
स्वप्न-लोक मे तम छाता है।

तारक-दल छिपता जाता है।

(३)

सूर्य जब ढलने लगा था कह गया था,
मानवो, खुश हो कि दिन अब जा रहा है,
जा रही है स्वेद-श्रम की क्रूर घड़ियाँ
औ' समय सुन्दर-सुहाना आ रहा है,

छा गयी है शान्ति खेतो मे, वनो मे,
पर प्रकृति के वक्ष की धडकन बना-सा

दूर अनजानी जगह पर एक पक्षी
मन्द लेकिन मस्त स्वर से गा रहा है,

औ, धरा की पीन पलकों पर विनिद्रित
एक सपने-सा मिलन का क्षण हमारा।
स्नेह के कन्धे प्रतीक्षा कर रहे हैं

झुक न जाओ, और देखो उस तरफ भी—
प्राण, सध्या झुक गयी गिरि-ग्राम-तरु पर,
उठ रहा है क्षितिज के ऊपर सिंदूरी
चाँद, मेरा प्यार पहली बार लो तुम !

———

सुभद्राकुमारी चौहान

सुभद्राकुमारी चौहान

पुरस्कार कैसा ?

सहसा हुई पुकार ! मातृ-
मन्दिर में मुझे बुलाया क्यों ?
जानबूझ कर सोयी थी, फिर
जननी ! मुझे जगाया क्यों ?

भूल रही थी स्वप्न देखना,
आमन्त्रण पहुचाया क्यों ?
बन्द द्वार करने जाती थी
फिर पथ हाय ! सुझाया क्यों ?

मान मातृ-आदेश, दौड़कर
आने को लाचार हुई।
क्या मेरी टूटी-फूटी-सी
सेवा है स्वीकार हुई ?

स्वयं उपेक्षित पर गुरुजन का
पथ-भूला दुलार कैसा ?
तिरस्कार के योग्य बावली,
पर यह अतुल प्यार कैसा ?

इस बुन्देलों की झाँसी में
शस्त्रों बिना तार कैसा ?
देश-प्रेम की मतवाली को
जननी ! पुरस्कार कैसा ?

क्षत्राणी हूँ, सुख पाने दे
अरुणामृत की धारों से।
बनने दे इतिहास देश का
पानी चढ़े दुधारों से॥

जरा सुलग जाने दे चारो—
दिशि कुरबानी की आगी।
अरी बेतवा ! दिखा समर में
तेरे पानी की आगी ! !

हर पत्थर पर लिखा जहाँ
बलिदान लक्ष्मीबाई का।
कौन मूल्य है वहाँ सुभद्रा
की कविता-चतुराई का ?

न्यौता ! न्यौते का जवाब
मैं न्यौता देने आयी हूँ।
भाई ! दो, मैं तिलक-लालिमा
माथ न अपने आयी हूँ॥

आज तुम्हारी लाली से
माँ के मस्तक पर हो लाली।

काली जंजीरें टूटे, काली
जमना मे हो लाली ॥

जो स्वतन्त्र होने को है,
पावन दुलार उन हाथों का।
स्वीकृत है, माँ की वेदी पर
पुरस्कार उन हाथों का॥

लड़ने की धुन मे भाई!
ममता का मधुर स्वाद कैसा?
अपने ही से अपनों का,
डरती हूँ, धन्यवाद कैसा?

ठुकरा दो या प्यार करो

देव! तुम्हारे कई उपासक
कई ढग से आते हैं।
सेवा मे बहुमूल्य भेट वे
कई रग की लाते हैं॥

धूमधाम से साजबाज से
वे मन्दिर में आते हैं।
मुक्तामणि बहुमूल्य वस्तुएँ
लाकर तुम्हे चढाते हैं॥

मैं ही हूँ गरीबिनी ऐसी
जो कुछ साथ नही लाई।
फिर भी साहस कर मन्दिर मे
पूजा करने को आई॥

धूप-दीप-नैवेद्य नही है
झाँकी का श्रृंगार नही।
हाय! गले में पहनाने को
फूलों का भी हार नही॥

कैसे करू कीर्तन, मेरे
स्वर मे है माधुर्य नही।
मन का भाव प्रकट करने को
वाणी में चातुर्य नही॥

नही दान है, नही दक्षिणा
खाली हाथ चली आयी।
पूजा की विधि नही जानती
फिर भी नाथ! चली आयी॥

पूजा और पुजापा प्रभुवर।
इसी पुजारिन को समझो॥
दान-दक्षिणा और निछावर
इसी भिखारिन को समझो॥

मैं उन्मत्त प्रेम का प्यासा
हृदय दिखाने आयी हूँ।

जो कुछ है, वह यही पास है,
इसे चढाने आयी हूँ ॥

चरणो पर अर्पित है, इसको
चाहो तो स्वीकार करो।
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है
ठुकरा दो या प्यार करो ॥

भगवतीचरण वर्मा

भगवतीचरण वर्मा

मैं कब से ढूँढ़ रहा हूँ

(१)

मैं कब से ढूंढ रहा हूँ
अपने प्रकाश की रेखा!
तम के पट पर अंकित है
नि:सीम नियत का लेखा!

देनेवाले को अबतक
मै देख नही पाया हूँ;
पर पल भर सुख भी देखा,
फिर पल भर दुख भी देखा!

(२)

किसका आलोक गगन से
रवि शशि उडुगन बिखराते?
किस अन्धकार को लेकर
काले बादल घिर आते?

उस चित्रकार को अबतक
मै देख नही पाया हूँ;
पर देखा है चित्रों को
बन-बनकर मिट-मिट जाते।

(३)

फिर उठना, फिर गिर पड़ना,
आशा है वही निराशा,
क्या आदि अन्त ससृति का
अभिलाषा ही अभिलाषा?
अज्ञात देश से आना,
अज्ञात देश को जाना,
अज्ञात-अरे क्या इतनी
है हम सबकी परिभाषा?

(४)

पल भर परिचित वन-उपवन
परिचित है जग का प्रति कन।
फिर पल मे वही अपरिचित
हम-तुम, सुख-सुषमा, जीवन॥
है क्या रहस्य बनने मे?
है कौन सत्य मिटने मे?
मेरे प्रकाश दिखला दो
मेरा भूला अपनापन!

———

रामधारी सिंह 'दिनकर'

रामधारी सिंह 'दिनकर'

धर्मराज-भीष्म-संवाद

"हाय ! पितामह, हार किसकी हुई है यह ?
ध्वस-अवशेष पर सिर धुनता है कौन,
कौन भस्म-राशि मे विफल सुख ढूंढता है ?
लपटों से मुकुट का पट बुनता है कौन ?
और बैठ मानव की रक्त-सरिता के तीर
नियति के व्यग्य-भरे अर्थ गुनता है कौन,
कौन देखता है शव-दाह बन्धु-बान्धवों का ?
उत्तरा का करुण विलाप सुनता है कौन ?

जिस दिन समर की अग्नि बुझ शान्त हुई,
एक आग तब से ही जलती है मन मे,
हाय, पितामह, किसी भाँति नही देखता हूँ
मुँह दिखलाने योग्य निज को भुवन मे,
ऐसा लगता है, लोग देखते घृणा से मुझे,
धिक् सुनता हूँ अपने पै कण-कण में,
मानव को देख आँखे आप झुक जाती, मन—
चाहता अकेला कही भाग जाऊँ वन में।"

भीष्म ने देखा गगन की ओर,
मापते मानों युधिष्ठिर के हृदय का छोर,
और बोले—"हाय नर के भाग!
क्या कभी तू भी तिमिर के पार?
उस महान् आदर्श के जग मे सकेगा जाग,
एक नर के प्राण मे जो हो चुका साकार है
आज दुख से, खेद से, निर्वेद के आघात से?"

औ' युधिष्ठिर से कहा—"तूफान देखा है कभी?
किस तरह आता प्रलय का नाद वह करता हुआ,
काल-सा वन मे द्रुमों को तोड़ता, झकझोरता,
और मूलोच्छेद कर भू पर सुलाता क्रोध से
उन सहस्रो पादपो को जो कि क्षीणाधार है?

रुग्ण शाखाएँ द्रुमों की हरहरा कर टूटती,
टूट गिरते शावको के साथ नीड़ विहग के,
अग भर जाते वनस्थल के निहत तरु, गुल्म से,
छिन्न फूलो के दलों से, पक्षियो की देह से।

पर शिराएँ जिस महीरुह की अतल मे है गड़ी,
वह नही भयभीत होता क्रूर झंझावात से,
शीश पर बहता हुआ तूफान जाता है भला,
नोचता कुछ पत्र या कुछ डालियों को तोडता।

किन्तु, इसके बाद जो कुछ शेष रह जाता उसे,
—वन-विभव के ध्वस, अटवी के करुण वैधव्य को—
देखता जीवित महीरुह शोक से, निर्वेद से,
क्लान्त पत्रों को झुकाये, स्तब्ध मौनाकाश मे,
सोचता, 'है भेजती हमको प्रकृति तूफान क्यो?'

पर, नहीं यह ज्ञात उस जड वृक्ष को,
प्रकृति भी तो है अधीन विमर्ष के,
यह प्रभजन शस्त्र है, उसका नही,
किन्तु, है आवेगमय विस्फोट उसके प्राण का।
जो जमा होता प्रचण्ड निदाघ से,
फूटना उसका सहज अनिवार्य है।

निर्झरिणी

मधु-यामिनी अचल-ओट मे सोई थी,
बालिका - जूही उमग - भरी
विधु-रंजित ओस-कणों से भरी
थी बिछी वन-स्वप्न-सी दूब रही

मृदु चाँदनी-बीच थी खेल रही
वन-फूलो से शून्य में इन्द्र-परी
कविता बन शैल-महाकवि के
उर से मै तभी अनजान झरी

हरिण-शिशु ने निज लास दिया
मधु राका ने रूप दिया अपना
कुमुदी ने हँसी, परियों ने उमंग
चकोरी ने प्रेम मे यो तपना

नभ नील ने जन्मघडी ही में नील
समुद्र का भव्य दिया सपना
'पी कहाँ' कह प्रेमी पपीहरे ने
सिखलाया मुझे 'पी कहाँ' जपना

गतिरोध किया गिरि ने, पर मैं
द्रुत भाग चली बहराती हुई
सरकी उपलो मे भुजगिनी-सी
मैं शिला से कही टकराती हुई

जननी-गृह छोड़ चली, मुड देखा
कभी न उसे ललचाती हुई
गिरि-शृग से कूद पडी मैं अभय
पी कहाँ? पी कहाँ? धुन गाती हुई
वनभूमि ने दूब के अचल मे
गिरि से गिरते मुझे छान लिया
गिरि-मल्लिका कुन्तल बीच पिरो
मुझको निज बालिका मान लिया

कलियो ने सुहाग के मोती दिये
नव ऊषा ने सिन्दूर-दान दिया
जगती को हरी लख मैंने हरी-हरी
दूबो का ही परिधान लिया
तट की हिमराशि की आरसी मे
अपनी छवि देख दीवानी हुई
प्रिय-दर्शन - आकुल - लालसा मे
पिघली, पल मे घुल पानी हुई
टकराने चली मैं असीम के वृक्ष से
रूप के ज्वार की रानी हुई
उन्माद की रागिनी, बेकली की
अपनी ही मैं आप कहानी हुई
जननी-धरिणी मुझे गोद लिये
थी सचेत कि मैं भग जाऊँ नही

वनजन्तुओं के शिशु आन जुटे
कि सखा बिन मै दुःख पाऊँ नही
थी डरी मै पडी ममता में कहीं
इस देश मे ही रह जाऊँ नही
प्रिय देखे बिना झर जाऊँ न व्यर्थ
कही छवि यो ही गँवाऊँ नही
एक रोज उनीदी हुई जो धरा
द्रुत भागी मै आँख बचाती हुई
वन-वल्लरी-अंचल-बीच कही
तृण-पुज मे वेश छिपाती हुई
निकली द्रुम-कुज की छाँह से तो
मै चली फिर से घहराती हुई
सिकता से पिपासित विश्व के कठ मे
स्वर्ग-सुधा सरसाती हुई

× × ×

वनदेवि ! द्रुमाचल श्याम हिला
फिरने का करो न इशारा मुझे
उपलो ! पद यो न गहो, भुज खोल
न बाँध तू हाय ! किनारा ! मुझे
किसकी ध्वनि दूर से आई ? पुकार
रहा सुन अम्बुधि प्यारा मुझे
जननी धरणी ! तिरछी हो जरा
अरी वेग से खीच तू धारा ! मुझे
अभिसारिका मै मिलने हूँ चली,
प्रिय - पथ रे कोई वताना जरा
किस शूली पै 'मीरा'—पिया की है सेज
इशारो से कोई दिखाना जरा

पथ-भूली-सी कुंज में राधिका के
हित श्याम ! तू वेणु बजाना जरा
तुझमें प्रिय ! खोने को तो आ रही
पर तू भी गले से लगाना जरा

जानकी वल्लभ शास्त्री

जानकी वल्लभ शास्त्री

बिखरे मोती

(१)

विश्व-भर का हो भला!
विश्व-भर को प्राप्त हो नव
ज्ञान, नित नव, नव कला!

एक साथ हिलें-मिले सब,
एक डाली पर खिले सब,
एक 'गत' पर विश्व-भर का
एक स्वर का हो गला!

गगन में हो उदित नव रवि
भुवन में प्रमुदित नवल छवि
विश्व-भर हो चिर किरण के
एक साँचे में ढला!

(२)

"आ रहा है ज्वार, दूँगा तुरत नाव बहा,
जल्द हो तैयार!" माझी है पुकार रहा!
आ रहे होंगे अभी, कैसे बता दूँ, आह,
आज तक थी देखती दिन-रात जिनकी राह!
आज वे देंगे विदा, होकर उदास, निराश,
चिर-विरह यह या मिलन-छन? पूछकर सोच्छ्वास!

वह चलेगा अचल नयनों से जजल उत्तर
कुछ किसी भी भाँति मुझ से जायगा न कहा !
जल्द हो तैयार, माझी जब पुकार रहा ! !
"देख लो, कुछ छुट अरे, इस पार तो न रहा !
चल रही है नाव !"—नाविक फिर पुकार रहा !
कुछ नही, कुछ भी नही, गूँजा गगन-भर स्वर
एक मै ही मौन, मेरा कौन-सा उत्तर !
नीर दृग मे, तीर-सी उर मे चुभोये पीर,
मै चली, तुम आखिरी छन भी न आये धीर !
बन्धु नाविक, दे मुझे इस बार और उतार,
हाय, मेरा तो सभी कुछ छुट रहा इस पार !

(३)

मेरे पथ में न विराम रहा !

'कुछ दूर और, कुछ दूर और' करता मै आठों याम रहा !
पर्वत की चोटी पर बैठी चिड़िया बोली—'हाँ, चढो, चढो',
सागर की लहर पुकार उठी—'लौटो मत, आगे बढो, बढो,
मै चढा किया, मै बढा किया, हारा हिम्मत न रुका पल भर,
यह शिखर दिखा, वह महासिन्धु, कहना ही मेरा काम रहा !

मेरे पथ में न विराम रहा ! !

अब नजर शिखर पर रही गड़ी, पर्वत से गिरना शान एक,
जब लक्ष्य किनारा पाना ही, लहरों पर मरना आन एक !
सोचा करता मै यही, मगर अन्तर मर्मर करता रह-रह,
आनेवाले जग मे मेरा जानेवाला ही नाम रहा !

मेरे पथ मे न विराम रहा ! !

(४)

निशि भर मोती-माल पिरोऊँ,
प्राणों की आरती सँजोऊँ,
अपने को सपने मे खोऊँ,
मेरी आराधना ही काम, देव स्वीकार करें न करें!
चाहे घनी घटा घिरती हो,
वार-बार बिजली गिरती हो,
पर मेरी तरणी तिरती हो,
उस तट पर उनका ही धाम, मुझे अव पार करे न करे!
मुझे मरुस्थल में चलने दो,
जगे ज्वाल, सब कुछ जलने दो,
सत्य स्वर्ग को तो गलने दो,
मेरा अश्रुधार विश्राम अरे, वे प्यार करे न करे!

जग और युग

जग दीपक, युग जलती बाती!
स्नेह भरा अन्तर दीपक का,
बाती विहँस जुडाती छाती!
उदर जगत, युग भूख-प्यास है,
जगजीवन, युग अश्रु-हास है
मिट्टी के—जग के दीपक मे—
तुनुक रुई की—युग की वाती!
जग कानन, युग ऋतु-परिवर्तन,
गमच जग, युग नव नर्तन,
जग-जननी निज स्वच्छ प्रकृति मे
युग का वसन वदलती जाती!

जगत-सिन्धु, युग भँवर-लहर है,
जगत मौन, युग प्रखर मुखर है,
युग पीपल का हरित चपल दल,
जग बरगद की छाँह लुभाती!
जग कविता, युग कालिदास है,
मेघदूत जग, युग उसाँस है,
जग है रस, अनुभाव-भाव युग,
जग विरही, युग नव-नव पाँती!
जग है भाग्य और युग उद्यम,
पुरस्कार जग, युग समुचित श्रम,
शस्यराशि-श्यामल पिच्छिल-छवि-
जगत् क्षेम, युग घन बरसाती!
युग प्रतिमा, जग सुन्दर मन्दिर,
मलय जगत, समीर युग झिर-झिर,
जग-वीणा के तार गुँजाती
युग-देवी नव गायन गाती!
जग जगता, युग जभी जगाता,
जग जीता, युग अमृत पिलाता,
जग-दीपक का वदन मलिन हो
बुझे हाय! जो युग की बाती!

रामदयाल पाण्डेय

रामदयाल पाण्डेय

माता

पूर्ण चन्द्र की छवि ले सारी
तुम उतरी बन चन्द्रकुमारी
हरने अन्धकार कण-कण का
हरने अमित भार जीवन का
हरने त्रिविध ताप जन-जन का
धोने कलुष मनुज के मन का
केशो से घनश्याम लजाती
नयनों से ससार जुडाती
अधरो से अमृत छलकाती
भुज वन्धन मे स्वर्ग छिपाये
आलिगन मे स्वर्ग वसाये
रोम-रोम मे भरती सिहरन
प्राणो मे स्पन्दन आलोडन
उतरी भव के वन-प्रान्तर मे
ऊसर मे, सूने खण्डहर मे
वनकर शकुन्तला सुकुमारी
कण्वकुटी की राजकुमारी
जहाँ भूप दुष्यन्त भिखारी—

वन, करता तन-मन वलिहारी
भीख माँगता दया तुम्हारी
भीख मॉगता द्या तुम्हारी
पौरुष उसका घोर विवश है
जहाँ तुम्हारा अमिय कलश है
और भाव था सरल तुम्हारा
स्निग्ध हृदय था तरल तुम्हारा
दे उसको जीवन-निधि प्यारी
वनी कुमारी से तुम नारी
काम्या से कामिनी वनी तुम
भूपति की भामिनी वनी तुम
वैभव की स्वामिनी वनी तुम
तोड वासना की घन कारा
जाग उठा मातृत्व तुम्हारा
जिसमे चिर शैशव की क्रीडा
जिसमे किशोरता की व्रीडा
जिसमे यौवन की मादकता
जिसमे माता की सावकता
जिसमे चिर वलिदान अलौकिक
जिसमे चिर-निर्माण अलौकिक
जिसमे जन-कल्याण अलौकिक
जिसमे जग-सम्मान अलौकिक
जिसकी आकुल सृष्टि-पिपासा
देती भव को गति-मति-आशा
रखती वसुन्धरा को शाद्वल
जन-रत्नो से भर-भर अचल
वही मधुर मातृत्व फलित हो
शिशु वन प्यार उडेल रहा, लो

माॅ मृगछौनों से खेली थी
शिशु मृगेन्द्र से खेल रहा, लो
लेकर ऐसी सृष्टि निराली
काट रही माँ रजनी काली
उसके दृग मे नीर भरा है
किन्तु वक्ष मे क्षीर भरा है
पिला-पिला कर खेल रही है
कष्ट काल का झेल रही है
सजीवनी-मर्त्य मे माता
प्राणदायिनी माता ।

\

केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'

केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'

साँस की छोटी लहर

काल के निस्सीम जल मे साँस की छोटी लहर, जगमगाती जा रही
रश्मियाँ आती उषा की
भेट देने प्यार की
साँझ की किरणे सजाती
आरती मनुहार की
वन प्रतिध्वनि तीर एकाकी
अनन्त पुकार की—
गूँजता, जब आँकती सुध
स्वर्ण छवि उस पार की
काल के निस्सीम जल मे साँस की छोटी लहर मुस्कुराती जा रही
आयु की वीणा बुलाती
है किसे झकार से
वर्तमान अतीत दोनों
पूछते इस पार से
मौन रह उत्तर पठाती
यात्रिणी मँझधार से
झाँकने लगता तभी कोई
नियति के द्वार से
काल के निस्सीम जल मे साँस की छोटी लहर गाती जा रही

चाँदनी आती दृगो मे
रूप का आकाश ले
फिर विखर जाती चतुर्दिक्
मोतियो का हास ले
शून्य जाता शब्द वन
सौन्दर्य की चिर प्यास ले
तव उतरता स्वप्न सा कोई
मधुर मधुमास ले
काल के निस्सीम जल म साँस की छोटी लहर कल्पना-सी जा रही
आ गई आँधी घिरे
वादल घने आकाश मे
धूल के लघु पृष्ठ वोले
फूल के इतिहास मे
आग की चिनगारियाँ
उडने लगी मधुमास मे
शक्ति की विद्युत् जली तव
भक्ति वन विश्वास मे
काल के निस्सीम जल मे साँस की छोटी लहर साधना-सी जा रही
जन्म की लिखकर कहानी
वन गई यह आरती
स्नेह धडकन के स्वरो मे
प्रति निमिष पल टारती
पोछ अचल से अवधि-पथ
वार-वार सँवारती
ज्योति में, तम मे, न जाने
चित्र कौन उतारती
काल के निस्सीम जल मे साँस की छोटी लहर मरण को दुलरा रही

आज परिचय की निशा है
आज परिचय की घडी
छूटते नक्षत्र प्रतिपल
ज्यों प्रलय की फुलझडी
मेदिनी बनती गगन के
गीत की अन्तिम कडी
शून्य की छाया पिघलते
प्यार-सी नीरव खडी
काल के निस्सीम जल मे साँस की छोटी लहर मरण को अपना रही

—

कलक्टरसिंह 'केसरी'

कलक्टरसिंह 'केसरी'

दृष्टिकोण

तुम बहुत बडे हो चाँद! मुग्ध तुम पर भूमडल सारा
चाहिए, किंतु मेरे दृग को कोई नन्हा-सा तारा
तुम रजनी के राजा शोभा से टलमल छैल-छबीले
अमृत का गागर लिये-पिये तुम नागर नवल फबीले
उस छवि पर कौन न वलि जाए यह ठाट-बाट नूरानी
आश्चर्य नही यदि चद्रकात हो जाता पानी-पानी
अचरज क्या-कुमुद्वती-आँखे इस पृथ्वी की रँगराती
तुमको निहारती रात-रात भर अथक खुली रह जाती
इतनी ममता इतने सनेह मे तुम पलते फलते हो
यह बिल्कुल झूठ कि तुम पृथ्वी के हित बलते-जलते हो!
सामर्थ्यवान तुमको कलक भी दोष नही होने को
कितना भी बढो परन्तु तुम्हे सतोष नही होने को
पर हद होती प्रभुता की भी—तुम कहाँ सँभल पाते हो
जैसे तुम बढते रोज-रोज वैसे घटते जाते हो!
क्यो एक तुम्ही को मिली विश्व की सारी वदन-पूजा?
यह इसीलिए न कि आसमान मे चाँद नही है दूजा?
तुम अति-पूजित हो चाँद!—उपेक्षित युग-युग से बेचारे—
अधिकारी मेरे पूजन के ये छोटे-छोटे तारे
ये कोटि-कोटि लघु-लघु दीपों-से किंचित विभा पसारे
जल रहे स्नेह से रिक्त सिर्फ वाती समान ये तारे

निस्सग निःस्व जलनेवालों की ऐसी रीति निराली
जितना बढता है तम उतनी बढती इनकी उजियाली
ओ चाँद! न जब तुम होते—होती काली-काली राते
जब अधकार के गुहा-गर्भ मे अग-जग सब खो जाते
तब एक अमर विश्वास सदृश कहती तारों की झाँकी
'तुम दुखी न हो धरती! देखो अब भी प्रकाश है बाकी'
तुम बहुत बडे हो चाँद मुग्ध तुम पर भूमडल सारा
चाहिए किन्तु मेरे दृग को कोई नन्हा-सा तारा।

बुलबुल और बाज

गा सुना जो पाटलो मे है छिपी आवाज
गीत से बढकर न बुलबुल! और कोई काज!
गीत, जो कुत्सा घृणा पर प्रेम की पुचकार
गीत, जो दुर्गंध पर मकरद की बौछार
बीज जो सौदर्य के सोये धरा मे मौन—
गीत, जो उनको जगा दे बन वसंत-पुकार
गा सुना, जो बद कलियो मे किरण का राज
गीत से बढकर न बुलबुल! और कोई काज
भीत की छाया सदृश जो उड रहा शहबाज
प्रीत की बुलबुल न! न वह तू सृष्टि का सिरताज
जय न उसकी, लिख रहा जो खून से इतिहास
जय उसी की, लिख रहा जो फूल से मधुमास
बाज वह, उसके लिए यह सृष्टि केवल ग्रास
गाज वह सौन्दर्य पर, वह एक सत्यानाश
वह मरण, चिरयौवना तू जिंदगी का साज
गीत से बढकर न बुलबुल! और कोई काज

(२)

गा कि हो सरसब्ज मधुसिंचित मरण का ठूह
गा कि जीवन चीर निकले व्याधियों का व्यूह
गा सुना उन बेकसो को पाटलों की बात
छिल रहा कुश कंटकों से सतत जिनका गात
गीत की बुलबुल अरी! जब स्वर्ग की तसवीर
उतरती समवेदना के नयन मे बन नीर
ज्योति वह, जिससे हुई यह जिंदगी रंगीन
ज्योति वह, जो देवता-सी मर्त्य में आसीन
गा अरी, करुणा-दया की ज्योति का यश-गान
कल्प से जिसके लिये भूखा बहुत इसान
शब्द में जब उतरती है दर्द की तसवीर
मधुर-सुर बजता तभी यह गीत का मंजीर
शब्द को, सौन्दर्य को बस एक तुझ पर नाज
गीत से बढ़कर न बुलबुल! और कोई काज

भावुकता !

छुट्टियाँ हुईं न हुईं कि पुरानी कसक उठी फिर सीने में
जाने क्या हो जाता मुझको आसिन के मधुर महीने में
कल से पूजा के लिए एक पखवारे की छुट्टी होगी
है भरा लिफाफा ?—समझ गया मेरे घर की चिट्ठी होगी
बज रहे पाँच, तुम क्या जानो, मेरे मन की घंटी बोली
लो, करो बंद आफिस तुम पिट्टू, घिसनेवालों की टोली
कल से छुट्टी है यार! एक पखवारे की फिर मन चाही
लो, करो बद, सँभलेगे फिर, कुछ आज रहे लापरवाही
कुछ याद नही चाबी दराज में या कि रखी उस जीने मे
जाने क्या हो जाता मुझको आसिन के मधुर महीने मे

यह साँझ शहर की ! —अरे आज कितनी मनुहार-भरी संध्या
यह रोज-रोज की पहचानी नीरस-सी मटमैली वंध्या
वदवू सड़ांद से भरी तंग गलियो में सिकुड-सिकुड़ आती
विद्युत-प्रकाश से छू तुरत जो छुईमुई-सी मुरझाती
यह साँझ शहर की अरे आज नव-वधू-सरीखी-इठलाती
भीने-झीने घूँघट-पट के भीतर-भीतर कुछ मुसकाती
या कहूँ इसे षोडशी कि जो यौवन-निखार पर चढी हुई
सम्मुख मयंक का मुकुट लिये सोलह-सिंगार-हित खड़ी हुई

सिन्दुरी शीश महल के पश्चिम ओर किये मुँह रही झाँक—
पूरव के अंचल मे अँधियाली-चिकुराली है पडी हुई।

उफ् ! फिर अफीम की पिनक-सनक फिर वही पुरानी पहचानी
घिस गई हड्डियाँ, किन्तु नहीं घिस सकी कल्पना दीवानी
कल रात पढी विद्यापति की शाश्वत नवीन गीतावलियाँ
वे 'ससन परस खस अवर रे देखल धनि देह' आदि कड़ियाँ
यह चसक वड़ी वेताव निगोड़ी वचपन की यह नादानी
'काली किताव' मे दर्ज कि मैं अहमक अयोग्य भावुक प्राणी
मादक छुट्टियाँ दशहरे की उन्मादक यह घर की चिट्ठी
लौ लगी कि यह जल उठी चाक पर पिसी हुई मेरी मिट्टी

खिल गया कमल मन का तन तो डूवा चिर पंक पसीने में
जाने क्या हो जाता मुझको आसिन के मधुर महीने में

प्रति वर्ष एक संघर्ष दशहरे की छुट्टियाँ लिये आती
जीवन के पिछले ख्वाव जवानी के सैलाव दिये जाती
मन की उमंग कहती कि चाहिए पूजा का उपहार नया
यह लो वह लो तुम रचो एक पखवारे का संसार नया

तुम आज किरानी नही अरे ये दिन आये मनमानी के—
सीधी कर कमर चलो जवान वनकर रसिया दिलदार नया !

मन सार्वभौम सम्राट् मनोरथ की मलका नूरानी का
तन तीस रुपल्ली का गुलाम चिर घिस्सू एक किरानी का
मन की उमंग से किन्तु कहाँ मिलता कोई उपहार यहाँ
मन की उमंग पर हँस देता निर्लज्ज 'चोरबाजार' यहाँ
मन की उमंग से बज न सका कोई मनुहार-सितार यहाँ
मन की उमंग से सज न सका कोई पूजा-त्योहार यहाँ

रुक जा मेरे मन की उमंग, रुक जा मेरी गंगा-तरंग—
मैं कर न सकूँगा पार एक रुपयों का है पतवार यहाँ!!

अयि शक्तिदायिनी माँ दुर्गे! दे शक्ति कि मैं मन मार सकूँ
कुचले अरमानों से तेरी पूजा-आरती उतार सकूँ
इन आठ महीनो से न एक भी साडी जिसे नसीब हुई—
दे शक्ति कि मै उस तपस्विनी को खाली हाथ निहार सकूँ
मेरे इस भावुक मन को माँ! तू लोहे की मशीन कर दे
उस उड़ते उत्पाती विहंग को शाश्वत पंखहीन कर दे

या चिर-अभाव की लूह-लपट से सूखी जीवन-क्यारी में—
माँ! सुख-सुहाग की हरी-भरी आशा-कोंपल नवीन भर दे!

—

मनोरंजन प्रसाद सिंह

मनोरंजन प्रसाद सिंह

कर्मपथ

मैं निरन्तर चल रहा हूँ
कर्मपथ है पंथ मेरा
है अँधेरी रात काली
और बादल घिर रहे है
मेघ के टुकडे हवा में
उड़ रहे है, फिर रहे है
है कभी बिजली चमकती
है कभी बादल गरजते
चाँद भी आता गगन मे
कण सुधा के गिर रहे है
चैन फिर भी दूर मुझसे
चाँदनी हो या अँधेरा। मैं..

शान्त शून्य निशीथ में
श्यामा मधुर जब गीत गाती
कूक से उकसा उषा को
जब नया जीवन जगाती
प्रात की रविरश्मियाँ
जब विश्व मे सोने लुटाती
श्रान्त विह्वल जगत मे
सन्ध्या-परी जब शान्ति लाती
शान्ति फिर भी दूर मुझसे
शाम हो अथवा सवेरा। मैं..

चैन की या शान्ति की
सब साध पूरी हो चुकी है
राम के भी सामने
गर्दन न अब मेरी झुकी है
आज गगा की लहर ले
प्राण ये लहरा रहे है
नित्य जीवन मे प्रगति है
कब जगत की गति रुकी है
सतत बढता ही चलूंगा
धर हृदय मे ध्यान तेरा। मै..

गोपालसिंह नेपाली

गोपालसिंह नेपाली

कवि और कविता

कवि ने जो कुछ जाना
कवि ने जो पहचाना
बनता है वह छन्द-छन्द में प्राण-प्राण का गाना
हृदय-हृदय का गाना
लोक-लोक का गाना
बनता है भाव-लहर में उठता हुआ जमाना।

(१)

कवि का जीवन एक जगत है जग के भीतर जग के बाहर
जग का पुण्य जहाँ सुन्दर है और पाप भी नही असुन्दर
जन्म जहाँ पर मधुर राग है सधा हुआ जग की वीणा पर
मरण जहाँ पर करुण गीत है रुंधा हुआ जिससे जग का स्वर
कविता है कवि-हृदय-क्षितिज पर बालारुण का आना
जीवन की प्राची मे उठ कर मधुर-मधुर मुसकाना।

(२)

मानव का दुर्भाग्य कि वह जो अन्धकार मे सदा पला है
लाकर यहाँ पटक धरती पर उसे भाग्य ने आज छला है
जीवन के पथ पर तारो से क्षण-भर उसका दिल वहला है
उसका दृष्टि-विहग उड़-उड़कर आज तिमिर को चीर चला है

छूट गई है उसके पीछे वह अँधियारी रात
उसकी खुली दृष्टि के सम्मुख फूट रहा है प्रात
भर-भर लाये है प्रकाश-कण नील कमल के पात
उडा ले गई दूर तिमिर को द्युति की झंझावात
देख रहा है कवि तारो का जल जाना, बुझ जाना
जग ने कवि को, कवि ने अपनी कविता को पहचाना

(३)

कुंज-कुज रस-रूप बाँटता आता है ऋतुराज
कविता गूँज उठी कोकिल की बन पहली आवाज
आती ग्रीष्म जगाती जग के कठ-कठ मे प्यास
कविता छाँह बनी तरुवर की शीतल-सलिल-सुवास
पावस मे भर गया मेघ से श्याम-नील आकाश
बनकर मोर कुज मे नाचा कविता का उल्लास
पतझड मे झड गया पात बन रग-रूप बन-ठनका
कविता रानी शरद-चन्द्र बन चुनती तिनका-तिनका
चुरा चली कविता ऋतु-ऋतु से एक मनोहर गाना
भरती चली हृदय जग का कवि का अनमोल खजाना

(४)

कविता है उद्दाम युवक के राजा मन की रानी
शिशु का कलरव, वयोवृद्ध की बीती हुई कहानी
कविता है मुसकान अधर पर, और नयन मे पानी
कवि चिर-यौवन-प्राप्त तरुण , कविता भरी जवानी
नर है पुरुष, प्रकृति है नारी, कविता दोनो ओर
नर मे वह बल है, नारी मे कोमल भाव-हिलोर
कविता है छवि मुग्ध नयन का रुक जाना, झुक जाना

(५)

पौ फटते ही चमक उठे जब गाँव-खेत-खलिहान
कंधे पर हल डाल कुटी से चला गरीब किसान
उसके स्वेद-रुधिर ने सीची जल बन क्यारी-क्यारी
जैसे उसकी मुट्ठी से ही निकली फसले सारी
उसकी आँखो को चमकाती खेतो की हरियाली
फूट रही गालो पर आशा-अभिलाषा की लाली

फसलो के कट जाने पर—

कविता है आँखो के आगे बिखरा दाना-दाना
मचल-उछल भर रात अटपटा ग्रामीणो का गाना
तिनको के घर मे दीपक का जलना, जलते जाना
कविता है रोमाच-लहर से एक बार छू जाना

है दर्द दिया में बाती का जलना

तुम रुक कर राय न दे डालो साथी,
कुछ दूर अभी आगे तुमको चलना

(१)

तुम आज उमर के फूल चढाते हो
तुम समझे हो, जिन्दगी बढाते हो
तुम पर जो ये धूले चढती जाती
तुम समझे हो, लहरे बढती आती
तुम समझे हो, मिल गई तुम्हे मजिल
वह तो हर रोज यहाँ दिन का ढलना

(२)

तुम क्षुब्ध रहे अंधड़-तूफानो से
तुम मुग्ध रहे बुलबुल के गानों से
तुम क्या जानो, यह दुनिया सोती है
उसकी समाधि पर बुलबुल रोती है
तुमने कुछ छल देखे न छली देखा,
तुम देख रहे केवल कलना-छलना

(३)

मिलने वाला ही मिला नही जग में
तुम खोज चले झिलमिल में, जगमग में
वह चन्द्र-किरण घन-जालों मे उलझी
इनकी उनकी किनकी किस्मत सुलझी
है क्या जिसको तुम उमर बताते हो
कुछ गई घडी, कुछ घड़ियो का टलना

———

आरसीप्रसाद सिंह

आरसीप्रसाद सिंह

प्रेम

"पथिक! प्रेम का सौदा क्या इतना सस्ता है?
क्या स्मर-सा प्रत्येक हृदय में यह बसता है?
शैल-शैल मे क्या मणि है? मुक्ता गज-गज मे?
मृग-मृग मे कस्तूरी? हीरक क्या रज-रज मे?

प्रेम उपजता क्या खेतो मे? क्या बिकता है
प्रेम हाट मे? अरे! नहीं यह लौकिकता है।
प्रेम एक स्वर्गीय सुमन है; जो खिलता है
नन्दन वन मे! प्रेम नही जग मे मिलता है

उस जग में, जो काम-क्रोध का क्रीड़ा-स्थल है।
सरिता-जल-सा प्रेम नही होता चंचल है।
दिव्य भाव है, प्रेम हिमाचल-सा निश्चल है।
तुलसी-दल-सा यह पवित्र है, गंगा-जल है।

जहाँ स्वार्थ है, वहाँ प्रेम क्या मिल सकता है?
जहाँ काम है, वहाँ प्रेम क्या खिल सकता है?
स्वर्ग-भूमि का पुष्प न खिलता मर्त्य भुवन मे।
प्रेमी का व्यवहार न चलता कामी जन मे।

विषय-वासना और प्रेम मे अन्तर इतना,
अमृत-सरोवर और चपल मरु-जल मे जितना।
एक विनश्वर और दूसरा है अविनाशी।
एक दु:ख का मूल, अपर आनन्द-विलासी।

भ्रमवश नर ने नाम प्रेम का काम दिया है।
देकर मणि-माणिक्य मोल ज्यो काँच लिया है।

प्रेम समझ कर वह फँसता है मोह-कलिल में।
और डूब मरता है पापी पाप-सलिल में।
वह क्या पाता प्रेम, मृत्यु से जो डरता है?
वह क्या पाता प्रेम, स्वार्थ से जो सड़ता है?
रक्त-मास-मल-मूत्र-पिड पर मरने वाला
प्रेमी है न, प्रेम को कलुषित करने वाला।

प्रेम-मार्ग है उन शूरो का, जो चढता है
शूली पर, जो दुर्गम पर्वत पर वढता है।
प्रेम-मार्ग है उसका, निज शिर काट लिया है
अपने हाथो से अपना वलिदान किया है।

प्रेम-मार्ग है उन वीरो का, जो न झुके है।
एक वार चल चरण कभी जिनके न रुके है।
भय न किसी का प्रेम-मार्ग के यात्री-दल को।
गोपद-सा लंघन कर जाता सागर-जल को।

उसके लिये सुमेरु एक रजकण वन जाता।
जो प्रेमी है, नही काल से भी घवडाता।
वह सीमा को लाँघ चला निस्सीम गगन मे।
और गगन भी मिट जाता जिस प्रेम-भवन में,

वह निवास है प्रेमी जन का, परमधाम है।
प्रेमी का क्रीडा-निकुज, जो चिर विराम है।
जब तक सूर्योदय न, तभी तक तिमिर घना है।
जब तक प्रेम न प्रकट, तभी तक काम वना है।

ज्यो ही हृदय-क्षितिज पर चमका प्रेम-दिवाकर,
त्यो ही आगे विषय-वासना-काम-निशाचर।
प्रेम-पुष्प पर काम-भ्रमर यदि ललचाता है,
छूने पाता भी न, झुलस कर मर जाता है।

यह वह अग्निशिखा है, जिस पर स्वार्थ शलभगण।
जल-जल जाते स्वयं हाय, कर आत्मविसर्जन।
नही प्रेम की महिमा कहते कुछ बनता है।
मौन शारदा; जहाँ शेष भी सिर धुनता है।

प्रेम और भगवान एक है, तनिक न अन्तर।
और प्रेम के द्वारा ही मिलता परमेश्वर।
प्रेम नही है पिता, पुत्र, भ्राता, दारा में?
प्रेम नही मिलता है जग की इस कारा में।

प्रेम न पाया जाता है कुटुम्ब-पालन में।
प्रेम नही मिलता है शिश्नोदर-पोषण में।
प्रेम नही जप-तप-विराग मे, प्रेम न वन मे।
योग-साधना मे न प्रेम है, नही भजन मे।

क्षुद्र कीट से लेकर ब्रह्मा तक जो जंगम,
रजकण से लेकर सुमेरु-तक जो जड़ सगम,
सब मे जब समभाव, एक समता आती है,
आत्मा ही आत्मा जब सब में दिखलाती है,

तब वह प्रेम उमडता है, जो है जग-जीवन।
यही ज्ञान है और यही है ईश्वर-दर्शन।"



श्यामनन्दन प्रसाद 'किशोर'

श्यामनन्दन प्रसाद 'किशोर'

जवानी और जमाना

जवानी—जिनके-जिनके पास, जमाना उनसे-उनसे दूर !
जवानी-मस्ती, हँसती जलन !
जवानी—दो प्राणो का मिलन !
जवानी—हास, जवानी—रुदन !
जवानी—तन-मन का संतुलन !

जमाना—विधुर हृदय सुन-सान, जवानी का अक्षय सिन्दूर !
जवानी—पढती नही कुरान !
जवानी—पढती कभी न वेद !
जवानी—मलयानिल की लहर,
मिटाती शूल-फूल का भेद !

जमाना—रहा बाँटता ज्ञान, जवानी देती रही सुरूर !
जवानी—जलता हुआ चिराग !
जवानी—उडता हुआ पराग !
महल-कुटिया पर एक समान
जवानी—पूनम की मुस्कान !

जमाना सदा जुटाता रहा, जवानी लुटने को मजबूर !
जवानी—लहरो की झकझोर !
जवानी—चढी उमर का भोर !

वदलती रहती धार-कछार
जवानी--है गगा की वाढ ।

जमाना शिथिल नसो का खून, जवानी--ताकत है भरपूर !
जवानी--जीवन का जलजात !
जवानी--दो नयनो की वात !
जवानी--है पीडा का मीत !
दिवानी मीरा का सगीत !
जवानी--तन से मन से मोम, जमाना सदा-सदा से क्रूर !

× × ×

जवानी--जिनके-जिनके पास, जमाना--उनका-उनका दास ।
जवानी--लिए कफन का हार !
जवानी--तलवारो की धार !
जवानी--तीरो की वौछार !
जवानी--पत्थर का अगार !

जमाना के पन्नो पर रोज जवानी लिखती है इतिहास !
जवानी--वरसाती तूफान !
जवानी--महाप्रलय का गान !
जवानी--अपनी देकर खाद,
जमाना करती है आवाद !

जमाना लहराता है सदा, जवानी का लेकर मधुमास !
जवानी--नयी उमग, उवाल !
जवानी--खूँ की चुनरी लाल !
जवानी--जीवन की दुपहरी !
जवानी--मंझधारो की तरी !

जमाना का डगमग-सा पाँव, जवानी भरती है विश्वास !
जवानी—मिट्टी का ईमान !
जवानी—महाप्रलय का गान।
जवानी—सहज, कठिन बलिदान !
जवानी—शंकर का विषपान !

जमाना को तिल-तिल जल मौन जवानी देती रही प्रकाश !
जवानी—करती शाति-प्रदान !
जवानी—करती क्राति-विधान !
देखकर युग का तिमिर-वितान,
जवानी—लाती नया विहान !

जमाना करने को निर्माण, जवानी करती रही विनाश !
जवानी—जिनके-जिनके पास, जमाना उनसे-उनसे दूर,
जमाना—उनका-उनका दास !

राही और मंजिल

उषा मे ही क्यों तुम निरुपाय,
हार कर थक बैठे चुप हाय ?
मुसाफिर, चलना ही है तुम्हे, अभी तो रात बाकी है !

देख कर तुम काँटों के ताज,
फूल से हो नाहक नाराज !
जानते तुम इतना भी नही—
प्यार को है पीडा पर नाज !
उँगलियों की थोडी-सी चुभन, बना देती तुमको बेजार,
अश्रु मधुऋतु मे ही झड रहे, अभी बरसाते बाकी है !

बताता है नयनो का नीर,
चुभे है कहीं हृदय मे तीर!
मगर क्यो इतने मे कह रहे—
कि दुनिया सपनों की तस्वीर?
जरा-सी कम्पन पाते ही, किया तारो ने हाहाकार;
अभी तो मन की वीणा पर निष्ठुर आघाते बाकी है!
अगर, जाना है तुमको पार,
बहुत है तिनके का आधार;
और मत सोचो मेरे मीत,
कहेगा क्या तट से ससार!
जरा-सी चली मलय की झोक, तुम्हारी डग-मग डोली नाव;
अभी तो कहता है आकाश कि झझावाते बाकी है!
अभी तो राते बाकी है!
